ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

(संसद द्वारा पारित अधिनियम 1997, क्रमांक 3 के अंतर्गत स्थापित केंद्रीय विश्वविद्यालय)

Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya

(A Center University Established by Parliament by Act No. 3 of 1997)

एम.ए. राजनीति विज्ञान

पाठ्यक्रम कोड : एम.ए.पी.एस. – 016

प्रथम सेमेस्टर

पाठ्यचर्या कोड : - 02

पाठ्यचर्या का शीर्षक : पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन (भाग-1)

दूर शिक्षा निदेशालय

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा - 442001 (महाराष्ट्र)

दूर शिक्षा निदेशालय महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

एम.ए.राजनीति विज्ञान प्रथम सेमेस्टर-पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन (भाग-1)

मार्गदर्शन समिति

प्रो. गिरीश्वर मिश्र
कुलपति
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

प्रो. आनंद वर्धन शर्मा
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

प्रो. कृष्ण कुमार सिंह
प्रभारी निदेशक (दूर शिक्षा निदेशालय)
म.गां.अं.हिं.वि.,वर्धा

पाठ्यचर्या निर्माण समिति

प्रो. अरविंद कुमार झा
पूर्व निदेशक,
दूर शिक्षा निदेशालय
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

प्रो. पवन कुमार शर्मा
विभागाध्यक्ष एवं संकायाध्यक्ष
राजनीति विज्ञान विभाग, सामाजिक विज्ञान संकाय
अटल बिहारी बाजपेयी हिंदी विश्वविद्यालय, भोपाल

प्रो. जे.वी. गवई
विभागाध्यक्ष, राजनीति विज्ञान विभाग
राष्ट्रसंत तुकडोजी महाराज नागपुर विश्वविद्यालय
नागपुर, महाराष्ट्र

डॉ. सुशील कुमार त्रिपाठी
पाठ्यक्रम संयोजक : एम.ए.राजनीति विज्ञान पाठ्यक्रम
दूर शिक्षा निदेशालय, म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

संपादक मंडल

प्रो. आर. आर. झा
पूर्व विभागाध्यक्ष एवं संकायाध्यक्ष
राजनीति विज्ञान विभाग, सामाजिक विज्ञान संकाय
बी.एच.यू. वाराणसी

प्रो. नृपेन्द्र प्रसाद मोदी
विभागाध्यक्ष एवं संकायाध्यक्ष
गांधी एवं शांति अध्ययन, संस्कृति विद्यापीठ,
म.गां.अं.हिं.वि.वर्धा

डॉ. सुशील कुमार त्रिपाठी
पाठ्यक्रम संयोजक : एम.ए.राजनीति विज्ञान पाठ्यक्रम
दूर शिक्षा निदेशालय,
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

इकाई लेखन

खंड -1
इकाई 1 – डॉ. आनन्द कुमार पाण्डेय
इकाई 2 - डॉ. आनन्द कुमार पाण्डेय
इकाई 3 - डॉ. आनन्द कुमार पाण्डेय
इकाई 4 - डॉ. आनन्द कुमार पाण्डेय

खंड - 2
इकाई 1- डॉ. आनन्द कुमार पाण्डेय
इकाई 2- डॉ. आनन्द कुमार पाण्डेय
इकाई 3- डॉ. आनन्द कुमार पाण्डेय
इकाई 4- डॉ. आनन्द कुमार पाण्डेय

खंड - 3
इकाई 1 – डॉ. निशा जायसवाल
इकाई 2 - डॉ. निशा जायसवाल
इकाई 3 - डॉ. निशा जायसवाल
इकाई 4- डॉ. निशा जायसवाल

खंड - 4
इकाई 1- डॉ. भावना सिन्हा
इकाई 2 - डॉ. भावना सिन्हा
इकाई 3 - डॉ. भावना सिन्हा
इकाई 4 - डॉ. भावना सिन्हा

कार्यालयीन एवं संपादकीय सहयोग

श्री विनोद वैद्य
सहायक कुलसचिव
दू.शि. निदेशालय म.गां.अं.हिं.वि.वर्धा

श्री अरविन्द कुमार
टेक्निकल असिस्टेंट
दू.शि. निदेशालय म.गां.अं.हिं.वि.वर्धा

सुश्री राधा ठाकरे
टंकक/फार्मेटिंग/एडिटिंग
दू.शि.निदेशालय, म.गां.अं.हिं.वि.वर्धा

श्री सचिन सोनी
सॉफ्टवेयर स्पेशलिस्ट
दू.शि.निदेशालय, म.गां.अं.हिं.वि.वर्धा

श्री गुड्डू यादव
कंप्यूटर ऑपरेटर
दू.शि.निदेशालय, म.गां.अं.हिं.वि.वर्धा

ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

(संसद द्वारा पारित अधिनियम 1997, क्रमांक 3 के अंतर्गत स्थापित केंद्रीय विश्वविद्यालय)

Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya

(A Central University Established by Parliament by Act No. 3 of 1997)

पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन

क्रेडिट्स : 04 क्रेडिट

मूल्यांकन के मानदंड :

1. सत्रांत परीक्षा : 70 %
2. सतत आंतरिक मूल्यांकन : 30 %

खण्ड 1 यूनानी राजनीतिक चिन्तन

इकाई-1. राजनीतिक चिन्तन की यूनानी दृष्टि:सामान्य एवं सैद्धान्तिक संकल्पनाएँ,

- सोफिस्ट एवं सुकरात के राजनीतिक विचार

इकाई-2. प्लेटो के राजनीतिक विचार

इकाई-3. अरस्तू के राजनीतिक विचार

इकाई-4. अरस्तू के बाद का यूनानी राजनीतिक परिदृश्य

खण्ड 2 मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन

इकाई-1. मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन: एक सिंहावलोकन, विशेषताएं एवं प्रकृति

इकाई-2. टामस एक्वीनास के राजनीतिक विचार

इकाई-3. मार्सिलियो आफ पेडुआ के राजनीतिक विचार

इकाई-4. परिषदीय आन्दोलन एवं चर्च-राज्य संघर्ष

खण्ड 3 आधुनिक राजनीतिक चिन्तन का प्रारम्भ

इकाई-1. पुनर्जागरण एवं धर्म सुधार आन्दोलन

इकाई-2. मैकियावेली के राजनीतिक विचार

इकाई-3. जीन बोदां के राजनीतिक विचार

इकाई-4. जॉन आस्टिन के राजनीतिक विचार

खण्ड 4 सामाजिक संविदावादी राजनीतिक चिन्तन

इकाई-1. सामाजिक समझौता का सिद्धान्त : पृष्ठभूमि एवं विकास

इकाई-2. टामस हॉब्स का राजनीतिक चिन्तन

इकाई-3. जॉन लॉक का राजनीतिक चिन्तन

इकाई-4. जीन जैक्स रूसो का राजनीतिक चिन्तन

अनुक्रम

क्र.सं.	इकाई के नाम	पृष्ठ क्रमांक
1.	**खंड-1 खण्ड 1 यूनानी राजनीतिक चिन्तन**	
	इकाई-1. राजनीतिक चिन्तन की यूनानी दृष्टि:सामान्य एवं सैद्धान्तिक संकल्पनाएँ	3-20
	इकाई-2. प्लेटो के राजनीतिक विचार	21-43
	इकाई-3. अरस्तू के राजनीतिक विचार	44-62
	इकाई-4. अरस्तू के बाद का यूनानी राजनीतिक परिदृश्य	63-74
2.	**खण्ड-2 मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन**	
	इकाई-1. मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन: एक सिंहावलोकन, विशेषताएं एवं प्रकृति	75-91
	इकाई-2. टामस एक्वीनास के राजनीतिक विचार	92-103
	इकाई-3. मार्सिलियो आफ पेडुआ के राजनीतिक विचार	104-112
	इकाई-4. परिषदीय आन्दोलन एवं चर्च-राज्य संघर्ष	113-130
3.	**खण्ड-3 आधुनिक राजनीतिक चिन्तन का प्रारम्भ**	
	इकाई-1. पुनर्जागरण एवं धर्म सुधार आन्दोलन	131-143
	इकाई-2. मैकियावेली के राजनीतिक विचार	144-157
	इकाई-3. जीन बोदां के राजनीतिक विचार	158-169
	इकाई-4. जॉन आस्टिन के राजनीतिक विचार	170-177
4.	**खण्ड-4 सामाजिक संविदावादी राजनीतिक चिन्तन**	
	इकाई-1. सामाजिक समझौता का सिद्धान्त : पृष्ठभूमि एवं विकास	178-196
	इकाई-2. टामस हॉब्स का राजनीतिक चिन्तन	197-214
	इकाई-3. जॉन लॉक का राजनीतिक चिन्तन	215-231
	इकाई-4. जीन जैक्स रूसो का राजनीतिक चिन्तन	232-250

इकाई-1 : राजनीतिक चिन्तन की यूनानी दृष्टि: सामान्य एवं सैद्धान्तिक संकल्पनाएँ, सोफिस्ट एवं सुकरात के राजनीतिक विचार

पाठ-संरचना प्रारूप

इकाई की रूपरेखा

1.1.1 उद्देश्य कथन
1.1.2 प्रस्तावना
1.1.3 पृष्ठभूमि
1.1.4 प्रमुख विशेषताएँ
1.1.5 अन्तर्विरोध और उपलब्धि
1.1.6 सामान्य एवं सैद्धान्तिक संकल्पनाएँ
1.1.6.1 नगर राज्य आधारित चिन्तन और जीवन
1.1.6.2 बुद्धिवाद
1.1.6.3 धर्मनिरपेक्षवाद
1.1.6.4 नैतिकता सम्बन्धी चिन्तन
1.1.6.5 व्यक्ति राज्य समन्वय
1.1.6.6 दास व्यवस्था की उपस्थिति
1.1.7 सोफिस्ट विचार व विचारक
1.1.8 सोफिस्टों की सामान्य विशेषताएँ
1.1.8.1 मानवतावादी
1.1.8.2 संशयवादी पद्धति
1.1.8.3 व्यावहारिकता
1.1.8.4 राज्य सम्बन्धी विचार
1.1.8.5 विधि और न्याय की नवीन व्याख्या
1.1.9 सोफिस्टों का योगदान
1.1.10 सुकरात: जीवन परिचय
1.1.11 सुकरात के प्रमुख विचार
1.1.11.1 ज्ञान के सम्बन्ध में
1.1.11.2 गुण (श्रेय) के सम्बन्ध में
1.1.11.3 बुद्धिवाद
1.1.11.4 राजैनतिक विचार
1.1.11.5 मानव, अन्तःकरण और मानववाद
1.1.11.6 कानून सम्बन्धी विचार
1.1.12 सार/सारांश
1.1.13 अभ्यास/बोध प्रश्न
1.1.13.1 बहुविकल्पीय

1.1.13.2 लघुउत्तरीय प्रश्न
1.1.13.3 दीर्घउत्तरीय प्रश्न
1.1.14 कठिन शब्दावली
द्वन्द्वात्मक पद्धति, बुद्धिवाद
1.1.15 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.1.1 उद्देश्य कथन :-

- यह इकाई प्राचीन यूनानी चिन्तन की विशेषताओं को स्पष्ट करने के साथ उसका सामान्य ऐतिहासिक कारकों के साथ सम्बन्ध को रेखाँकित कर सकेगी।
- प्राचीन यूनानी चिन्तन की सामान्य राजनीतिक प्रवृति, तत्कालीन समय में उसकी सभी महत्व व्याख्याओं इन व्याख्याओं के जनक सम्प्रदायों की विकास प्रक्रिया और उनके आपसी सम्बन्धों को रेखाँकित कर सकेगें।
- सोफिस्टो के उद्गम, विकास और अवनति को समझकर तत्कालीन समाज में उन की भूमिका को रेखाँकित कर सकेंगे।
- सुकरात के राजनीतिक विचारों को जॉन सकेंगे और सोफिस्टों के साथ-साथ बाद के यूनानी विचार कों के साथ उन के सम्बन्धों को स्पष्ट कर सकेगें।

1.1.2 प्रस्तावना–

इसका इकाई में मुख्य रूप से प्राचीन यूनानी राजनीतिक चिन्तन के उदगम और उससे सम्बन्धित परिस्थिति में जो सामान्य और सैद्धान्तिक संकल्पनाएँ पैदा हुई तथा विकसित हुई, उसके विषय में समझकर विचार कर सकेगें। प्राचीन यूनानी चिन्तन के प्रमुख सोफिस्ट व्यक्तित्व और महान विचारक सुकरात से भी परिचय प्राप्त कर सकेगें।

अपनी समकालीन सभ्यताओं की तुलना में यूनानी सभ्यता राजनीतिक विचार और संकल्पनाओं के अधिक स्पष्ट और विशेषकृत रूप सेविक सित कर पाई। यह शेष विश्व के लोगों को एक देन के रूप में प्राप्त हुआ। यूनानी लोगों नें मनुष्य की सार्वजनिक सत्ता के साथ सम्बन्धों, व्यक्ति और व्यक्ति के आपसी सम्बन्धो और सार्वजनिक सत्ता के उसके साथ सम्बन्धों को समझने का प्रयास किया व उसके विषय में विभिन्न संकल्पनाएँ दी। उस समय की परिस्थिति और सभ्यता का स्तर देखते हुए यह अदभूत बात कही जाती है। प्राचीन यूनानी का राजनीतिक चिन्तन मौलिक है। इसके पीछे राजनीतिक के प्रति यूनानी लोगों के बीच एक आकर्षण है। सामाजिक और जीवन समस्याओं के प्रति अधिक आकर्षण सराहनीय प्रवृत्ति मानी जाती है। इस प्रकार की संस्कृति पैदा होने और उसके बने रहने के पीछे कई कारण खोजें गये है। हर संस्कृति और सामाजिक इकाई में सार्वभौमिक मूल्य के साथ स्वंय की मौलिक विशेषताए होती है। यह मौलिक विशेषताए ही उन्हें अन्य सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों और परिवेश से अलग करती है। प्राचीन यूनानी की विशेषता इसी प्रकार कुछ भिन्न किस्म की थी। जिसने यूनानी संस्कृत और समाज को एकन या रूप दिया इन के बीच उनकी राजनीति और

राजनीतिक संस्थाए इसलिये अलग हो गई। इसलिय प्राचीन यूनानी चिन्तन की विशेषताओं को उसके सामाजिक आधार में खोजना वैज्ञानिक अंग है।

1.1.4 प्रमुख विशेषताए -

प्राचीन यूनानी हमारे समाज के सबसे मौलिक विशेषताओं में व्यक्ति को महत्व प्रदान करने की थी। समाष्टि का सदस्य होने के साथ-साथ उसे स्वंय व्यक्तिगत रूप से अपने विचारों को सामने रखने और काफी सीमातक उसके अनुरूप कार्य करने की आजादी थी इसका परिणाम यह हुआ की समाज में व्यक्तियों को अपनी विशेषताए अलग-अलग सामने आई। लोगों के प्रतिभाओं को सम्मान मिला इसके कारण लोग सृजत के लिए प्रोत्साहित हुए। वैचारिक और क्रिया-कलाप के स्तर पर एक स्वतंत्र वातावरण इसके लिए मूलभूत चीज थी। इस प्रकार एक स्वतंत्र समाज की भाँति लोगों में विचार विमर्श करने राय रखने और उसके अनुरूप कार्य करने की परिस्थिति उपलब्ध हुई। हजारों साल पहले की परिस्थिति का अनुमान करते हुए यह वास्तव में बड़ी बात थी। साथ ही यह तुलनात्मक रूप से चीनी और पर्सियन सभ्यता से अलग भी है। पूर्व की सभ्यता में व्यक्तियों के समुदाय के साथ इतना संगठित कर दिया जाता था। इन सभ्यताओं में हमे शाव्यक्ति को समुदाय के संदर्भ में ही देख जाता रहा इसलिये व्यक्तिगत स्तर पर स्वतंत्र चिन्तन अभाव प्रदान मिलता है। यूनानी सभ्यता की दूसरी विशेष बात उसका छोटे-छोटे नगर राज्यों में बटा होना था हालाकि ये नगर राज्य ऐसे थे जिसमें शहरी और ग्रामीण दोंनो इलाके शामिल रहते थे। संख्या की दृष्टि से ढेरों नगर राज्य थे। जिसका अपना अपना स्वतंत्र जीवन था। काफी सीमा तक नगर राज्यों के बीच प्रतिस्पर्धा भी थी। निजी तौर पर ये नगर राज्य अपना भीतर रहने वाले प्रति द्वन्दी राजनीति विचारधारा और गुटों के कारण बदलते रहते थे। इस प्रकार नगर राज्य में कभी राजतंत्रीय, कुलतंत्रीय कभी लोकतंत्रीय शासन आया जिससे यूनानी समय में विभिन्न शासन प्रणालियों और उनके विशेषताओं व अवगुणों के लिए विचार विमर्श करने का वातावरण भी पैदा हुआ।

यूनानी नगर राज्यों की एक अन्य विशेषता अपनी सामाजिक राजनैतिक व सास्ंकृतिक विशिष्टता के भावबोध से भरा होना था। इस विशिष्टा से नगर राज्यों में आपसी प्रतिस्पर्धा के साथ साथ कानून के क्षेत्र में कार्य करने के लिये प्रेरित किया मसलन नागरिकता को परिभाषित करने का प्रयास किया। अपनी आचर संहिता विकसित करने करने की कोशिश की। इन क्षेत्रों में काम करके वे अन्य नगर राज्यों से अपनी विशिष्टता दिखा सकते थे। विशिष्टता के प्रति आकर्षण ने सामूहिक जीवन और सार्वजनिक कर्तव्यों को प्रथमिकता दी। निजी जीवन में तमाम स्वतंत्रताओं को स्वीकार करने के बाद भी उसे सार्थकत भी माना जाते था। जब वह सार्वजनिक जीवन की आवश्यकता और उस के कर्तव्य के साथ ताल मेंल बैठाये। इससे सार्वजनिक जीवन को महत्व मिला साथ ही साथ एक अन्य बात पैदा हुई। इसके कारण यूनानी नगर साज्यों मे एक इकाई विशेषकर एक सामाजिक राजनैतिक इकाई बने रहने का भावबोध पैदा हुआ। यह यूनानी राज्यों में एकता का मूलस्वर था। अन्य सभी चीजे इसकी तार्किक परिणीति थी।

नगर राज्यों की संख्या बहुत थी और सभी नगर राज्य अपनी विशिष्टता के बोध से सचेत थे। अलग अलग नगर राज्यों में अलग अलग राजनैतिक व्यवस्था काम कर रही थी। एक साथ कई राजनैतिक व्यवस्थाओं ने सैद्धान्तिक व्यावहारिक दोंनों स्तर पर आदर्श राज्य के प्रति उसके अध्ययन के

प्रति आकर्षण उत्पन्न किया। जो यूनानी के सभी प्रमुख राजनैतिक चिन्तकों के विचारों में दिखाई देता है। इस आदर्श की प्राप्ति सभी नगर राज्यों का लक्ष्य माना गया। राजनीतिक चिन्तन इसी के इर्दगिर्द घूमता रहा जो प्रभावशाली रूप से हमें प्लेटो और अरस्तु के राजनीतिक चिन्तन में हमें दिखाई देता है। प्राचीन यूनानी नगर राज्यों में धर्म की उपस्थिति भी थी। लेकिन यह उस रूप में नही था, जिस रूप में हमें आज दिखाई देता है। धर्म व्यक्तिगत आस्था का विषय नहीं था जैसा कि आज माना जाता है। आज के समय में नागरिक और राज्य सभी धर्म को व्यक्तिगत आस्था का विषय माना जाता है और धर्म से दूर रहना एक लोकतंत्र व आधुनिक राज्य की विशेषता माना जाता है। प्राचीन यूनानी नगर राज्यों में इसमें विपरित सामूहिक धर्म के संगठित स्वरूप के बीच अन्तर नहीं था। नागरिक की सार्वजनिक भूमिका में उसके धार्मिक क्रियाकलाप व कर्तव्य शामिल थें धर्म के साथ राज्य का दूसरा सम्बन्ध यह था कि वह किसी भी प्रकार सर्वोपरि होने का दावा नहीं कर सकता था। वह सदैव राजा से सम्बन्धित और राजनीतिक कार्यों व भूमिका के अनुकूल व अनुरूप ही होता था। जिस प्रकार की परिस्थिति बाद में चलकर मध्यकाल में हुई। जिसमें धर्म ने राज्य को नियंत्रित करना प्रारम्भकर दिया अथवा आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्था में जहा राज्य से पृथक धर्म को निजी रूप में रहने की सैद्धान्तिक सीमातय कर दी गयी है। वैसा प्राचीन यूनानी के नगर राज्य के भार राजा के जन जीवन में नहीं था। उस नगर राज्य के जीवन में राज्य की धर्म के उपर प्रधानता थी। धार्मिक क्रियाकलाप में सार्वजनिक कर्तव्य के रूप में आते है। अलग अलग राज्यों के अपने राजकीय धर्म और देवता थे। जिसका पालन करना और पूजा करना नागरिकों के लिये आवश्यक होता था। इन मान्य धर्मो और देवताओं के ललावा नागरिक अपने निजी मानय देवताक की पूजा कर सकते थे। लेकिन नगर राज्य द्वारा मान्य देवताओं की पूजा करना अनिवार्य था।

इस प्रकार प्राचीन यूनानी नगर राज्यों में राज्य के इर्दगिर्द व्यक्ति की राजनीतिक भूमिकाए भी लिखी गई, रची गई। यह मौलिकता राज्य के विचार, सार्वजनिक जीवन के भूमिका को अन्य सभी भूमिकाओं से श्रेष्ठ मानने व्यक्तिगत स्वतंत्रता के लिए समाज के प्रति उपेक्षा भाव रखने में प्रकट होती है। उसके जीवन में धर्म भी सार्वजनिक भूमिका के साथ तालमेल रखता था इसलिए वे स्वंय अपने जीवन के बारे में अधिक विशेषणात्मक चिन्तन कर सकने में सम्भव हुए। वे नगर राज्य के महत्ता के बारे में सचेत थे। उसका आदर्शात्मक कार्य उसी के मुख्यत: परिप्रेक्ष्य में विकसित हुआ।

1.1.5 अन्तर्विरोध और उपलब्धि -

ऐसा नही है कि नगर राज्य में कोई कमी नहीं थी अथवा समाज में सभी यूनानी साम्यता रखते थे। इसलिए वे एक सहमति आधरित ज्ञान प्राप्त करना सम्भव बना सके। यूनानी जीवन में भी बहुत सारे अन्तर्विरोध जिसका प्रभाव यूनानी चिन्तन और व्यवाहारिक जीवन में दिखाई देता है। यूनानी समय भी अमीर गरीबों में बटा हुआ था। जैसे स्पार्ट और एथेंस मे अधिकांश लोग शहरो में रहने वाले अपने भूस्वामियो की भूमि पर खेती करते थे। इसके साथ ही दासो की बहुत बडी संख्या थी। एक अनुमान के हिसाब से एंथेस में प्रत्येक स्वतंत्र व्यक्ति पर दो दास थें। ये दास खेतो में काम करते थें। धनी एंथेसवादी भारी संख्या में दास रखते थे। दासो की स्थिति सामान्यत या अच्छी थी। उनके साथ मानवीय व्यवहार किया जाता था। यह दास उन स्वतंत्र एंथेसवासियो के लिऐ वह जरूरी थे। जिन्हे सार्वजनिक भूमिकाओ के निर्वाहन के लिऐ अवकाश की आवश्यकता होती थी। हालाकि बहुत से एंथेसवादियो ऐसे भी थे

जिनके पास कोई दास नही थे। लेकिन दास प्राचीन युनानी नगर राज्य के अनिवार्य अंग थे। इसका सैद्धान्तिक निरूपण भी। प्लेटो और अरस्तु के चिन्तन में दिखाई देता है। वह इन नगर राज्यो विशेषकर एथेंस के जीवन में दासो के आभाव की कल्पना नही की जा सकती। हॉलाकि एथेंस का राजनीतिक जीवन दासता पर निर्भर नही था। क्योकि दासो को राजनीतिक भूमिकाओ से बाहर रखा जाता था।

इस प्रकार प्राचीन यूनानी राजनीतिक चिन्तन की पृष्ठभूमि में सामाजिक रूप सेनगरो में बसे स्वंतत्र नागरिक जनो की केन्द्रिय भूमिका सामने आती है। इन्ही स्वतंत्र नागरिको द्धारा समय समय पर राजनीतिक भूमिका निभाने के लिए जो आवश्यकता तौर-तरीके अपनाये गये अथवा उस अपनी-अपनी राजनीतिक इकाई में जो राजनीतिक संस्कृति विकसित की गई वही यूनान की राजनितिक विरासत बन गई। अपनी सार्वजनिक भूमिका को प्रतिष्ठित और स्थायी करने के भाव से वहॉ विचारो के स्वतंत्र आदान-प्रदान अभिव्यक्ति और उसे एक प्रकार से पवित्र मूल्यमान कर मान्यता दिये जाने का भी प्रचलन स्थायी रहा। राजतंत्र अथवा कुलीन तंत्र या गुट तंत्र के विरूद्ध आक्रोश की दशा में नागरिक विकल्पहीन नही थें। उहोने अलोक प्रिय शासन प्रणालियो में परिवर्तन भी किया। यूनान के तत्कालीन राजनीतिक चिन्तकों ने लोगो की राजनीतिक सहभागिता के संवैधानिक और क्रांतिकारी मानसिकता को इन्ही परिवर्तनो के आधार पर जाना। आदर्श राज्य, व्यवहार राज्य की समस्याऐ, व्यक्ति और राज्य सम्बन्ध तथा व्यक्तियो द्वारा परिवर्तन इत्यादि कारणो पर विस्तार से विचार किया गया। यह सभी विचार तत्कालीन यूनान की सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के बीच से पैदा हुए थे। यूनान के नगर राज्य की एक विशिष्ट भौगोलिक स्थिति भी थी। इनसे ने उसकी ऐतिहासिक विशिष्टता के निर्माण में पूरा योगदान दिया।

1.1.6 सामान्य एवं सैद्धान्तिक संकल्पनाए

प्राचीन युनानी नगर-राज्यो में विशिष्ट परिस्थितियो और पृष्ठभूमि के कारण कुछ ऐसी विशेषताए पैदा हुईजो हमें विश्व की अन्य किसी भी सभ्यता में देखने को नही मिलती है। यूनानवासियो का प्रबल विश्वास था कि मनुष्य के भीतर की शक्ति द्धारा प्रकृति के रहस्यो को जाना जा सकता है। प्रकृति के रहस्यो, उसके मूल कारणो तथा आपसी सम्बन्ध को जॉनकर मानव जीवन को बेहतर बनाया जा सकता है। मानवीय बुद्धि विवेक का प्रयोग कर के मनुष्य अपने भविष्य को बना सकता है। परिवर्तित की सकता है। इस प्रकार की सोच के कारण बौद्धिक चिन्तन और उससे जुडे विचार विमर्श का व्यापक क्षेत्र खुल गया। यूनानी नागरिक हर सम्भव क्षेत्र की वैचारिक समझ विकसित करने में लगे रहे। ज्ञान-विज्ञान और दर्शन की प्रगति इसी कारण सम्भव हो सकी। इस प्रकार के समृद्ध बौद्धिक वातावरण के कारण प्राचीन यूनानी सभ्यता को अभूतपूर्व और अतुलनीय उपलब्धियॉ हासिल हुई। प्राचीन यूनानी इन्ही परिस्थितियो में प्राचीन यूनानी नगर राज्य के विषय में सामान्य एवं सैद्धान्ति संकल्पनाओ का विकास हुआ। जो हमें तत्कालीन समाज व राजनीति की समझने में योगदान देती है।

1.1.6.1 नगर-राज्य आधारित चिन्तन व जीवन

गैर राज्य यूनानी राजनीतिक चिन्तन की धुरी थी। भौगोलिक और सदस्यता के दृष्टि कोण से आज के राज्यो की तुलना मे नगर-राज्य बहुत ही छोटे थे। वहॉ सार्वजनिक रूप से सक्रिय नागरिक अन्य सभी नागरिको को व्यक्तिगत रूप से जॉनता था। इस प्रकार का स्वरूप प्रत्यक्ष लोकतंत्र के साथ-साथ स्वशासन के लिए उपयुक्त था। यूनानी लोग स्वशासन को मानना राजनीतिक आदर्श मानते थे। यह नगर

राज्य यूनानी मनुष्य की सभी प्रकार की आवश्यकताओ के लिए उपयुक्त संस्था मानी जाती था। यूनानी नागरिक और राजनीतिक विचार राज्य को केवल राजनीतिक रूप से संगठित संस्था के रूप में नही देखते थे बल्कि उनके अनुसार यह नैतिक संस्था भी है। यूनानियो का यह मानना था कि श्रेष्ठ आध्यात्मिक और भौतिक जीवन व्यक्तिगत प्रयासेा अथवा सार्वजनिक जीवन से अलग होकर नही बल्कि राज्य की सहायता और स्वंय को मिले सार्वजनिक कर्तव्यको निभाकर प्राप्त किया जा सकता है। यूनानियो के लिए राज्य और समाज में कोई भेद नही था। इसलिए सामाजिक जीवन में भी श्रेष्ठता और प्रतिष्ठा मिल सकती थी जब व्यक्ति नागरिक के रूप में अपने राजनीतिक कर्तव्यो और भूमिकाओ की पूर्ति भली भॉति करें प्राचीन यूनान में राज्य को व्यक्तियो से मिलकर बनी हुई एक सामूहिक संस्था ही माना जाता था। बल्कि व्यक्ति को राज्य का सावयवी अंग माना जाता था। इसके लिए जो उच्च कोटि की एकता आवश्यक होती है वह नगर राज्य में ही सम्भव हो सकती थी। इस प्रकार नगर राज्य की संकल्पना प्राचीन यूनानी चिन्तन की केन्द्रिय संकल्पना बन जाती है। इसी के चारेा ओर सारा यूनानी चिंतन विकसित होता है और तार्किक परिणति प्राप्त करता है।

1.1.6.2 बुद्धिवाद

बुद्धिवाद के प्रति आस्था भी प्राचीन यूनानी राजनीतिक चिन्तन की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि और संकल्पना थी। प्राचीन यूनानीयो का विश्वास था कि मनुष्यो के पास प्रकृति द्धारा दी गई अनुपम बौद्धिक शक्ति है। तार्किकता उसकी सहज उपज है। इसके माध्यम से वह प्रकृति और जीवन के रहस्यो को जाना जा सकता है। इसको जॉनना केवल ज्ञान तक सीमित नही था। बल्कि यह एक सकारात्मक हस्तक्षेप है। प्रकृति के रहस्यो का ज्ञान यूनानियो के लिए मानवीय जीवन को सुखी, सम्पन्न और उच्च मूल्यो के अनुरूप बनाने का साधन था। इस प्रकार उनके सामूहिक चेतना में बुद्धिवाद के प्रति बहुत सम्मान था। प्राचीन यूनानी नागरिक अपने जीवन का बडा हिस्सा घर से बाहर सार्वजनिक स्थानो पर वाद-विवाद और परिचर्चाओ मे बिताया करते थे। अर्नेस्ट बार्कर ने अपनी सिद्ध पुस्तक ग्रीक पॉलिटिकल थाट में लिखते है कि यूनानी मे रोज ही विचार गोष्ठियॉ और वार्ता-मण्डलियॉ रहती थी। सार्वजनिक वार्ता और खुले वाद-विवादों में समुदाय के कार्य व्यापार के संबंध में स्वाभाविक रूप से चर्चा हुआ करती थी। यह यूनानियों के बुद्धिवाद और तर्क के प्रति आकर्षण का एक प्रमाण है। इसी प्रकार की गतिविधि के माध्यम से वह सावर्जनिक मुददा पर एक दूसरे के विचारो से परिचित होते थे जो बाद में प्रत्यक्ष लोकतंत्र की व्यवस्था में सावर्जनिक दायित्व देने अथवा स्वयं ग्रहण करने में सहायक बनता था। व्यक्तिगत स्तर पर बुद्धिवाद यह विश्वास पैदा करता है कि सत्य का अनुसंधान किया जा सकता है। और जॉनना हस्तक्षेप करने का अनिवार्य अंग है। यह हस्तक्षेप धार्मिक ग्रन्थ के पूर्व निर्धारित नियमों अथवा नियतिवाद के अन्तर्गत करना एक कला है। यूनानियों ने इसी विशेषता के कारण समाज, राजनीति व वैचारिक पक्ष में नित नये विचार दिये और बाद की मनुष्य जाति उनके कई विचारों के लिये आज भी उनके प्रति ऋणी है।

1.1.6.3 धर्म निरपेक्षवाद:

प्राचीन यूनानी चिन्तन पूर्णतया धर्मनिरपेक्ष था। सर्वप्रथम यूनानी समाज में उस तरह का संगठित धर्म और उसकी व्यवस्था विद्यमान नहीं थी जिसका दर्शन आज हम विश्व के प्रत्येक समाज में करते है। उस समय राज्य और धर्म में कोई अन्तर नहीं था यूनान में रोम की तरह कोई अलग पुजारी वर्ग नहीं था। और न ही धर्मके प्रति लोगों में व्यक्तिगत रहस्यात्मक भावना थी। प्रत्येक नगर के अपने-अपने पंथ थे

और वे केवल औपचारिक कर्मकाण्ड तक सीमित थे किन्तु इस प्रकार के पंथ की राजनीतिक और सार्वजनिक भूमिका के साथ इतने बॅधे हुए थे कि वे व्यक्तियों को धर्म की रहस्यात्मक आकर्षक से बॉंध ही नहीं सके। पारलौकिक और ईश्वर-भक्त के बीच मध्यस्थ के रूप में पुरोहित वर्ग, दोनों का कोई आकर्षक नहीं था। व्यक्ति अपने समुदाय के सदस्य के रूप में धार्मिक कर्मकाण्ड पर उतना ही ध्यान देताथा जितनावह अपना सार्वजनिक क्रियाकलापों पर।

यूनानियों की धर्मनिरपेक्षता का सीधा सम्बन्ध बुद्धिवाद तथा तर्कवाद के प्रति उनके समर्पण से स्थापित होता है। व्यक्ति के भीतर सकारात्मक शक्ति और बुद्धिवाद के प्रति अगाध विश्वास ने यूनानियों केधार्मिक पक्ष को हमेशा सार्वजनिक जीवन के अधीन रखा। वह सार्वजनिक राजनीतिक भूमिका के साथ धुली मिली रही। इसी कारण वह अपना समकालीन अन्य सभ्यताओं से अलग विशेषता प्रदर्शित करती है। प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार की तुलना में धर्मोनमुखी अधिक था। प्राचीन भारत में धर्मशास्त्र के अनुसार ही राजनीति और नीतिशास्त्र की रचना की गई इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय समाज में धर्म निरपेक्ष विचार उस प्रकार आधार नहीं बना पाया जिस प्रकार प्राचीन यूनानी समाज में सम्भव हो पाया।

1.1.6.4 नैतिकता सम्बन्धी चिन्तन:

प्रचीन यूनानी चिन्तन और समाज की एक अन्य विशेषता उसका नैतिकता के विषय में गहन, गम्भीर और आग्रही चिन्तन है। सोफिस्ट के पहले और बाद के यूनानी मूल के राजनीतिक और अन्य विचारक राज्य को अक नैतिक संस्था मानते थे। राजनीतिक संस्थाओंको आप की भॉति स्वतंत्र और मूल्य मुक्त नहीं माना जाता था। उसको नैतिकता के साथ ही समझने और प्रासंगिकहोने का विचार प्राचीन यूनानी सभ्यता में मान्यता प्राप्त था। राज्य का प्रधान उद्देश्य व्यक्ति का नैतिक उत्थान करना होता है। यूनानी राजनीतिक विचारकों के प्रमुख ग्रन्थों में राजनीतिक समस्याओं के साथ-साथ उनके नैतिक पक्ष की पूर्ति और नैतिकता को बढ़ावा देने के लिए हर सम्भव परिस्थितियों पर विचार करते है। नैतिकता पर विचार के द्वारा समाज में मूल्य की स्थापना इन विचारकों का लक्ष्य था। यह राजनीतिक की बाध्यकारी भूमिका सम्भव बनाया जा सकता था। जीवन और मानव समुदाय के प्रति समग्रतावादी दृष्टिकोण रखनेका यह स्वभाविक परिणाम होता है कि मानव की हर गतिविधि को नैतिक मानदण्डों के अनु रूप अनुशासित किया जाये।

1.1.6.5 व्यक्ति राज्य समन्य:

राजनीतिक व्यवस्था के मूल समस्याओं में शामिल व्यक्ति राज्य अथवा व्यक्ति और समाज के बीच सुन्दर समन्वय प्राचीन यूनानी समाज व राजनीति की बड़ी विशेषता है। इसमें व्यक्ति की स्वतंत्रता का सम्मान किया गया। साथ ही साथ अधिकरों और स्वच्छन्दता को समुदाय के हित में प्रतिबंधित किया गया। यूनान में स्वतंत्रता के उपर राज्य की बाध्यकारी संस्थाओं का प्रयोग करने की जगह स्वनियन्त्रित स्वभाव की प्रवृत्तिको बढ़ावा किया। यूनान राज्यों में सभा और परिषद में सदस्यता के माध्यम से नागरिकों के प्रतिनिधित्व को संस्थागत रूप दियागया। लोकतंत्र के अनतर्गत प्रत्येक नागरिक का समान महत्व उसे एक समान स्वतंत्रता और अधिकार मिले हुए थे। वे निरंकुशप्राच्य राज्यों की तरह नहीं थे। यूनान के राज्य सामान्य तथा किसी एक व्यक्ति के भीतर केन्द्रीकृत सत्ता द्वारा संचालित नहीं थे। यूनानी राज्यों में व्यक्ति का सामूहिक जीवन उच्च स्तर का था किन्तु उन परिस्थितियों में भी व्यक्ति को समाज से

अलग करकेही देखा जाता था।राज्य और व्यक्ति के बीच सम्बन्धों का सूत्र शासन की इच्छा नहीं बल्कि विधियों का शासन था। जिसका निर्माण स्वयं व्यक्तियों द्वारा ही प्रत्यक्ष रूप किया जाता था। इस प्रकार व्यक्ति और राज्य के बीच एक सुंदर समन्वय दिखाई देता है। लोग राज्य के साथ साझेदारी की भावना के साथ बँधे हुए थे।

1.1.6.6 दास व्यवस्था की उपस्थिति:

प्राचीन यूनानी नगर राज्यों में दास नामक संस्था की विधिवत उपस्थिति थी। यूनानी विचारकों का विश्वास था कि आदर्श राज्य की उपस्थिति के लिए आवश्यक है कि नागरिकों को अवकाश मिले और यह तभी सम्भव हो सकता था जब निजी कार्य को करने के लिए दास उपलब्ध हो या दासता की संस्था का समर्थन किया जाये। एथेंस में नागरिकों से दुगुने दासों की उपस्थिति थी। यहॉ यह मानना गलत होगा कि यूनानी नगर राज्यों में व्यक्ति अपना काम काज हेय या हीन मानता था। वास्तव में लोग अपने कार्य और शिक्षा से जुड़ना गौरव का विषय मानते थे किन्तु सार्वजनिक भूमिकाओं के लिए नागरिकों के पास अवकाश होना आवश्यक था। विचारकों ने विशेषक अरस्तू ने पॉलिटिक्स नामक अपनी पुस्तक में दासता के सम्बन्ध में व्यापक विवेचना की है। यूनानी राज्यों में अनेक प्रकार के दास थे । सामान्यता या दासों को शिक्षित रखना और उसके साथ मानवीय व्यवहार करना प्रशंसनीय व्यवहार माना जाता था। किन्तु इसमें जाता था, किन्तु इसमें जातीय श्रेष्ठता का बोध भी शमिल था। यूनान से बाहर के लोगों को ही दास के रूप में स्वीकार करनेकी इच्छा विद्यमान थी। खानें में काम करने वाले अकुशल औपनिवेशिक दासों का जीवन कठिन था। कुशल दासों जो कारीगरी और गृहस्थ् के कार्यो से सम्बनिधत थे, उनका जीवन सामान्यत या अच्छा था। दासता एथेंस जैसे नगर राज्यों के सामाजिक जीवन में पूरी तरह घुली-मिली थी। इसके अभाव में हम प्राचीन यूनानी नगर राज्यों की विशेषताओं का निरूपण नहीं कर सकते। सामाजिक स्तर पर दासता को लेकर पूरी संरचनात्मक व्यवस्था थी। उनसे कार्य लेने भविष्य में मुक्ति की शर्त और सर्वाधिक दासता जैसी व्यवस्था थी। नगर राज्यों का शिक्षा और कुशलता आधारित उद्देश्यों उद्योग भी श्रमसाध्य उद्योगों और कार्यों की भॉति दासों पर मुख्यत: आश्रितरहता था। प्लेटों ने शान्त स्वर में जबकि अरस्तू ने खुलेरूप में दासता की प्रथा का समर्थन किया है।

1.1.7 सोफिस्ट विचार: व विचारक

फारस के साथ युद्ध ने यूनानी नगर-राज्यों के समाज पर भारी प्रभाव डाला। उस समय अपोलो तटस्थ रहा था जिससे यूनानी लोगों को अन्दर तक आघात पहँचा था। इसके परिणाम स्वरूप पॉचवी शताब्दी ई पू के अनितम दशकों में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। यूनानी वासियों ने मनुष्य की बुद्धि विवेक और बल को वास्तविकता में समझा। इसका व्यापक प्रभाव हुआ। यूनान के नगर राज्यों में आस पास के शहरोंसे प्रतिभाशाली पर यूनानी विचारक ओर विद्वान आकर्षितहोनेलगे। एथेंस में सभा और परिषद के रूप में खुला वाद-विवाद तथा परिचर्चा करने का मंच मिला। बुद्धि तर्क और विवेक का सम्मान बढ़ा। ऐसे लोगों की ऐतिहासिक मांग होने लगी जो इस यूग विचार को मूर्त रूप दे सके। सोफिस्टों ने यही कार्य सम्पन्न किया। सोफिस्ट किसीएक सम्प्रदाय से संबन्धित नहीं थे और न ही किसीएक तरीके के विचारों का समर्थन किया। वे किसी एक दूसरे से स्वतंत्र अस्तित्व रखते थे। सोफिस्टों के सोचने का तौर तरीका परम्परागत यूनानी विचारकों से अलग था। वे इनसे मूलभूत अनतर रखते थे। सोफिस्ट के यूनान में

लोकप्रिय होने के सामाजिक व आर्थिक कारण था। उस दौर में यूनानी समाज में एक अन्तर्विरोध पैदा हुआ राजनीतिक सत्ता और उससे जुड़ी भूमिकाओं को लेकर परम्परागत अधिकार सम्पन्न वर्ग का नव उदित आर्थिक शक्ति सम्पन्न वर्ग से विरोध पैदा हुआ। प्रत्यक्ष लोकतंत्र की व्यवस्था में दोनों वर्गो के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह अधिक से अधिक नागरिकों को अपने विचारों से प्रभावित करें। यह वाक् कला में पारंगत होने के बाद ही सम्भव हो सकता है। इसकी कड़ी सोफिस्टों के साथ जुड़ती है। सोफिस्टों ने इस कला के शिक्षण-प्रतिक्षण को एक व्यवसाय के रूप में अपनाया।

यूनान में परंपरागत रूप से परम्परा का आदर करने वाली संस्कृति थी। लोक में प्रचलित परम्पराओं को व्यक्ति सामान्य रूप से स्वीकार करते थे उनका विश्वास था कि परम्पराएँ हमेशा से अस्तित्व में रही है और उनमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। यह यूनानी सभयता के आरम्भिक चरण के लक्षण थे। फारस के युद्ध के बाद यह सोय बदल गई थी। सोफिस्टों ने इस दौर में सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन को एक स्वर दिया। जो बहुत महत्वपूर्ण और परिवर्तनकारी सिद्ध हुआ। सोफिस्टों ने यूनानी की परम्परावादी चिन्तन धरा पर सैद्धांतिक और व्यावहारिक रूप से प्रहार किया। सोफिस्टों ने अपनेविचार का विषयजीवनके प्रतयेक चित्र को निभाया। इस प्रकार उन्होने जीवन के बारे में विस्तृत रूप से विचार व्यक्त किया। तार्किकता उनकी बड़ी विशेषता हुआ करती थी। जो परम्परा से टकराती है। इसलिए उनका संघर्ष परम्परागत यूनानी विचार और विचारकों से नाता है। किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि तार्किकता सदैव न्याय संगत नहीं होती। सोफिस्ट की यूनानी समाज में लोकप्रियता का बड़ा कारण उनका जीवन के प्रति व्यावहारिक उद्देश्य पूर्णलक्ष्य रखना है। यह व्यावहारिक जीवन में सफलता प्राप्त करने में अधिक सहायक हुआ। सोफिस्टों का जोर सहज बुद्धि के प्रयोग ओर जीवन को भौतिक रूप से सुखी बनाने पर था। इससे उनके लोकप्रियता तत्कालीन यूनानी समाज में तेजीसेबढ़ी क्योंकि इससे जीवन को व्यावहारिक लाभ था।

1.1.8 सोफिस्टों की सामान्य विशेषताएँ:

सोफिस्ट विचार स्पष्ट रूप से यूनानी परम्परागत विचारों से अलग थे और ऐतिहासिक परिस्थिति के कारण पैदा हुये थे। ये विचार नवीन थे और इन्होनें यूनानी समाज और राजनीतिक व्यवस्था में आधार भूत परिवर्तन कर दिया। सोफिस्ट विचार धारा को समृत्र बनाने मं बहूत से विचारकों ने योगदान किया। उनमें अपस में काफी विविधता और अन्तर होते हुये सैद्धांतिक एकता थी। प्रारम्भ के सोफिस्टों ने व्याकरण ,भाषा की उत्पत्ति, प्रकृति के साथ भाषा के सम्बन्ध, तार्किकता के औचित्य आदि पर विचारयिा बाद में वे सावर्जनिक भमिका, भाषण, सुखवाद, सदेळवाद, व्यावहारिक उपलब्धि में लाभ देनेवालीसंस्था के रूप में संगठित होते गये। सोफिस्टों की प्रमुख विशेषताएँ निम्निलिखित है-

1.1.8.1 मानवतावादी:

सोफिस्टों ने मानवतावादी विचार का समर्थन दिया। भौतिकवाद को चुनौती देते हुये उन्होने मानवतावाद को स्थापित किया। सोफिस्टों ने यह घोषित किया कि मनुष्य ही सभी चीजों का मानदण्ड है। यूनान के भौतिकवादी विचार प्राकृतिक नियमें को जॉनने के अधिक इच्छुक थे। प्रसिद्ध और आरम्भिक सोफिस्ट विचारक गार्जियास ने कहा कि व्यक्ति क बुद्धि और व्यवहार के अनुसार ही वस्तुओं का अस्तित्व होता है। बार्कर के अनेसार यह एक प्रकार का चरम व्यक्तिवाद है। व्यक्ति किसी वस्तु जिस रूप

में देखता है उसी रूप में उस वस्तु का अस्तित्व होता है उसका मानना था कि कोई एक ही वस्तु दो व्यक्तियों के लिए दो प्रकार की हो सकती है और इस सन्दर्भ में दोनों ही व्यक्ति सही हो सकते है। उसका मानना था कि जिस प्रकार प्रकृति मं सब जगह एक ही कानून अथवा विधि लागू नहीं होती उसकी प्रकार मानवीय समाज में भी हम सभी जगह एक ही कानून लागू होने की कल्पना नहीं कर सकते है।

प्रोटैगोरस द्वरा मानवतावाद इस रूप में स्थापित किया जाता है कि मनुष्य-मनुष्य के ज्ञान और अनुभव में भ्निनता होती है यह वातावरण और देशकाल के अनुसार होता है। इस प्रकार सत्य पर विचार करने के क्रम में यह स्थापितहो जाता है कि सत्य व्यक्ति आधारित होता है। चीज के लिये है। सत्य का अपना कोई निरपेक्ष मानदण्ड नहीं होता। सत्य सदैव सापेक्ष होता है। इस विश्व में कोई भी चीज स्वयं में अच्छी या बुरी नहीं बल्कि वह व्यक्तियों, उनके विचार और उनके हित से जुड़कर अच्छी या बुरी बनती है। इस प्रकार ज्ञान, नैतिकता, सम्बन्ध सभी के लिये व्यक्ति ही मानदण्ड है। यह सोफिस्टों का मानववाद है जो परम्परागत यूनानी विचारकों के प्रतिपक्ष में है। इसका मानवीय चिनतन और व्यवहारपर गुणात्मक प्रभाव पड़ा। आगे चलकरइसी मापन पर शासन और राज्य की नीतियों को परखा जाने लगा। उपयोगितावाद का व्यवस्थित विकास आधुनिक काल में जेरेमीबेंथम जैसे विचारक द्वारा किया गया किन्तु इसका प्रारम्भिक लक्षण सोफिस्ट विचारकों में ही मिलता है।

1.1.8.2 संशयवादी पद्धति:

सोफिस्टों ने मानवतावादी विचार का समर्थन दिया। भौतिकवाद को चुनौती देते हुये उनहोने मानवतावाद को स्थापित किया। सोफिस्टों ने यह घोषित किया कि मनुष्य ही सभी चीजों का मानदण्ड है। यूनानके भौतिकवादी विचार प्राकृतिक नियमों को जॉनने के अधिक इच्छुक थे। प्रसिद्ध और आरम्भिक सोफिस्ट विचार गार्जियास ने कहा कि व्यक्ति बुद्धि और व्यवहार के अनुसार ही वस्तुओं का अस्तित्व होता है। बार्कर के अनुसारयह एक प्रकार का चरम व्यक्तिवाद है। व्यक्ति किसी वसतु को जिस रूप में देखता है उसी रूप तके उस वस्तु का अस्तित्व होता है उसका मानना था कि कोई एक ही वस्तु दो व्यक्तियों के लिए दो प्रकार की हो सकती है और इस सन्दर्भ में दोनों ही व्यक्ति सही हो सकते है। उसका मानना था कि जिस प्रकार प्रकृति में सब जगह एक ही कानून अथवा विधि लागू नहीं होती उसी प्रकार मानवीय समाज में भी हम सभी जगह एक ही कानून लागू होने की कल्पना नहीं कर सकते है।

सोफिस्टों के अनुसार संशयवाद से यूनानी समाज को एक नयी दृष्टि मिली। सोफिस्टों ने अपने इस प्रयास द्वारा दर्शन की निष्फलता को प्रमाणित करने का प्रयास किया। भावात्मक रूप से उन्होने मानवीय स्वभाव ओर मानवीय समाज के बारेमें जॉच पड़ताल करने की कोशिश की। उनकी पद्धति पूरी तरह व्यावहारिक थी। सोफिस्ट इस पद्धति के माध्यम से व्यावहारक जीवन में सफल होने की शिक्षा देते थे और बार्कर के शब्दों में राज्यों तथा पर विचारों के सही-सही प्रबंध की कला सिखाने का दावा करते थे। सोफिस्टों के अनुसार व्यावहारिक सफलता संशयवाद के अनुसरण से आती है। जिसमें प्रत्येक स्थापित सत्य, परम्पर मूल्य और विधि को अपनी सम्भव जॉनकारी के द्वारा परखा जाता है।

1.1.8.3 व्यावहारिकता:

सोफिस्ट विचार कों का दृष्टिकोण जीवन में व्यावहारिक लाभ देना था। वे शिक्षक थे। प्रारम्भिक सोफिस्ट व्याकरण के अच्छे ज्ञाता थे। सुप्रसिद्ध सोफिस्ट भाषण शास्त्री थे। उनके प्रति वे नवयुवक प्रेरित हुये जो जनता का समर्थन लेकर बड़े सावर्जनिक पद लेना चाहते थे। सोफिस्ट ने सर्वाधिक आकर्षक

व्यक्तित्व एलिस का हिप्पियास एक साथ ही कवि, गणितज्ञ, पराकथाविद और नीतिशास्त्री सभी कुछ था। वह संगीत का परखी और कला का साध कभी था। सोफिस्टों के सम्पर्क में आने का सीधा आशय मानव जीवन से जुडे विभिन्न विषयों के बारे में जॉनकारी प्राप्त करना। यूनानी समाज में व्यावहारिक जीवन राजनीतिक क्रिया कलाप के अभाव में असम्भव था इसलिये ये सोफिस्ट विचारक अपने शिष्यों को राजनीतिक क्षेत्र में सफल होने की शिक्षा भी देते थे। सोफिस्टों का स्पष्ट चित्रण ज्ञान प्रदान करने वाले ऐसे व्यक्ति समूह के रूप में किया जा सकता है जो अपनी सेवाओं के बदले शिष्यों से धन लेना स्वीकार्य करते थे। प्लेटों और अरस्तू ने इन्ही कारणों से सोफिस्टों की आलोचना की है। उनके शिष्य वे धनी लोग थे जो सार्वजनिक पद प्राप्तकरना चाहते थे अथवा लोक न्यायालयों में अपने उपर लगे आरोपों का प्रभावशाली ढंग से जबाब दे सके।

इस प्रकार सोफिस्ट विचारक यूनान में अपने व्यावहारिक दृष्टि कोण व जीवन में तात्कालिक लाभ के दर्शनिक होने के कारण लोकप्रिय हो रहे थे। उसका अन्तर्विरोध यूनान के परम्परागत दर्शन के साथ हो रहा था। यह सोफिस्टों की बडी विशेषता थी जो उनहे अन्य से अलग करती थी

1.1.8.4 राज्य सम्बन्धी विचार:

सोफिस्ट यह मानते थे कि राज्य एक कृत्रिम संस्था है। इसको समाज के बहुसंख्यक निर्बल लोगोंने शक्तिशाली लोगों के अत्याचार से बचने के लिए सामूहिक सहमति के आधार पर बनाया है। राज्य दैवी संस्था नहीं है। इसके निर्माण में किसी परलौकिक सत्ता की भूमिका नहीं है। सोफिस्ट परम्परागत यूनानी विचारकों की भॉति यह भी नहीं मानते थे कि राज्य दैवी अथवा प्राकृतिक संस्था है। उन्होने राज्य को अमूर्त आदर्शो को प्राप्त करने की संस्था के रूप में भी निरूपित नहीं किया बल्कि पूर्ण विश्वास व्यक्त किया कि राज्य का निर्माण हमारे दैनिकजीवन की आवश्यकता के लिए हुआ है। यह मनुष की विशुद्ध व्यवहारिक आवश्यकता का परिणाम है और इसे इसी लिए बनाये रखा जाता है जिससे मानवीय जीवन आसान और सुविधाजनक बन सके।

1.1.8.5 विधि और न्याय की नवीन व्याख्या:

सोफिस्ट विचारकों ने परम्परागत यूनानी विचारकों के विपरीत विध और न्याय के विषय में कहा कि ये सापेक्षिक होते है। विधि और न्याय का स्रोत प्रकृति न होकर राज्य की सत्ता में होता है। राज्य ही इनका निर्धारक होता है। जिस प्रकार का राज्य होता है उसी प्रकार की विधि का निर्माण किया जाता है और इन विधियों के हिसाब से न्याय की अवधारणा बदलती जाती है। कानून के सन्दर्भमें स्वंय सोफिस्ट विचारकों में विविधता पई जाती है। जैसे थ्रैसीमेकस ने बल को एकमात्र निर्णायक कारक माना है। वे न्याय को शक्तिशाली का मान कहता था। अर्थात समाज और व्यवस्था में जो शक्ति सम्पन्न है उनकी इच्छा और हित ही न्याय है। किसी भी राज्य में वही राज करता हैजो अन्य की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होता है। इन प्रभावशाली लोगों द्वारा अपने हित में कानून बनाया जाता है और उसे न्याय के रूप में लागू किया जाता है। इस प्रकार शक्तिशाली का हित ही न्याय है। हिप्पियास कानूनों में भेद करता हुआ कहता था कि ईश्वरीय कानूनों में मानव कोई परिवर्तन नहीं कर सकता जबकि मनुष्यों द्वारा बनाए गये कानू सापेक्ष्कि और परिवर्तनशील होते है। वही एन्टीफोन का विचार था कि कानून अस्वाभाविक होतेहै। उनके अनुसार राजय के कानून के साथ वयक्ति का सम्बन्ध एक विशेष श्रेणी का होता है सीमित शक्ति का स्थायी होने के कारण नागरिक राज्य के नियमें पर अपनी इच्छा आरोपित नहीं कर सकता

किन्तु वह परिस्थितियों के अनुसार अपने हित में उसका उपायों कर सकता है। वह राज्य के कानूनों को असमानता का पोषक मानता था किन्तु उसका सुझाव था कि दण्डित होने की सीमा तक ही राज्य के कानून का उलंघन श्रेयकर होता है यह एक व्यावहारिक दृष्टिकोण था किन्तु उसका सुझाव था कि जो सोफिष्ट विचारधारा की सामान्य विशेषता है।

वही कैलीक्लीज ने सामाजिक समझौते के आधार परराजय और उसके द्वारा सृजित कानून की अवधारणा की आलोचना की और कहा कि बाहर कानून का पालन हमारी श्रेष्ठ आन्तरिक नैतिकता के विपरीत और विरोधी है। उसने अनुसार शक्तिशाली की इच्छा ही कानून है।

इस प्रकार सोफिस्ट कानून को शक्तिशाली के हित में कार्य करने वाली परिस्थिति मानते थे। इसके माध्यम से वह अपना वर्चस्व बनाये रखता है। वह नैतिकता के लिये बनायी गई व्यवस्था नहीं है। यह कमजोर की नैतिक सहमति नहीं लेता और न ही यह किसी सार्वभौम परम सत्ता नैतिकतत्व की अभिव्यक्ति नहींहै।बल्कि यह विशुद्ध व्यावहारिक व्यवस्था है। न्याय को भी सोफिस्ट इसी प्रकार व्याख्यायित करते है। सिफालिस के अनुसार 'न्याय का अर्थ है सत्य बोलना तथा ऋण चुका देनाइस प्रकार वह न्याय की व्यावहारिक परिभाषा देता है पेालीमार कारस ने न्याय को एक कला कहा है। कला चतुराई के साथ प्रयोग करने का नाम है'। इस प्रकार वह न्याय की व्यावहारिक परिभाषा देता है। वही थ्रेसीमेकस कहता है कि न्याय का एकता आधार शक्ति है और वही कैलीक्लीज न्याय को प्राकृतिक नियम के विरूद्ध कहता है। वही संविदावादी सोफिस्ट गलॉकन न्याय को भय की संतान कहता है।' इस प्रकार सभी सोफिस्टों ने न्याय की व्याख्या भी विशुद्धव्यावहारिक और सापेक्षिक अर्थ में कियाहै।

1.1.9 सोफिस्टों का योगदान:

सोफिस्टों ने तत्कालीन यूनानी चिन्तन और व्यवहार में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया। मनुष्य को सभी गतिविधियों, चिन्तन और क्रियाकलाप का पैमाना मानकर उन्होंने परम्परागत चिन्तन को चुनौती थी। उस यूनान में यह बडी बात थी जहॉ सार्वजनिक कर्तव्यों को निभाकर ही मनुष्य अपने अस्तित्व को प्रमाणित कर सकता था। सोफिस्ट विचारकों ने मानवतावाद को अपने चिन्तन में महत्वपूर्ण स्थान दिया। इसी मानवतावाद से व्यक्तिवाद और उपयोगितावाद को बल मिला और आगे चलकरयह बाद राजनीति विज्ञान में महत्वपूर्ण विचार के रूप में प्रतिष्ठित हुये। सोफिस्टों को सचेत राजनीतिक गतिविधियों के कारण यूनान में राजनीतिक चिन्तन और गतिविधि को एक अनुशासन के रूप में मान्यता मिली। निरपेक्ष सत्य के विरूद्ध संशयवाद के माध्यम से सापेक्षता को स्थापित करनामानवीय मस्तिष्क के चिन्तन को जागृत करनेका बड़ाकारण बना। इसका सीधा सम्बन्ध वैज्ञानिक से चेतना है1 इस प्रकारकेचिन्तन ने यूरोप में वैज्ञानिक विचार विमर्श की संस्कृति तैयार की। इसका सीधा सम्बनध तर्क से भी है। इसमें सोफिस्टों का योगदान अविस्मरणीय है।

प्राचीन यूनानी राजनीतिक चिन्तन की कई उपलब्धियॉ सोफिस्टों के द्वारा प्रापत की गयी है। सोफिस्टों के द्वारा समाज और राजनीति के समक्ष रखें गये विचारों और तर्को का उत्तर देना परम्परागत यूनानी विचारकों के लिये आवश्यक हो गया था। इसी के विकास क्रम में यूनान में राजनीतिक चिन्तन का विकास हुआ और सुकरात प्लेटों और अरस्तू महान विचारकों का जन्म हुआ।अरस्तू ने इन्ही परिस्थितियों में राजनीतिविज्ञान को एक विषयऔर अनुशासन के रूप में विधिवत स्थातिप किया।

सोफिस्टों के जीवन में तथा शिक्षाओं में व्यावहारिक जीवन में सफलता और कुशलता प्राप्त करनेपर जोर राता था। यह उनकी लोकप्रियता का आध्याय था। व्यक्ति की आपसी समानता का विचार बहुत महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। लोकतंत्र की स्वीकार्यता और व्यापकता लिये सोफिस्टों की महत्वपूर्ण भूमिका रही। सोफिस्टों ने कानूनऔर नैतिकता के बीच अन्तर करके परम्परागत यूनानी विचार पर एक और प्रहार किया। यूनानी जीवन में दानों एक दूसरे में घुलीमिली थी। वह राज्य के नीतियोंऔर विधियों को व्यक्ति की नैतिकता की अभिव्यक्ति और व्यापक सामूहिक नैतिकता का प्रकटीकरण कारते थे इसलिये कानून के विरोध की गुंजाइश नहींथी। इसके विपरीत सोफिस्टों ने कहा कि दोनों अलग-अलग है। व्यक्तियों को अपनी आत्मा अपनी नैतिक इच्छा के विपरीतकानून का पालन करना पड़ता है। इसलिए व्यक्ति का हित राज्य के हित से अलग हो सकता है।

बाद के समय में सोफिस्टों की कई मान्यताए और विचार इतिहास ने सही साबित किया।लोकतंत्र, व्यक्तिवाद, परस्पर समानता विधि और नैतिकता के पृथकता के का विचार आधुनिक लोकतांत्रिक जीवन के महत्वपूर्ण विचार बन गये। इसके पीछे सोफिस्टों का ही योगदान है। जिसे आज भी स्वीकार किया जाता है।

1.1.10 सुकरात: जीवन परिचय

सुकरात या साक्रेटीज का जन्म 470 ई पू के आस पास हुआ था। वह एथेंस का वंशानुगत नागरिक था। उसे महान यूनानी माना जाता है। उसका जीवन विविधता और सक्रियता से परिपूर्ण था। जीवन में वह सिपाही भी रहा, कौंसिल का सदस्य और विशुद्ध एथेंनीवासी की तरह हर सावर्जनिक कर्तव्य का पालन किया। उनकेपिताएकशिल्पी थे। स्वयं सुकरात ने अपने पिता के कर्म कला को सीखा लेकिन युवावस्था में आरम्भ से ही वह विचारों के प्रति आकर्षण हुये वह उस समय एथेंस में रहने वाले सभी प्रमुख विचारकों के सम्पर्क में रहते थे। चिन्तन के प्रति आकर्शण के आरम्भिक दिनों में सुकरात भौतिक विज्ञान के प्रति आकर्शित हुआ। किन्तु शीघ्र ही सुकरात का रूचि प्राकृतिक विचान से से हटकर दर्शन की ओर हो गई । इसके अन्तर्गत पर मूल कारणों और उसकी प्रतिक्रिया पर विचार करने लगा। अपने जीवन काल में ही सुकरात की प्रसिद्धी यूनान में हो गई। सुकरात के विषय में डेल्फी की देववाणी ने कहा कि 'साक्रेटीज सबसेबुद्धिमान मनुष्य है। उसने स्वयं सुकरात अपने बारे में विनम्रता पूर्वक कहा करा था कि मैं केवल इतना जॉनता हूँ कि मैं कुछ नहीं जॉनता। एथेंस में सुकरात का पूरा जीवन दर्शन अैर सत्य के प्रति समर्पित रहा। वह विचार ही नहीं व्यवहार दर्शन और सत्य के प्रतिसमर्पित रहा।वह विचारही नहीं व्यवहर के स्तर पर भी सत्य को समर्पित था।

एथेंस में तीस अत्याचारियोके शासन ने आतंक का साम्राज्य स्थापित किया। उस समय सुकरात पर राजद्रोह और युवकों को पथभ्रष्ट करने का आरोप लगाकर मृत्युदण्ड को स्वीकार करते हुये शासन की नीतियों के प्रतिरोध कामार्ग चुना। यह अभूतपूर्व उदाहरण है जो डेल्फी की देववाणी को सही सिद्ध करता प्रतीत होता है। सन। 399 ई पू में सूकरात की मृत्यु हुई । सुकरात एक महान विचारक था उसने बाद विचारकों की महान परम्पर पैरा की जिन विचारों को विमर्श का विषय बनाया वह दर्शन के गम्भीर क्षेत्र से लेकर आम लोगों के जनजीवन तक समबंधित थे। बार्कर के अनुसार अपने नागरिक कर्तव्य का अडिग

रूप से पालन और नागरिक विधि की आलोचना दो ऐसी विशेषताये है जो सुकरात को एथेंस के एक विशिष्ट रूप में स्थापित करता है। वह मानवीय चिन्तन इतिहास में दर्शन महान मनुष्य और विद्वान है।

1.1.11 सुकरात के प्रमुख विचार:

सुकरात के चिन्तन की पद्धति द्वन्द्वात्मक थी। आयोनियाई पद्धति यह थी कि वे दुर्बोध गद्य या जटिल पद्य में पहले से निकाले गये अपने निष्कर्षो के संकेत देते थे जैसे कहावते या मुहावरे होते है। जबकि सोफिस्ट किसी विषय पर सुव्यवस्थित रूप से विचार व्यक्त करते थे। सुकरात ने इन दोनों पद्धति को छोड़ द्वन्द्वात्मक पद्धति को अपनाया जिसके अनतर्गत प्रश्न पूछने और उत्तर देनेकी क्रिया अपनाकर सत्य के अन्वेषण की कोशिश की जाती है। प्लेटों के संवादों से हमें इस पद्धति की जॉनकारी मिलती है। बार्कर ने सुकरात की इस पद्धति को ज्ञान का सिद्धांत (doctrlne of the two knowledge) कहा है।

1.1.11.1 ज्ञान के सम्बनध में – सुकरात के अनुसार ज्ञान के दो स्तर होते है। पहला इन्द्रियों के माध्यम से होने वाला ज्ञान है जिससे हम किसी वस्तु के बारे में जॉनकारी करते है। सांसारिक मूर्त वस्तुओं का ज्ञान इसी महाध्यम से हाता है। सोफिस्टो के अनुसार इन्द्रिया ही ज्ञान की वास्तविक आधार होती है। इसी के माध्यम से प्राप्त अनुभूतियों के आधार पर हम जो संकल्पना बनातेहै वही ज्ञान है। व्यक्ति व्यक्ति में संवेदना ग्रहण करने और उसके आधार पर संकल्पनाया समझ विकसित करने की दक्षता अलग अलग हो सकती है इसलिए व्यकितियों के ज्ञान में अन्तरहोता है या कह सकतेहै कि इसी कारण ज्ञान सापेक्षिकहोता है।

सुकरात इसी अवधारणा को स्वीकार नहीं करता है। सुकरात के अनुसार इस ज्ञान के कोई सार्वभौतिक आधार और प्रक्रियान हीं बनायी जा सकती। लगातार परिवर्तनशील होने वाली परिस्थिति में ज्ञान का निर्माण नहीं हो सकता । उसके अनुसार साधारणतया लोगों के वपास जो ज्ञान है वह ज्ञान नहीं मत है। व्यक्ति उनके कारणों के परिणामया परिणामों के कारणों के तौर पर नहीं जॉनते। वास्तविक ज्ञान कार्यकारण सम्बन्ध पर आधारित होता है। और इसी के द्वारा स्थायी ज्ञान का सृजन कियाजाता है। उपरी वस्तुओं के पीछे या भीतर उसकी वास्तविक प्रवृत्ति छिपी होती है। वही मूल कारण हेाती है। इसी का ज्ञानवास्तविक ज्ञानकहा जा सकता है। इस प्रकार के सत्य पर समय समय पर और परिस्थिति का प्रभाव नहींपडता।सत्य की संज्ञा से इसे ही पुकाराजा सकता है। सुकरात का कहना था कि ज्ञान प्राप्त करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि हमने उस ज्ञान को किस प्रकार प्राप्त किया है। ज्ञान प्राप्त करना महत्वपूर्ण लेकिन उससे भी महत्वपूर्ण उसकी प्रक्रिया है। ज्ञान स्थिर होता है क्योंकि उसके पीछे एक विधिवत कारण हेाता है।

1.1.11.2 गुण(श्रेय) के सम्बन्ध में विचार: यह सुकरात के दर्शन में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। सुकरात के अनुसार ज्ञान ही सद्गुण होता है। इन दोनों में कोई अन्तर नहीं हेाता है। सोफिस्टों के तरह वह यह नहीं मानता था कि श्रेय अथवा गुण एक कला है। इसे सीखा या सिखाया जा सकताहै। श्रेय का सम्बन्ध ज्ञान से है। लेकिन यह वह ज्ञान नहींहै जो परिवर्तनशील है अथवा मत पर आधारित होकर सापेक्षिक है। श्रेय निरपेक्ष ज्ञानया आधारित होकर ही सामान्य बनता है और यही उनकी उपलब्धि है। सुकरात श्रेय को कला नहीं मानता था। बार्कर के अनुसार इसका कारण यह है कि कलाओं की भॉति श्रेयमें आश्रेय की या दूसरे शब्दों में बुराई की शक्ति नहीं होती । भाषणशास्त्र न्याय और अन्याय दोनों में सहासयक हो सकता है

चिकित्सालय इलाज की कर सकता है मार भी सकता है। श्रेय का केवल एक प्रभाव होताहै,इसलिए यह कला नहीं है। सत्य जॉनने के साथ ही उसे अपने आचरणमें उतारने को ही सद्गूण माना जायेगा। सुकरात कहता है कि ज्ञान सद्गुण है ओर सद्गुण ही ज्ञान है। यह आचरणके साथ अनिवार्यतया जुड़ा हुआ है और विकल्प हीन है। इसे अपनाने या न अपनाने का विकल्प हमारे पास नहीं होताहै। इस प्रकार ज्ञान बुद्धि आत्मा ओर आचरण तीनों से सम्बन्धित होताहै। इस प्रकार ज्ञान और बुद्धि आत्मा और आचरण तीनों से सम्बन्धि होता है। ज्ञानकाआचरण अर्थात गुण से सीधा सम्बन्ध है इन आचारणकीएकतासेही नैतिकता पैदा होती है सुकरात विचार था कि नैतिकतत्व मनूष्य द्वारा किये जा सकते है इन्हे खोजकर अपनान मनुष्यता का लक्षण है यह अवश्य कियाजाना चाहिये।

सोफिस्टों के साथ सुकरात के विचारोकी समानता भी इन्हीं विचारों को लेकर है। सोफिष्ट और सुकरात दोनो यह मानते है कि सच्चा श्रेय विशेष ज्ञानपर आधारित होता है। वे दोनों श्रेयकी शिक्षा देने का दावा करते है।

1.1.11.3 बुद्धिवाद: सुकरात बुद्धिवादी था। उनका मानना था कि व्यक्तियों को अपनी बुद्धि का प्रयोग करना चाहिए। सुकरात का बुद्धिवाद कठोर नहीं था बल्कि जीवन के व्यवहारऔर आदर्श से जुड़कर जीवन्त था बुद्धिवाद के माध्यम से ही हम वस्तुओं को उसके वास्तविक स्वरूप उसके स्थायी रूप में जॉनते है। इसी के द्वारा हम वस्तुओं के शाश्वत ओर सौन्दर्यातक पक्ष को जॉन पातेहै। बुद्धि यथार्थ और वास्तविकता के लिए आकर्षणभी पैदा करती है। बुद्धि इच्छा के साथ सम्बन्धित होती है। इसके द्वारा व्यक्ति वास्तविक चीज स्वरूप को प्राप्त करने की इच्छा भी प्राप्त करती है। इसलिये बुद्धि के अभाव विचारों और आचरण का मूर्त यानि वास्तविक रूप में अस्तित्व में माना सम्भव नहीं हो पायेगा। अन्य यूनानी विचारकों की भॉति सुकरात की बुद्धि को ज्ञान प्राप्त करने के साधन और उसके द्वारा संसार को प्रभावित करनेकी कोशिष के रूप में देखता थ। उसके चिन्तन में बुद्धिवाद का महत्वपूर्ण स्थान था।

1.1.11.4 राजनीतिक विचार: सुकरात के राजनीतिकविचार उसके दार्शनिक विचार से सम्बन्धित है। सुकरात राजनीति को एक कला मानता है। राजनीति में भाग लेने उसे संचालित करने क लिये एक विशेष किस्म को कुशलता को आवश्यकता होती है। सावर्जनिक पद धारण करना और उसके अनुरूप व्यवहार करना शासन करनाऔर सार्वजनिक पद धारण करना और उसके अनुरूप व्यवहार करना शासन करनाऔर सार्वजनिक पद धारण करना और उसके अनुरूप व्यवहार करना रखता है। एक विशेष प्रकार का व्यहार है यह व्यवहार एक व्यक्ति दूसरे के अपेक्षा अच्छी तरह कर सकता है क्यों कि वास्तव में यह कला है। जिसमें निगुणता प्राप्त की जा सकती है। यह निपुणता सभी लोग प्राप्त नहीं कर सकते यह विशेषज्ञता का क्षेत्र है इसलिये यह मानना भूल होगी कि राजनीतिक क्षेत्र में सभी नागरिको को समान रूप से कार्य करना चाहएि। राजनीति सभी के जीवन से सम्बन्धित होती है किनतु राजनीति मे सभी के लिए स्थान नहीं होता है। सुकरात राजनीतिक के लिए दो गुना होनाआवश्यक मानता था पहला उन्हे जनहितैषी होना चाहिएऔरदूसरा उन्हें बुद्धिमान होना चाहिये। हॉलाकि किसी तरह की राजनीतिकव्यवस्था में राजनीतिक जनहितैषी होने का कारण यही करते है सुकरात का मानना है कि उसके वास्विक रूप से जनता की भलाई के लिये काम करने से था।

सुकरात लोकतंत्र का विरोधी था। तत्कालिक लोकतंत्र में लोगों को समान मानकर राय ली जाती। वे लोग जो राज्य के मामले में आनी और परिचित थे उन्हें राज्य के मामले तय करने का अधिकर

मिल जाता था। इससे एक भ्रष्ट शासन अस्तित्व में आता है। सुकरात विशेषता का समर्थक था लोकतंत्र उसके इस कसौटी पर खरा नहीं उतरता था। इसक बदले वह बुद्धिमान प्रतिबद्ध और कुलीन विशेषज्ञों के शासन का समर्थन करता था। इन्ही विचारों के आधार पर बाद में उसके शिष्य प्लेटों ने दार्शनिक राजा का सिद्धांत विकसित किया।

1.1.11.5 मानव, अन्त:करण और मानववाद-

मानव पर विचार करते हुए सुकरात ने कहा कि मनुष्य अच्छाई ओर बुराई की प्रवृत्ति से संचालित होने वाला प्राणी है। बुराअथवा निजी स्वार्थ से संचालित व्यक्ति वास्तव में मनुष्य की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। अच्छा और उच्च स्तर का व्यक्ति निजी हितों से नहीं बल्कि सार्वजनिक हति की भावना से संचालित होता है। यह मनुष्यता का स्थायी पैमाना है। मानव का अनत:करण सदैव उसे अच्छाई और परोपकारकी ओर ले जाताहै। अन्त:करण सदैव नैतिक ओर सही निर्णय लेता है। मानव को इसी के अनुसार संचालित होना चाहिए। अन्त:करण के भावों की प्रतिष्ठा से ही बेहतर समाज ओर सर्वश्रेष्ठ राज्य की स्थापना की जा सकती है। हमारा अन्त:करण सार्वजनिक रूप से हमें मानववाद की ओर प्रेरित करता है। सुकरात सोफिस्टों के इस विचार से सहमत था किसी चीजों, गतिविधियों ओर निर्णयों का अन्तिम मानदण्ड मनुष्य को बनाना चाहिए। अपने उपर लगाये गये आरोपोंका उत्तर देते हुए सुकरातने स्पष्टतया कहा भी कि मेरे अध्ययन और आकर्षण का केंन्द्र भौतिक वस्तुए नहीं बल्कि मनुष्य रहा है। सुकरात के सारे चिन्तन इतिहास को देखते हुए यह बात सत्य प्रतीत भी होती है।

1.1.11.6 कानून सम्बन्धी विचार:-सुकरात ने अपनेविचार में कानून को प्रतिष्ठित स्थान दिया। उसके अनुसार कानून मानव समाज की सामूहिक उपलब्धि है तथा निर्वैक्तिक है। कानून का स्थान उपर है। शासक और शासित दोनों कानून के अधीन है और इससे बँधे हुय है। सुकरात कानून को ईश्वर के आदेश के साथ साथ सम्पूर्ण मानव समाज के बौद्धिक क्षमता का प्रकटीकरण अथवा अभिव्यक्ति मानता था जो व्यक्ति को कानून का पालन करना चाहिए। सुकरात का विधि सम्बन्धी विचार यांत्रिकता समर्थन नहीं करता।

सुकरातकेवलएक परिस्थिति में कानून के उल्लंघनकरने की अनुमति देता है वह है अन्त:करण से कानून की व्यवस्था का विरोध होना। अन्त:करण नि:स्वार्थी होता है इसलिए वह कानून से स्थिति विशेष में उच्चतर स्थान रास्ता है। इस एकमात्र स्थिति को छोडकर सुकरात कभी भी कानून के उलंघन अथवा अवहेलना करने की स्वीकृति नहीं देता है।उसका स्वयं का जीवन इसका प्रामाणिक साक्ष्य है। उसने महत्वपूर्ण भूमिका मेंरहतेएक सामान्य से नागरिककी विधि विरूद्ध गिरफ्तारी का विरोध किया ओर स्वयं के आभियोजित होने के बाद भी की भी निजी स्वार्थ में अपने व्यक्तिगत प्रभाव का उपयोग नहीं किया। व्यक्तिगत जीवन में उसने अपने हर कर्तव्य का पालन किया। मृत्युदण्ड मिलने के बाद भी वह कार्यभार से नहीं भागा जबकि सुकरात आसानी से ऐसा कर सकता था। ऐसा उसने कानून क प्रतिअपने अगाध विश्वास और अपनेमन में उसकीश्रद्धा के कारण ही किया।सुकरात के विधि सम्बनधी विचार प्राचीन यूनानी विचार परम्परा को ही समर्थन है जो समाजके माना परम्परा को बिना शर्तस्वीकार करतेथे।

1.1.12 सारांश

सुकरात मानव सभयता का विशिष्ट दार्शनिक था। उसने पहली बार विस्तृत रूप से मानवीयजीवन के दार्शनिक चिन्तन का सम्बन्ध सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था के साथ स्थापित किया। सुकरात ने राज्य नागरिक और उनके आपसी सम्बन्धें की व्याख्या की और इस बात को प्रतिष्ठित कियाकि राज्य और कानून के प्रति मिष्ठा को प्रतिष्ठित किया। राज्य और विधिको महत्वपूर्ण स्थान देने के बावजूद वह नैतिकताकोही सर्वोदय स्थान पर प्रतिष्ठित करता है। सुकरात ने राजनीति और नैतिक सिद्धानत के बीच सम्बन्ध स्थापित किया। राजनीतिक चित्र पहली बार नैतिक मूल्यांकन के दायरे में लाया गया। राजनीतिक विचार पहलीबार नैतिक मूल्यांकन के दायेरे में लाया गया। राज्य को उन्होने प्राकृतिक बताया समाज को व्यक्ति के उपर प्राथमिकता दी और सुकरात ने सार्वजनिक कर्तव्य के रूप में प्रतिष्ठितकर दिया। उन्होने यह माना कि मनुष्य ही चीजोंका मानदण्ड है। अपनी गतिविधियों से उनहोने विचार को व्यवहार में स्थापित किया। वह प्राचीन यूनानी राजनीतिक चिन्तन ही नहीं वह सम्पूर्ण मानवता के महान विचारक के रूप में जाने जाते है।

1.1.13 अभ्यास/बोध प्रश्न

1.1.13.1 (बहुविकल्पीय)

1. सोफिस्ट राज्य को कैसी संस्था मानते थे?
   (1) कृत्रिम **(2)** प्राकृतिक **(3)** दैवी **(4)** विकसित
2. इनमें से कौन साफिस्ट नहीं है?
   (1) पोलिमार्कस **(2)** ग्लाकन **(3)** कैरीक्लीज
   (4) सुकरात
3. सुकरात सोफिस्टों से
   (1) बिलकुल प्रभावित नहीं था
   (2) आंशिक रूप से प्रभावित था
   (3) पूरी तरह प्रभावित था
   (4) उनसे कोई सम्पर्क नहीं था
4. सुकरात की चिन्तन शैली कैसी थी?
   (1) दार्शनिक **(2)** ऐतिहासिक **(3)** द्वन्द्वात्मक **(4)** अतार्किक
5. न्याय को भय की संतान किसने कहा?
   (1) थ्रेसीमेकस **(2)** ग्लाकन **(3)** पोलिमार्कस **(4)** प्लेटो

1.1.13.2 लघुउत्तरीय प्रश्न

1. द्वन्द्वात्मक पद्धति से क्या आशय है?
2. यूनानी राज्य की प्रमुख विशेषता क्या थी?
3. सोफिस्टों की प्रमुख मान्यता क्या थी?
4. सुकरात ने अपने दर्शन में किसका समर्थन किया?

5. सोफिस्ट और सुकरात के दर्शन में दो प्रमुख अन्तर लिखिये?

1.1.13.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. प्राचीन यूनानी चिन्तन की विशेषताओं का विश्लेषण कीजिये?
2. प्राचीन यूनान में सोफिस्टों के उदय और विकास के कारणों की समीक्षा कीजिये?
3. सोफिस्टों के प्रमुख राजनीतिक विचार क्या थे?
4. सुकरात के राजनीतिक विचार पर पड़ने वाले प्रभाव का मूल्यांकन कीजिए?
5. सुकरात का परवर्ती यूनानी विचारों पर प्रभाव की समीक्षा कीजिए?

1.1.14 कठिन शब्दावली

द्वन्द्वात्मक पद्धति - इसके अन्तर्गत निष्कर्ष तक पहुँचने के लिये तर्कपूर्ण वाद-विवाद का अनुसरण किया जाता है। दो व्यक्तियों या समूहों के बीच प्रश्न-उत्तर, पुनः प्रश्न और उत्तर का अनुसरण तब तक किया जाता है जब तक निष्कर्ष प्राप्त नहीं हो जाता है।

बुद्धिवाद - इसके अन्तर्गत यह विश्वास किया जाता है कि बुद्धि, तर्क और कार्य कारण को समझते हुये हम जीवन, प्रकृति और समाज के वास्तविक कारण को जॉन सकते हैं। यह मानव के जीवन में ही ज्ञान के समस्त कारण होने पर विश्वास करता है।

1.1.15 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. बार्कर, अनैस्ट (1967), यूनानी राजनीति सिद्धान्त प्लेटों और उसके पूर्ववर्ती दिल्ली, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय,
2. एरिस्टोटल: (2015), पालिटिक्स (इंगलिश), क्रियेट स्पेस इन्डीपेन्डेन्ट, पब्लिशिंग प्लेटफार्म

इकाई-2 प्लेटो का राजनीतिक चिन्तन

इकाई की रूपरेखा

1.2.1 उद्देश्य कथन
1.2.2 प्रस्तावना
1.2.3 जीवन परिचय और रचनाए¡
1.2.4 अध्ययन शैली और विचार पद्धति
1.2.5 न्याय सिद्धान्त
1.2.5.1 परम्परावादी विचारकों के सिद्धान्त
1.2.5.2 उग्रवादी धारा के सोफिस्ट
1.2.5.3 व्यावहारिक सिद्धान्त
1.2.5.4 प्लेटो का न्याय सिद्धान्त
1.2.5.5 ज्ञान सिद्धान्त की विशेषताएँ
1.2.5.6 आलोचना
1.2.7 आदर्श राज्य का सिद्धान्त
1.2.7.1 आदर्श राज्य की विशेषताएँ
1.2.7.2 विवेचना
1.2.8 दार्शनिक राजा का सिद्धान्त
1.2.9 दार्शनिक राजा सिद्धान्त की आलोचना
1.2.10 शिक्षा सिद्धान्त
1.2.10.1 स्वरूप और आधार
1.2.10.2 पाठ्यक्रम
1.2.11 स्त्रियों तथा सम्पत्ति का साम्यवाद
1.2.11.1 विशेषताएँ और आलोचना
1.2.11.2 विवेचना
1.2.12 अन्य कृतियाँ और विचार
1.2.13 सार/सारांश
1.2.14 अभ्यास/बोध प्रश्न
1.2.14.1 बहुविकल्पीय प्रश्न
1.2.14.2 लघु उत्तरीय
1.2.14.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
1.2.15 कठिन शब्दावली
1.2.16 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.2.1 उद्देश्य कथन

1. यह इकाई प्लेटो के राजनीतिक चिन्तन को तत्कालीन यूनानी चिन्तन की प्रासांगिकता समझने तथा सन्दर्भ में सहायता करेगी और उसके औचित्य को स्पष्ट कर सकेगी।
2. प्लेटो की राजनीतिक संकल्पनाओं को स्पष्ट किया गया है और उनके बीच तार्किक अन्तसम्बन्ध को स्पष्ट किया गया है।
3. प्लेटो के विचारों को व्यक्त करते हुये उन्हें स्पष्ट करने के क्रम में सोफिस्टो चिन्त कों के प्रासंगिक विचारों को, न्याय, दार्शनिक शासन शिक्षा तथा स्त्रियों सम्पत्ति के साम्यवाद के विचारों को समझाया गया है।
4. सम्पूर्ण चिन्तन के सन्दर्भ में, उसके सम्पूर्ण राजनीतिक चिन्तन पर प्लेटो के प्रभाव और उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप विकसित होने वाले राजनीति विचार को समझ सकेंगे।

1.2.2 प्रस्तावना -

प्लेटो प्राचीन यूनानी राजनीतिक चिन्तन का पहला प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक है। उसने सुकरात के दर्शन को राजनीतिक स्वीकार दिया। सुकरात के दर्शन को स्पष्ट करने के क्रम में उसने न्याय का सिद्धान्त दिया। न्याय का विचार प्लेटो के दर्शन का आधार है। उसकी यह संकल्पना तत्कालीन सोफिस्टों के प्रतिपक्ष में व्यापक मानवीय व नैतिक थी। इसी को पुष्ट करने और व्यावहारिक रूप से स्थापित करने के लिए प्लेटो ने शिक्षा सिद्धान्त तथा स्त्रियों और सम्पत्ति के साम्यवाद का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। दार्शनिक राजा का सिद्धान्त उसके न्याय सम्बन्धी संकल्पना से ही सम्बन्धित है। रिपब्लिक में उसके विचार प्रस्तुत किये गये है जो मुख्यतः आदर्शात्मक धरातल पर रचे गये है किन्तु बाद के समय में लिखे गये ग्रन्थों में मुख्यतः 'द स्टेरटस मैन' और 'द लॉज' में आदर्शवादी विचार कम हुये। द लॉज मे वह व्यावहारिक आवश्यकताओं और सामाजिक स्थिति को समझते हुये कानून को प्रतिष्ठित करने का विचार रखता है। प्लेटो की आलोचना उसके विचारों को स्पष्ट करने के क्रम में मिलती है। लेकिन वह अपने विचारों से राजनीतिक विचारों को शुरूआत करने में सफल रहा।

1.2.3 जीवन परिचय और रचनाए

अस्टिोक्लीज जिसे अच्छे स्वास्थ्य और शारीरिक गठन के लिये प्लेटो उपनाम दिया गया राजनीतिक चिन्तन के इतिहास का अग्रणी पुरुष है। वह सुकरात का शिष्य था और उसके विचारों तथा जीवन से बहुत प्रभावित था। सुकारत को दिये गये मृत्यु दण्ड ने प्लेटो के जीवन में आधारभूत परिवर्तन किया और इसी कारण उसने सावर्जनिक जीवन में सक्रिय भूमिका का विचार त्यागकर दार्शनिक जीवन अपना लिया। प्लेटो की पृष्ठभूमि महत्वपूर्ण है। उसकी पृष्ठभूमि से तत्कालीन एथेंस की राजनीति में सामाजिक पृष्ठभूमि असर का पता चलता है। किन्तु प्लेटो का वैचारिक अवदान इससे कही अधिक महत्वपूर्ण है।

सर्वप्रथम प्लेटो ने ही राजनीतिक दर्शन को प्रतिष्ठित किया। राज्य, नागरिक, न्याय, राजा, व्यक्ति राज्य सम्बन्ध की पृष्ठभूमि तथा राजनीतिक गतिविधियों पर विस्तार से चर्चा की। इसके पीछे एथेंस की तत्कालीन परिस्थिति का बड़ा योगदान था। प्लेटो द्वारा राजनीतिक चिन्तन की मूल संकल्पानाओं पर व्यक्त किये गये विचार आज तक राजनीतिक दर्शन को प्रभावित करते है। राजनीति के अध्ययन के लिये

भी प्लेटो ने अपनी पद्धति विकसित की जिससे अध्ययन पद्धति का समानान्तर विकास हुआ। प्लेटो ने सुकरात की शिक्षाओं को व्यवस्थित अकादमिक रूप दिया। वर्तमान के वैज्ञानिक प्रणाली सम्पन्न राजनीति विज्ञानियों ने प्लेटो के राजनीतिक दर्शन को आदर्शात्मक और काल्पनिक माना है। हालाँकि ऐसा प्रामाणिक रूप से कहना गलत होगा। अपने द्वारा रचित ग्रन्थों और व्यावहारिक गतिविधियों से प्लेटो ने यह सिद्ध किया कि वह व्यावहारिक गतिविधियों से प्लेटो ने यह सिद्ध किया कि वह व्यावहारिक राजनीति का संयोग अपनी आदर्शात्मक योजना के साथ करने का इच्छुक था। इसी क्रम में उसके राजनीतिक विचार विकसित हुये। प्लेटो के राजनीतिक विचार बहुत महत्वपूर्ण है।

प्लेटो का जन्मे 428 ई.पू. के लगभग प्रतिष्ठित परिवार में हुआ था। माता और पिता दोनों पक्ष से वह राजनीतिक रूप से प्रभावशाली वंश परम्परा से था। लेकिन सामान्यतया उसका परिवार उदारवादी या परिवर्तनवादी था। वह सामान्य कुलीन एथेंसवादी युवक की तरह अपना सावर्जनिक जीवन शुरू करना चाहता था लेकिन सुकरात को दिये गये मृत्यु दण्ड से व्यथित हुआ। 368 ई.पू. तक वह एक लेखक और सुकरात के समर्थक विचारक के रुप में कार्य करता रहा किन्तु इसी वर्ष उसने अकादमी नाम की शिक्षण संस्था को स्थापित किया। अकादमी पूरे यूनान की प्रसिद्ध शिक्षण संस्था थी और मुख्य रूप से उसमें दर्शन, गणित और तर्कशास्त्र को शिक्षा दी जाती थी। सत्तर वर्ष की अवस्था के आस-पास उसने सराक्यूरज के शासक डायोनिसियस (Dlonyslos) को आपने दर्शन के लोकप्रिय सिद्धान्त दार्शनिक शासक को मूलभूत को मूर्त रूप देने का प्रयास किया । इस तरह का प्रयास दो बार किया गया। दोनों बार डायोनिसियस और प्लेटो के बीच संचालन और सिद्धान्त को मूर्त रूप में लाने की प्रक्रिया को लेकर गम्भीर मतभेद पैदा हो गये। दूसरी बार उसे एक प्रकार से बन्दी बना लिया गया अपनी प्रतिष्ठा और सम्बन्धों के कारण वह किसी भी प्रकार मुक्त हुआ। इस असफलता के बाद प्लेटो के दर्शन का आदर्शवादी रूख कम होता गया और वह अधिक से अधिक यथार्थवादी होता गया। उसके बाद की रचना इसकी पुष्टि करती है। रिपब्लिक में जहाँ हमें आदर्श राज्य, 'दार्शनिक राजा का सिद्धान्त'जैसे सिद्धान्त दिखाई देते है। जबकि जीवन के उत्तरार्ध में लिखे 'लॉज' मे यह कठोर आदर्शवाद अनुपस्थित मिलता है। लाज विशुद्ध व्यावहारिक दृष्टिकोण से राजनीतिक विषय पर लिखा गया है। यह प्लेटो के सैद्धान्तिक उच्चता के साथ-साथ व्यवहार में अच्छी समझ को दर्शाता है । प्लेटो ने बहुत से ग्रन्थों की रचना की ।

कुछ ग्रन्थ विशद् है जबकि कुछ अत्यन्त छोटे। किन्तु सभी ग्रन्थ सजगता और गम्भीरत से लिखे गये है और अपने विषय पर आधिकारिक है। प्लेटो ने सन् 386 ई.पू. में 'द रिपब्लिक' लिखी। द स्टेट मैन 300 ई.पू. में और द लाज 347 ई.पू. में लिखी गयी। ये तीनों पुस्तेकें प्लेटो की प्रसिद्ध का वास्तविक आधार है। एपोलॉजी, क्रीटो, कार्मिडेज, प्रोटागोरस, गार्जियास, एन्थीडेमस आदि अन्य छोटी रचनाएं है। वास्तव में रिपब्लिक और लॉज में दो भिन्न आदर्श है। स्वयं उसके द्वारा स्थापित एकेडमी उसके विचारों को मूर्त रूप देने का संस्थागत आधार के रूप में काम करता था जिससे बहुत से विचारक, प्रचारक और राजनीतिज्ञ निकले। व्यावहारिक होने के कारण लॉज ने रिपब्लिक की अपेक्षा यूनानी जीवन और राजनीतिक पर कही अधिक प्रभाव डाला। स्टेरटसमैन की रचना अवधि इन दोनों ग्रन्थों के बीच की है। प्लेटो ने अपनी रचनाओं के माध्यमों से सुकरात सहित तत्कालीन यूनानी के अन्य विचारकों तथा विचारों

को हमारे सामने मूर्त किया। सुकरात ने स्वयं कोई ग्रंथ नहीं लिखा। हम प्लेटो की रचनाओं को मध्यम से ही सुकरात के नियमों से अवगत हुये।

1.2.4 अध्ययन शैली और विचार पद्धति

प्लेटो ने एक नयी शैली का प्रयोग किया। यह सुकरात की वाचिक पद्धति से प्रभावित लगती है। सुकरात के सत्य की अनुसंधान की पद्धति द्वन्द्वात्मक थी। जिसमें परस्पर वाद-विवाद के द्वारा सत्य का अनुसंधान किया जाता है। इसे प्लेटो ने अपनी पुस्तकों में विधिवत अपनाया। इसमें विचार को केन्द्र में रखकर उसके विश्लेषित करने का प्रयास किया जाता है। पक्ष और विपक्ष में परस्पर तर्क-वितर्क किया जाता है।

प्लेटो की अध्यायन पद्धति दार्शनिक पद्धति मानी गई । उसकी रचनाओं में विश्लेषणात्मक और आगमन पद्धति देखने को मिलती है। हलाँकि यह विवादस्पद है। प्लेटो अपनी रचनाओं में कुछ सहज सिद्धि मानकर चलता है। यह निगमनात्मक (क्मकनबजपअम) पद्धति का लक्षण है। यह दार्शनिक पद्धति के साथ जुड़ी हुई है। किन्तु कुछ बातें निर्वाद सत्य है कि प्लेटो की तुलना में अरस्तु की पद्धति ही वैज्ञानिक कही जा सकती है क्योंकि उसने परीक्षण का आधार अवलोकन को बनाया गया। उसकी तुलना में प्लेटो काल्पनिक, दार्शनिक और पूर्व निश्चित निष्कर्षो को सिद्ध करने के लिये निगमात्यक पद्धति का प्रयोग किया।

प्लेटो ने सुकरात की भौतिक ही अपनी साहित्य में दृष्टान्तों का बहुत प्रयोग किया है। अपने विचारों को समझाने तथा अपने निष्कर्षो से सहमत करने के लिए प्लेटो ने बहुत से उदाहरणों का प्रयोग किया है जो उपरी और आन्तरिक सभ्यता रखते प्रतीत होते है। यह उदाहरण सामाजिक जीवन, कथा जीव जगत और व्यवहार सभी क्षेत्रों से उठाये गये है। उसका बहुचर्चित उदाहरण है कि वह शासक की तुलना कभी चिकित्सक और कभी राजनीतिक कर्म की तुलना् कला कर्म से करते हुए सामान्य जन को उससे दूर रहने की वकालत करता है। अपने गुरू की भौतिक प्लेटो का भी यह मानना था कि राजनीति एक कला है और इसके लिए कलाकार की भौति ही विशेषज्ञ होना आवश्यक है। उसकी रचनायं इस विश्वास की पुष्टि में ही लिखी गई है। इस तरीके की आलोचना की है। उसने बहुत से उदाहरण पशु-जगत से दिये जो आलोचकों स्वीकार्य नहीं है। दूसरे यह सभ्यता जो उपरी स्तर सामान्यतया सही दिखाई देती है वास्तव में एक धरातल या प्रकृति की नहीं होती है।

1.2.5 न्याय सिद्धान्त

न्याय सम्बन्धी विचार प्लेटो के चिन्तन का मूल विचार है जो उसको पुस्तक 'रिपब्लिक'के केन्द्र में स्थापित है। प्लेटो का आदर्श राज्य न्याय के बिना सम्भव हो सकता था। प्लेटो के लिये न्याय की भावना और विचार इतने महत्वपूर्ण है कि उसकी महत्वपूर्ण रचना 'रिपब्लिक'को न्याय के लिए लिखा मान लिया जाता है। यह अतिश्योति नहीं है क्योंकि उसने रिपब्लिक का उपशीर्षक कंसर्निंग जस्टिस अथवा न्याय से सम्बन्धित रखा। प्लेटो के अनुसार न्याय के विधिवत लागू होने से राज्य समृद्ध, प्रगतिशील, मानवीय और सभ्य बनता है। न्याय के उपस्थित होने से राज्य हर उस दोष से बचा रहता है जो राज्य के स्थायीत्व के लिये खतरा होते है। प्लेटो के समय राज्य के स्थायित्व को जिस प्रकार की चुनौती थी उसे न्याय के विचार को मूर्त रूप में लाकर ही सोफिस्टक के अलग-अलग सम्प्रदायों द्वारा न्याय की परिभाषा

को समीक्षा करते हुए न्याय के वास्तविक अर्थ को स्थापित करना था। यह प्रयास केवल अकादमिक नही था बल्कि उसे व्यावहारिक रूप देना प्लेटो की सर्वोच्च प्रथामिकता थी। किन्तु सर्वप्रथम सोफिस्टो के न्याय संबंधी विचार को समझना होगा। और इसी के समान्तर प्लेटो द्वारा आपत्तियों को स्पष्ट किया जाना अपेक्षित है।

1.2.5.1 परम्परवादी विचारको के सिद्धान्त

न्याय के परम्परावादी विचार सोफिस्टो के एक सम्प्रदाय के है। जिसका प्रतिनिधित्व सिफिलस तथा उसके पुत्र पालिमार्कस करते थे। सिकिलस का कहना था कि अपने वचनों को पूरा करना देवताओं तथा मित्रों के प्रति अपने ऋण को चुकाना ही न्यांय होता है। जबकि उसके पुत्र पॉलीमार्कस का प्रसिद्ध कथन है कि 'मित्रों' के प्रति भलाई करना और शत्रुओं के प्रति बुराई करना ही न्याय होता है। इस प्रकार उनका विशुद्ध व्यावहारिक दृष्टिकोण सामने आता है जो न्याय की आधारभूत गुण न मानकर सामान्य जनजीवन में अपनाया जाने वाला एक उपरी व्यवहार माना जाता है इसके लिये व्यक्तियों को विशेष प्रयास से उच्चतर मूल्यों के प्रति समर्पण की आवश्यकता नही पड़ती है।

प्लेटो इसका आलोचक है। उसके अनुसार यदि परम्परावादी विचारकों के न्याय सिद्धान्तो को स्वीकार किया जाये तो न्याय एक ऐसी कला के रूप में सामने आता है जिसका परस्पर विरोधी उपयोग या दुरूपयोग किया जा सकता है मानों चिकित्सक किसी रोगी को स्वस्थ करने की शक्ति भी रखे और बीमार करने की भी। जाहिर है इसे उचित नही माना जा सकता न्याय एक श्रेष्ठ और उच्चतर मूल्य है। दूसरे प्लेटो का कहना है कि न्याय को कला नही मान सकते। न्याय के प्रति इस प्रकार का विचार निरपेक्ष नही है। सोफिस्टो का न्याय सिद्धान्त समय के साथ बदलता रहता है। सोफिस्ट का न्याय को देखने का नजरिया व्यक्ति परक है। व्यक्ति परक नजरिया वैज्ञानिक मूल्याँकन करने में असमर्थ होता है। किसी व्यक्ति के उपरी व्यवहार को देखकर हम शत्रु और मित्र की पहचान नही कर सकते। इस प्रकार न्याय की अवधारणा हमें स्थायी निधि प्रदान नही करती है। न्याय जैसी संकल्पना हमें दुविधा में सही रास्ता दिखाती है। लेकिन सोंफिस्टोप की परम्परावादी अवधारणा हमें संशय में डालती है। यह स्वीकार्य नहीं है।

1.2.5.2 उग्रवादी धारा के सोफिस्ट

इस धारा का प्रमुख विचारक सोफिस्टव थ्रेसीमेकस था। उसने ही इस सम्बन्ध में सारे विचारों को स्पष्ट किया। उसने कहा कि न्याय शक्तिशाली का हित या स्वार्थ है। उनके विचार में शक्ति और न्याय एक दूसरे के पर्यायवाची से प्रतीत होते है। इसके पीछे का मुख्य तर्क यह है कि सभी प्रकार की सत्ता कुछ विशेष लोगों के हितों के लिये काम करती है। यह लोग समाज के प्रभावशाली लोग होते है अपने हितों को वे कानून का नाम देते है। इसके उल्लंघन पर लोगों को दण्डित किया जाता है। उपरी तौर पर यह लगता है कि राज्य के कानूनों का पालन करना ही न्याय है जब कि सच्चाई यह होती है ये कानून शक्तिशाली लोगों के हित में बनाये गये होते है। इसको ही न्याय के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। थ्रेसीमेकस का एक और कथन इसी विचार को पुष्टी करता है। उसने कहा कि 'अन्याय करना न्याय करने से अधिक अच्छा है'। ऐसे राज्य और समय में जहाँ शक्तिशाली के हित को ही न्याय माना जाता रहा हो वहाँ लोगों में परस्पर असन्तोष और गैर भाव होना स्वाभाविक है। इस तरह की परिस्थिति में प्रत्येक व्यक्ति शक्तिशाली बनना चाहता है और प्रभाव अर्जित करना चाहता है। इस प्रकार होड़ मे दूसरों के प्रति

कोई नैतिक अथवा कानून जिम्मेदारी नहीं रखी जाती और अधिक शक्तिशाली होना तभी सम्भव है जब व्यक्ति न्याय या कानून के प्रावधानों और रीती-रिवाजों का अपने पक्ष में उपयोग करें। अर्थात अन्याय करें।

प्लेटो इस विचारों का भी खण्डन करता है। उसके अनुसार शासन नामक कला का उद्देश्य सम्पूर्णता प्रदान करना होता है। वह किसी के निजी स्वार्थ के लिये प्रयोग में नही लाई जा सकती उसका उद्देश्य उच्चतर होता है। प्लेटो के अनुसार प्रत्येक वस्तु का एक निश्चित कार्य उद्देश्य होता है। आत्मा का गुण न्याय होता है। न्याय के अभाव में आत्मा की कल्पना नही की जा सकती। आत्मा के सुखी और सन्तुष्ट रहने के मानदण्डों सांसारिक वस्तुओं के सम्बन्धों से अलग होते है। वह श्रेष्ठ, उच्चतर और व्यापक है। थ्रेसीगेकस की न्याय संबंधी परिभाषा स्वीकार्य नही है वह संघर्ष और शत्रुता को स्थापित करती है।

1.2.5.3 व्यावहारिक सिद्धान्त

ग्लाकन न्याय के व्यवहारवादी सिद्धान्त का प्रमुख विचारक था। उसका कहना था कि न्याय शक्तिशाली व्यक्तियों का हित नही वरन् दुर्बल व्यक्तियों का हित है। न्याय भय की सन्तान है। वह मानता था कि मनुष्य एक स्वार्थी प्राणी है। वह हर कृत्य और गतिविधि को आत्मासंरक्षण के लिये करता है। प्रकृति मे कमजोर व्यक्तियों की बहुतायत है वे अकेले किसी प्रभावशाली या शक्तिशाली का मुकाबला नही कर सकते। आत्मसंरक्षण की भावना ही उन्हें अपने जैसे अन्य व्यक्तियों के साथ समझौते के लिये प्रेरित करती है। इस समझौते के फलस्वरूप इस विचार पर सहमति बनती है कि ऐसे कारणों को मान्यता दी जाये जो लोगों का सामान्य रूप से संरक्षण करते हो। यह कानून है। यह न्याय है इस प्रकार ग्लोकन के अनुसार न्याय का स्रोत व्यक्ति का है। जो उसे आत्मसंरक्षण के लिये प्रेरित करता है।

व्यवहारवादी सोफिस्ट यह मानते है कि मनुष्य की सचेत गतिविधि से पैदा होने के कारण न्याय कोई प्राकृतिक या नैसर्गिक चीज नही है बल्कि यह एक कृतिम चीज है। सुरक्षा के लिये न्याय के विचार की उत्पत्ति हुई है। अपनी संख्या बल के कारण दुर्बल लोग प्रभावित होते है।

प्लेटो व्यवहारवादी विचारक ग्लाकन के दृष्टिकोण से सभी सहमत नही है। न्याय को इस प्रकार नही देखा जाना चाहिए प्लेटो की मान्यता है कि व्यवहारवादी दृष्टिकोण न्याय को एक बाहरी चीज बना देते है। न्याय भय से पैदा नही हो सकता है। यह आत्म स्वीकृति है। सबकी आत्मा से सम्बन्धित होने के कारण यह व्यक्तियों के किसी एक समूह या वर्ग से सम्बन्धित नही हो सकती और इसीलिए दो वर्गांे में समझौते के फलस्वरूप सबकी न्याय उत्पन्न नही हो सकता। समझौते संसारिक वस्तुओं के लिये, सामाजिक सम्बन्धों के लिये कारण निर्मित किये जाने के लिये है। यह उपरी बाहरी और सतही है।

1.2.5.4 प्लेटो का न्याय सिद्धान्त

प्लेटो न्याय के विषय में विस्तृत और गहन विचार रखता है। उसके अनुसार न्याय मानवीय आत्मा. का सहज गुण है। स्वार्थ रहित विवेक द्वारा चिन्तन करके हम अपनी आत्मा को पहचान सकते है। सहजभाव में बिना किसी उपरी बाध्येता के मनुष्य अपने आन्तरिक गुणों के अनुसार ही कार्य करता है। यह आन्तरिक गुण उसकी प्रकृति को निर्धारित करता है।

प्लेटो के अनुसार प्रत्येक मनुष्य में तीन प्राकर की नैसर्गिक प्रवृति होती है पहला ज्ञान (Reason) दूसरा (Splrlt) तथा तीसरा भूख या क्षुधा (Appetlte) । इन तीनों चीजों से मानवीय आत्मा में एक संतुलन और एकता बनती है। प्लेटो के अनुसार इन तीन तत्वों से कई तरह के बाहरी प्रतिबिम्ब बनते है।

सबसे अच्छी बात यह होगी कि किसी व्यक्ति में तीनों तत्वों का संतुलित रूप सामने आये जिस व्यक्ति में यह संतुलित रूप में सामने आता है वह न्याय को सबसे स्पष्ट रूप में प्रदर्शित करता है।

किन्तु यह आवश्यक नही है कि सभी व्यक्तियों में इन तीनों तत्वों का समन्वय रहे। साधारण या व्यक्ति में किसी एक ही गुण की प्रधानता पायी जाती है हालाँकि अन्य गुण भी उपस्थित होते है लेकिन वह गौण रूप में ही रहते है। इस प्रकार एक प्रधान गुण ही उस व्यक्ति की व्यक्तिगत प्रकृति बन जाती है। प्लेटो के अनुसार इसी प्रकृति के अनुसार आचरण अथवा कार्य करना ही व्यक्तिगत न्याय है। जिस व्यक्ति के अन्दर ज्ञान की प्रधानता होती है वे शासन सम्बन्धी कार्य को कुशलतापूर्वक संचालित करते है। जबकि क्षुधा की प्रधानता वाले वर्ग उत्पादक कार्यो से जुड़ते है। साहस तत्व की प्रधानता से सम्पन्न वर्ग रक्षा कार्य अथवा सैनिको के लिये निर्धारित कार्य के लिये उपर्युक्त होते है। सभी वर्गो का अपनी-अपनी व्याक्तिगत प्रवृति के अनुसार आचरण करना ही न्याय है।

इसी से न्याय का सामूहिक पक्ष सामने आता है। प्लेटो के अनुसार व्यक्तिगत न्याय से ही राज्य का स्वरुप सामने आता है। क्योंकि व्यक्ति और राज्यों का जुड़ाव आत्मा के बन्धन सूत्र से है। इसलिये जब व्यक्तिगत स्तर पर न्याय प्राप्त हो जाता है। सामूहिक स्तर पर उसकी प्राप्ति अवश्य भावी हो जाती है। आत्मा सूक्ष्म रूप में मानव में और विराट रूप में राज्य में प्रतिबिम्बित होती है।

राज्य के स्तर पर न्याय का अर्थ संतुलन से लगाना चहिए। प्लेटो के अनुसार राज्य में न्याय की उपलब्धि तभी सम्भव है। जब सभी व्यक्ति अपनी-अपनी प्रवृति के अनुसार ही कार्य करें। कोई अपनी प्रवृति के विपरित कार्य न करें और कोई भी दूसरे के कार्य मे हस्तक्षेप न करें। प्लेटो के अनुसार इसी से राज्य में न्याय की स्थापना हो सकती है। न्याय के दो पक्ष होते है व्यक्तिगत और सामाजिक न्याय की कल्पना दोनों मे से किसी एक के अभाव मे नही की जा सकती। न्याय के माध्यम से ही आदर्श राज्य की स्थापना सम्भव है। सेबाइन ने प्लेटो के न्याय सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए कहा है कि ‘‘न्याय वह बन्धन है जो मानव समाज को एकता के सूत्र में बाँधता है। यह उन व्यक्तियों के बीच संतुलन की संज्ञा है जिसमें से प्रत्येक ने अपनी शिक्षा-दीक्षा एवं प्रशिक्षण के अनुसार अपने-अपने कर्म को चुन लिया है और उसका पालन करते है। यह एक व्यक्तिगत सद्गुण और सामाजिक सद्गुण है क्यों कि इसके द्वारा राज्य तथा इसके सदस्यों का समान से हित पूर्ति होती है।

संक्षेप में प्लेटो के न्याय सम्बन्धित विचार के विषय में यह कहा जा सकता है कि व्यक्तियों द्वारा अपनी प्रकृति के अनुसार व्यक्तिगत न्याय की स्थिति का द्योतक है जबकि किसी राज्य में सभी व्यक्तियों द्वारा अपने-अपने प्रवृति के अनुसार आचरण करना सामूहिक न्याय को प्रदर्शित करता है। प्रत्येक घटन का अपने प्रकृति प्रदत गुण के अनुसार आचरण करना ही न्याय है। प्लेटो का न्याय सिद्धान्त एक एकता है जो व्यक्तियों और समाज के हित को आपस में जोड़ता है। यह पूर्णता के लिये आवश्यक है। एक आदर्श राज्य की अनिवार्य विशेषता उसकी पूर्णता होती है। यह पूर्णता व्यक्तिगत और सामूहिक सभी पक्षों से मिलकर बनती है आवश्यक है प्रकृति अनुकूल आचरण इसकी पृष्ठभूमि तैयार करता है। यह प्लेटो का मूल लक्ष्य है जिसे वह अपने दर्शन के माध्यम से प्राप्त करना चाहता है। उसके दर्शन की अन्य सभी संकल्पनाए राज्य में न्याय के लिये आवश्यक परिस्थिति और आधार को निर्मित करने के उद्देश्य के लिए दी गई है।

1.2.5.5 ज्ञान सिद्धान्ते की विशेषज्ञाएँ -

प्लेटो के न्याय सिद्धान्त की विशेषताओं को निम्नलिखित बिन्दुओं के द्वारा और अधिक स्पष्ट कर सकते है-

पहला, न्याय आत्मा का अनिवार्य गुण है। इसके द्वारा ही आत्मा अपने प्रकट रूप में लोगों के समक्ष आती है। यह मूल रूप में आन्तरिक विशेषता है जो समन्वयकारी गुण के रूप में सामने आता है। मानवीय आत्मा में न्याय तीन गुणों विवेक साहस और क्षुधा के रूप में उपस्थित होता है। न्याय एक तत्व भी है और स्थिति भी। जब यह सामूहिक रूप में प्रदर्शित होता है तो तीनों तत्वों समन्वय के रूप में सामने आता है। दूसरा, प्लेटो का न्याय सिद्धान्त कार्य के विशेषीकरण का सिद्धान्त भी कहा जाता है। सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्रवृति के अनुसार कार्य करना चाहिए। तभी न्याय की उपलब्धि सम्भसव हो सकती है। इस विशेषीकरण में एक श्रेणीक्रम भी है। विवेक के तत्व से सम्पन्न व्यक्ति को उस पर, साहस और क्षुधा से सम्पन्न व्यक्ति को क्रमशः उससे नीचे माना गया है। कार्य विशेषीकरण सिद्धान्त से ही जुड़ा हुआ सिद्धान्त अहस्तक्षेप का भी है जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने लिए निर्धारित अथवा अपनी प्रवृति का कार्य ही करना चाहिए इससे एक सन्तुलन बना रहता है। यही न्याय की स्थिति है। तीसरी, सामाजिक स्तर पर न्याय सभी तरह के लोगों द्वारा अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार कार्य है तथा सामाजिक स्तर पर विवेक के तत्व को प्रधानता दी जाती है। विवेक सम्पन्न लोग राज्य की भलाई के लिये साहस तथा क्षुधा सम्पन्न लोगों का निर्देशन करते है। इस राज्य में न्याय सामाजिक एकता का सिद्धान्त है। कार्यो और गुणों के आधार पर विभाजित समाज के तीनों वर्ग अलग-अलग होते हुए भी सामाजिक एकता के प्रतीक है।

चैथा, प्लेटो का न्याय सिद्धान्तो एक नैतिक सिद्धान्त है। न्याय आत्मा में का एक नैतिक गुण है जो सावर्जनिक स्तर पर आत्मा के विस्तार राज्य नामक संस्था में भी नैतिक रूप से उपस्थित होता है। नैतिक स्वरुप का होने के कारण यह कानूनी तरीके से उपलब्ध नहीं हो सकता क्योंकि कानून का तत्व नही है। यह मनुष्य की स्वार्थमय कृत्रिम गतिविधि से पैदा व्यवस्था है।

पाँचवा, प्लेटो के न्याय सिद्धान्त से व्यक्ति के जीवन और राज्य की व्यवस्था का आन्तरिक सम्बन्धों के रूप में परिभाषित करता है। यहाँ व्यक्ति और राज्य के उद्देश्यों में एकता स्थापित होती है। यहाँ व्यक्तित्व का विकास वास्तव में सामाजिक विकास का रूप बन जाता है। सामाजिक नीति व्यक्तिगत स्वीकृति का पर्याय बन जाती है। स्वतंत्रता का अद्भुत व्याख्या प्लेटो के न्याय सिद्धान्त में दिखाई देती है। राज्य के निर्देशों के पालन द्वारा वास्तव में व्यक्ति वास्तव में अपनी ही स्वतंत्र प्रकृतिक का मांग के अनुसार आचरण कर रहा होता है।

1.2.5.6 आलोचना

प्लेटो के न्याय सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनाए निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर की जाती है-

पहला, बार्कर के अनुसार प्लेटो का न्याय वास्तव में न्याय नही है। वह मनुष्यों को अपने कर्तव्यों तक सीमित रखने की भावना है। नैतिक कर्तव्य और प्रवृत्ति के अनुसार व्यवहार वास्तव में एक अस्पष्ट अवधारणा है यह सभी को स्पष्ट नही हो सकता।

दूसरा, यह मनुष्य की प्रकृति का सरलीकरण है। मनुष्य की प्रकृति को प्लेटो ने केवल तीन वर्गो में बाँटा है। यह श्रम विभाजन न केवल अतार्किक है बल्कि गतिशीलता को भी अवरूद्ध करता है। व्यावहारिक जीवन में हम लोगों के कार्यो में बहुत परिवर्तन देखते है। प्लेटो का सिद्धान्त इसको मान्यता नही देता है।

तीसरा, इसमें कर्तव्यों पर अधिक जोर है। नैतिक अवधारणा होते हुए भी व्यक्तिगत स्तर पर प्राधान्य गुण का निर्धारण एक बाहरी सत्ता द्वारा किया जाना नैतिकता का लक्षण नही है। व्यक्ति के स्तर पर तीनों मे से किसी एक गुण को उसकी प्रकृति मानी जाती है जबकि राज्य के स्तर पर तीनों गुणों का एक संतुलन सही माना गया। जो विवेक के नियंत्रण में कार्य करता है। इस प्रकार व्यक्तिगत से सामूहिक स्तर पर जाने पर मानक बदल जाता है।

चैथा, प्रो. सेबाहन ने कहा है कि प्लेटो की न्याय कल्पना जड़, आत्मपारक, निष्क्रिय, अनैतिक, अव्यवहारिक एवं विश्वसनीय है। यह व्यक्ति को एक स्थायी भूमिका को गैर लोकतांत्रिक तरीके जोड़ देता है। जिससे उसकी कोई इच्छा शामिल नहीं होती है।

पाँचवा, कार्य विशेषीकरण और विकास बटे हुए समाज को जन्म देता है। इसमें नैतिक एकता नही प्राप्त हो सकती। ऐसा समाज संघर्ष के रास्ते पर चल निकलता है। विवेक सम्पन्न वर्ग के उपर कोई नियन्त्रण नही रख पाता है। उसे ही सभी कुछ नियन्त्रण करने का अधिकार दिया गया है। यह पूरी संकल्पना ही विवादास्पद है इसे व्यावहारिक नही माना जा सकता।

1.2.7 आदर्श राज्य का सिद्धान्त

प्लेटो ने आदर्श राज्य की अवधारणा अपनी पुस्तक रिपब्लिक में प्रस्तुत किया। उसके आदर्श राज्य में शासक तत्कालीन यूनानी राज्य की सभी बुराईयों को समाप्त करके हुये व्यक्ति और समाज दोनों के लिये उपयोगी विचारों के प्रति प्रतिबद्धता है। प्लेटो व्यक्ति तथा राज्य के बीच आन्तरिक एकता में विश्वास रखता है। उसके अनुसार जो कुछ व्यक्ति में पाये जाते है वही गुण विस्तृत रूप में राज्य में पाये जाते है। राज्य व्यक्ति का विस्तार है। व्यक्तियों के भीतर पाये जाने वाले गुण ही विस्तार है। इस प्रकार हम कह सकते है कि न्याय, स्वतंत्रता, कर्तव्य, कानून सभी के मूलभूत व्यक्ति के साथ सम्बन्धित होता है। इसलिए व्यक्तिगत का आदर्श सहज रूप में राज्य का आदर्श बन जाता है।

मनुष्य की आत्मा में विवेक, साहस और क्षुधा नामक तीन तत्वो पाये जाते है जिससे तीन तरह के वर्गो विवेक सम्पन्न, सैनिक और व्यापारी अथवा सामान्य जन का जन्म होता है। प्लेटो के अनुसार व्यक्ति के भीतर पाये जाने वाले ये तीन गुण राज्य में भी पाये जाते है। इन्ही के आधार पर राज्य का निर्माण होता है। प्लेटो ने स्वयं कहा कि ‘‘राज्य का जन्म वृक्षों या चट्टानों से नही अपितु उसमे बसने वाले व्यक्तियों के चरित्र से होता है। जैसे व्यक्ति होते है वैसा राज्य बन जाता है। किसी भी राज्य में न्याय की उपलब्धि उसमें उपस्थिति तीनों तत्वों के समन्वय से होती है। यह समन्वय तभी स्थापित हो सकता है जब विवेक का तत्व अन्य दोनों का निर्देशन करें। आदर्श राज्य में यही स्थिति होती है। प्लेटो विवेक के तत्व को आदर्श राज्य का सबसे महत्वपूर्ण तत्व मानता है। इसलिए वह आदर्श राज्य में शासन दार्शनिक राजाओं द्वारा किये जाने का विचार प्रस्तुत किया जाता है। आदर्श राज्य में तीन वर्गो की उपस्थिति होती है। पहला संरक्षक वर्ग (ळनंतकपंद) है जो विवेक के तत्व का प्रतिनिधित्व करते है। इस वर्ग के लोगों का कार्य अन्य दोनों

वर्गो पर नियन्त्रण रखते हुए व्यक्ति तथा राज्य के स्तर पर न्याय को उपलब्ध कराया तथा उसके स्थायीतत्व को सुनिश्चित करना है।

दूसरा वर्ग सहायक संरक्षक या सैनिक वर्ग (Auxlllary Guardlans) है जिसका कार्य अभिभावक वर्ग के अधीन रहते हुए सुरक्षा सम्बन्धित सभी कार्यो को करना है। तीसरी वर्ग उत्पादक वर्ग है। इसके अन्तर्गत श्रम करने वाले व्यक्ति समूह आते है जिनका सीधा उद्देश्य अपना जीवन यापन करना होता है। यह वर्ग अभिभावक वर्ग के संरक्षण में अपना कार्य करता है।

1.2.7.1 आदर्श राज्य की विशेषताए

कुछ ऐसे सिद्धान्त है जिनके आधार पर आदर्श राज्य काम करता है। ये सिद्धान्त आदर्श राज्य की नींव तैयार करते है। सर्वप्रथम आदर्श राज्य के लिये आवश्यक है कि उसमें न्याय की उपलब्धि हो। न्याय से प्लेटो का आशय है कि व्यक्ति अपनी अपनी प्रवृति के अनुसार आचरण करें तथा राज्य के स्तर पर विवेक अर्थात दार्शनिक राजा का शासन अन्य दोनों वर्गो पर हो।

इसी से सम्बन्धित दूसरा सिद्धान्त है कि राज्य में कार्य का विशेषीकरण मान्य होना चाहिए। प्रत्येक को अपने लिये निर्धारित कार्य ही करना चाहिए तभी न्याय वास्तव में सम्भव हो सकता है। कार्यो के विशेषीकरण का सिद्धान्त श्रम विभाजन से जुड़ा हुआ है। इस विभाजन से पूरे समाज को एकता प्राप्त होती है क्योंकि सभी वर्ग अपना-अपना कार्य करते हुए वास्तव में राज्य की एकता के लिये ही कार्य कर रहे होते है।

तीसरा, प्लेटो के आदर्श राज्य की शिक्षा व्यवस्था उसकी मूल विशेषता है। उसका विश्वास था कि शिक्षा की सुव्यवस्थित प्रणाली के माध्यम से हम प्रत्येक की प्रवृति को जॉनकर उसके अनुकूल कार्य से सम्बद्ध कर सकते है। यह व्यक्ति और राज्य दोनों के लिए अच्छा है। प्लेटो सुकरात के इस सूत्रवाक्य 'ज्ञान ही सद्गुण है को व्यावहारिक रूप से एक प्रणाली में परिवर्तित करता है। शिक्षा के माध्यम से नागरिकों में चरित्र निर्माण सम्भव होता है। प्लेटो के आदर्श राज्य में शिक्षा व्यवस्था राज्य के उत्तरदायित्व या कर्तव्य में आती है। प्लेटो इसमें परिर्वतन धन न किये जाने का समर्थक है। दार्शनिक राजा को शिक्षा प्रणाली को उसी प्रकार रखना चाहिए जैसा उसने प्राप्त किया।

चैथा, प्लेटो ने आदर्श राज्य को शिक्षा की प्रणाली के माध्यम से प्राप्त करना सम्भव किया और दार्शनिक राजा के निर्देशन में उसे सौपा। दार्शनिक राजा को विचलन से बचाने के लिए उसने स्त्रियों और सम्पत्ति के साम्यवाद की व्यवस्था की। उसका मानना था कि विवेकशील व्यक्ति भी इन्ही दोनों लोगों के कारण अपने कर्तव्य से विचलित हो सकता है इसलिये उसने आदर्श राज्य में संरक्षक वर्ग के लिये स्त्री और सम्पति की व्यक्तिगत स्वामित्व का विरोध किया, और उन्हें सामूहिक रूप से सम्पत्ति व परिवार रखने की व्यवस्था का समर्थन किया।

पाँचवा, प्लेटो के अनुसार शासन एक कला है। आदर्श राज्य की पूरी संकल्पना इसी पर आधारित है। इसके लिए विशेषज्ञता की आवश्यकता होती है। प्रत्येक जनसाधारण इसके लिए पात्र नही होता है। दार्शनिक राजा जो सर्वोच्च विवेक सम्पन्न है वही शासन से लिये पात्र होता है। शासन सभी कलाओं में सर्वोच्च है। एक मूर्तिकार की विशेषज्ञता केवल मूर्ति तक सीमित होती है जबकि दार्शनिक शासक को प्रत्येक क्षेत्र में विशेषज्ञता रखनी होती है। इसलिए शासन एक कला है।

इस प्रकार इन विशेषताओं के साथ ही प्लेटो के आदर्श राज्य की संकल्पना मूर्त रूप ले सकता है।

1.2.7.2 विवेचना

आलोचकों के अनुसार आदर्श राज्य की अवधारणा अव्यवहारिक और काल्पिनक है। ऐसा आदर्श राज्य अस्तित्व में ही नहीं आ सकता। प्लेटो ने जो आधार बनाया उसे मूर्त रूप में नहीं लाया जा सकता। मानवीय प्रवृत्ति बहुत विविध होती है उसे केवल तीन वर्ग में नहीं बाँटा जा सकता। आदर्श राज्य में कार्य गैर व्यावहारिक है। एक ही मनुष्य अपने जीवन में कई बार प्रवृति में परिर्वन महसूस करता है। अलग-अलग समय पर उसकी भूमिकाए बदलती रहती है आदर्श राज्य में व्यक्ति की अवहेल दार्शनिक राजा को सभी विधियों से उपर रखकर निरंकुशता को प्रश्रय प्लेटो द्वारा दिया गया है। दार्शनिक राजा के संरक्षण में आदर्श राज्य की शिक्षा व्यवस्था यथा स्थिति बनाये रखने का साधन बन जाती है। इसमें प्रगतिशील तत्व नही है। प्लेटो के आदर्श राज्य में सामाजिक गतिशीलता का अभाव है। आदर्श राज्य के संकल्पना की एक विशेषता स्त्रियों और सम्पत्ति का साम्यवाद है। यह अवधारणा भी अव्यवहारिक और गैर सामाजिक है। संरक्षक वर्ग के लिये व्यक्तिगत रूप से परिवार न रखकर सामूहिक परिवार की व्यवस्था करना स्वयं मानव की मुलभूत प्रवृति का उल्लंघन है। यह मानव स्वभाव के विपरित है यह स्त्रियों के अधिकारों और सामान्य मानवीय व्यवहार की शर्तो के विपरीत है। इसलिए इसका समर्थन नही किया जा सकता।

1.2.8 दार्शनिक राजा का सिद्धान्त:

राजनीतिक चिन्तिन को दार्शनिक राजा का सिद्धान्त प्लेटो की मौलिक देन है। वह ऐसे राज्य की कल्पना करता है जो निहित स्वार्थ से उपर होकर सार्वजनिक कल्याण की भावना से प्रेरित होकर चलाया जाये और व्यक्तिगत और सार्वजनिक न्याय की उपलब्ध सम्भव बनता है। यह केवल विवेक सम्पन्न दार्शनिक राजा के द्वारा शासन करने पर ही सम्भकव है। दार्शनिक राजा ज्ञान की सम्पूर्णता को आत्मसात करता है और सत्य को उसके वास्तविक अर्थ में समझता है। उसका कोई व्यक्तिगत स्वार्थ नही होता। दार्शनिक शासक ज्ञान और सत्य का मूर्त प्रतीक है। प्लेटो को दार्शनिक शासक में अगाध विश्वास है। प्लेटो ने स्वयं लिखा है कि जब तक दार्शनिक राजा नही होते अथवा इस संसार के राजाओं में दर्शनशास्त्र के प्रति भावनापूर्ण भक्ति नही जगती तब तक नगर राज्य बुराईयों से मुक्त नही हो सकता।

प्लेटो के अनुसार दार्शनिक गुणों से सम्पन्न उन्हीं व्यक्तियों को शासक वर्ग में शामिल करते है जिसमें विवेक के तत्व की प्रधानता होती है। प्लेटो के दार्शनिक का व्यक्तित्व बहुत आकर्षक और उच्च मूल्यों से सम्पन्न है। वह व्यावहारिक, सैद्धान्तिक और आदर्शात्मक सभी गुणों से सम्पन्न है। दार्शनिक शासक किसी लिखित नियम यानि संविधान के अनुसार शासन नही चलाता है। विवेक का स्वामी होने के कारण उसे शुभ का ज्ञान है। इसलिए वह लिखित कानून और परम्परा से उपर होकर जनकल्याण के लिए अपने विवेक के अनुसार कार्य करता है। उसके उपर उसी प्रकार का प्रतिबन्ध नही होना चाहिए जैसे किसी चिकित्सक के उपर नही होता। वह हर सम्भव उपयुक्त साधनों से जनकल्याण के लिए कार्य करता है। उसकी बराबरी अन्य कोई सत्ता नही कर सकती वह अन्य वर्गो का आत्मीय हितैषी होकर उनका नेतृत्व करता है किन्तु वह किसी अन्य सत्ता के निर्देशों का पालन नही करता है। लेकिन ऐसा नही है कि दार्शनिक राजा के उपर कोई बाध्यता या प्रतिबन्ध नही है। बार्कर के अनुसार दार्शनिक शासक के उपर चार प्रकार के प्रतिबन्ध माने जा सकते है।

पहला, उसे राज्य में सम्पन्नता या निर्धनता को बढ़ने नही देना चाहिये। इससे राज्य में संतुलन भंग होता है तथा नागरिकों में दुर्गुणों का विकास होता है।

दूसरा, राज्य का आकार इतना ही होना चाहिए जिससे उस पर आसानी से नियन्त्रण स्थापित हो जाये।

तीसरी, न्याय की व्यवस्था राज्य में इस प्रकार रहे जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्रवृति के अनुसार आचरण कर पाये।

चैथा, दार्शनिक शासक को राज्य की शिक्षा व्यवस्था में परिर्वतन नही करना चाहिये क्यों कि जब संगीत की तानें बदलती है तो उसके साथ-साथ राज्य के मौलिक नियम भी बदल जाते है।

1.2.9 दार्शनिक राजा सिद्धान्त की आलोचना -

प्लेटो ने विवेक को ही सर्वोच्च माना और ऐसे लोगों को ही दार्शनिक राजा बनाने की वकालत करता है यह गलत है। वह विवेक को स्थायी मानता है। जबकि परिस्थितियाँ इसको गलत सिद्ध करती है। निरंकुश शासक स्वतंत्रता के समर्थन नही हो सकते और नही इस प्रकार के राज्य में समानता को सम्भव बनाया जा सकता है। दार्शनिक राजाओं के शासन में निर्देश एक दिशा से आते है और उन निर्देशों के पालन के अतिरिक्त कोई रास्ता नही होता इस प्रकार की शासन व्यवस्था से जनता के मनोभाव व मानसिकता से भी शासकों का परिचय नही हो पाता। इसीलिये लोकप्रिय और सहज स्वीकार्य शासन असम्भव हो जाता है। जोवेट के शब्दों में 'दार्शनिक राजा दूरदर्शी होता है या अतीत की ओर देखता है, वर्तमान से उसका कोई सम्बन्ध नही होता। व्यवहार में दार्शनिक राजा के सिद्धान्त को साकार करना कठिन है'। स्वयं प्लेटो द्वारा भी सिराक्यूज के शासन डायोनिसिया को बहुत प्रयत्न के बाद दार्शनिक शासक की श्रेणी में नही पहुँचाया जा सकता। प्लेटो की व्यावहारिक असफलता उसके इस सिद्धान्त की असफलता का परिणाम है।

1.2.10 शिक्षा सिद्धान्त -

प्लेटो ने आदर्श राज्य को सम्भव बनाने के लिए एक सुव्यवस्थित शिक्षा व्यवस्था प्रस्तुत की। वास्तव में आदर्श राज्य का आधार ही शिक्षा व्यवस्था है। यह एक सकारात्मक साधन है जिसके द्वारा आदर्श राज्य के अन्तर्गत लोगों की प्रवृति को जाना जा सकता है और न्याय को सम्भव बनाया जा सकता है। व्यावहारिक जीवन से आदर्श राज्य को सम्भव बनाने का साधन शिक्षा व्यवस्था ही है। यह मानसिक रोग का मानसिक उपचार है। प्लेटो की शिक्षा व्यवस्था कृत्रिम नही है यह उन्नति का अध्यात्मिक मार्ग है जो राज्य के साथ व्यक्ति की आत्मा के सम्बन्ध को सम्भव बनाता है। शिक्षा व्यवस्थां न्याय की संकल्पना का व्यावहारिक परिणति और उसे उपलब्ध कराने का साधन है।

प्लेटो की शिक्षा व्यवस्था के बहुत से उद्देश्य और विशेषताएँ है। सर्वप्रथम यह मनुष्य की भौतिक और आत्मा उन्नति करती है। वह व्यक्तिगत न्याय की मांग के अनुरूप व्यक्ति की वास्तविक प्रवृति का पता लगाता है। इससे न्याय की व्यापक व्यवस्था में व्यक्ति की भूमिका रेखाँकित हो जाती है यह प्रत्येक व्यक्ति को आरम्भिक रूप से एक इकाई मानकर चलता है। दूसरे प्लेटो की शिक्षा व्यवस्था केवल व्यावहारिक और मानसिक उन्नति का उद्देश्य ही नहीं रखती बिल्कुल इसका उद्देश्य सत्य से साक्षात्कार भी कराना होता है। शिक्षा व्यवस्था का अन्तिम उद्देश्य व्यक्तियों को शुभ के विचार से अवगत कराना है।

यह परम सत्य और शुभ से व्यक्ति का परिचय कराने तथा उसमें भागीदार बनने को संस्थागत बनाता है। इसके साथ ही यह व्यक्ति को सामाजिक भूमिका निभाने को रेखाँकित करता है। शिक्षा व्यवस्था में भाग लेने का एक परिणाम व्यक्ति के स्वयं की प्रकृति से साक्षात्कार होना है। न्याय की स्थिति में प्रत्येक की अपनी भूमिका बनती है। शिक्षा व्यवस्था ही यह सामाजिक भूमिका सम्भव बनाती है और उसकी प्रस्थिति को तय करती है। इस प्रकार की शिक्षा व्यवस्था के अभाव में हम आदर्श राज्य की कल्पना नही कर सकते।

1.2.10.1 स्वरूप और आधार -

प्लेटो ने अपनी शिक्षा व्यवस्था को एथेंस और स्पष्ट की शिक्षा व्यवस्था को समन्वित करके प्रस्तुत किया। न्याय की उपलब्धि को सम्भव बनाने के साथ-साथ प्लेटो की शिक्षा सम्बन्धी योजना सोफिस्टो की व्यक्तित्ववादी शिक्षा व्यवस्था के विरूद्ध एक प्रतिक्रिया की भी थी। सोफिस्टो शिक्षा को विशुद्ध व्यावहारिक और व्यवसायिक दृष्टिकोण से देखते थे। किन्तु प्लेटो उसे उच्चतर उद्देश्य के लिए मानता है। दूसरी ओर एथेन्स और स्पार्टा के नगर राज्यों की शिक्षा व्यवस्था में भिन्न ता थी। एथेंस की शिक्षा व्यवस्था लोगों के द्वारा व्यक्तिगत रूप से संचालित होती थी। उसका लक्ष्य अधिक से अधिक व्यावहारिक सफलता अर्जित करना था। यह व्यक्ति परक शिक्षा प्रणाली थी। जबकि स्पार्टा में शिक्षा व्यवस्था राज्य के नियन्त्रण में थी। शिक्षा दिया जाना राज्य का कर्तव्य था। दोनों नगर राज्यों में शिक्षा की विषय-वस्तु भी भिन्न-भिन्न थी। स्पार्टा में शिक्षा को सैनिक हित के अनुरूप ढ़ाला गया था और युद्ध सम्बन्धी आवश्यकता के अनुरूप शिक्षा दी जाती थी जबकि एथेंस में व्यक्ति अपनी आवश्यकता और रूचि को ध्यान में रखकर शिक्षा ग्रहण करता था। प्लेटो ने इन दोनों का समन्वय किया। एथेंस की तरह उसने शिक्षा का लक्ष्य व्यक्तिगत उन्नति और सत्य व शुभ के साक्षात्कार को बनाया जबकि स्पार्टा से शिक्षा व्यवस्था को राज्य नियन्त्रण में व्यक्तिगत स्वार्थ से उपर उठते हुये सामाजिक हित को लक्ष्य बनाना सीखा। इस प्रकार उसे एथेंस से अध्ययन सामग्री, लक्ष्य और स्पार्टा से शिक्षा व्यवस्था को संगठित करने का तरीका प्राप्त हुआ।

प्लेटो ने स्त्री और पुरूष दोनों के लिये एक ही प्रकार की शिक्षा व्यवस्था का समर्थन किया। तथा दोनों को एक समान माना है। प्लेटो का मानना था कि स्त्री और पुरूष के बीच शारीरिक और मानसिक रूप से कोई भेद नही होता। यह आज की परिस्थिति के दृष्टिकोण से क्रान्तिकारी और प्रगतिशील विचार था। प्लेटो का महत्व इन विचारों के कारण भी है। हालाँकि इस प्रकार की समानता की वकालत केवल यूनान की स्त्रियों ओर पुरूषों के मध्य है। वह दासो और विदेशियों को इनके बराबर अधिकार नही देता है। वह उत्पादको को भी उनकी प्रकृति के अनुरूप केवल विशेष शिक्षा देने का पक्षधर है अर्थात् शिक्षा व्यस्था की उसकी कठोर प्रणाली में एक बार श्रेणी निर्धारित हो जाने के पश्चात श्रमिको के लिये आजीवन उसी श्रेणी से बँधा रहना विवशता होती है। वह उससे बाहर आकर अपनी सामाजिक प्रगति नही कर सकता। सेबाइन ने लिखा है कि राज्य में शिक्षा के इतने महत्व को ध्यान में रखते हुए यह आश्चर्यजनक लगता है कि प्लेटो उत्पादकों की शिक्षा के सम्बन्ध में कही विचार नही करता। वह यह भी नही बताता कि उन्हें प्राथमिक शिक्षा भी देनी है या नही। इससे ज्ञात होता है कि प्लेटो के निष्कर्ष कितने असम्बद्ध और साधारण है। प्लेटो यह चाहता है कि श्रमिकों और उत्पादको के प्रतिभावना बच्चों की शिक्षा का भी

उचित प्रबन्धन हो लेकिन यह उस समय तक सम्भव नही हो सकता जब तक कि प्रतियोगी शिक्षा प्रणाली द्वारा चुनाव न किया जाए।

प्लेटो शिक्षा के आधार की व्याख्या इस रूप मे करता है कि मानव आत्मा सक्रिय अवस्था में रहती है। उसकी सक्रियता का परिणाम प्रकृति की वस्तुओं के प्रति आकर्षित होता है। वह हर पदार्थ की ओर आकर्षित होती है। प्लेटो के अनुसार शिक्षक का यह कार्य है कि वह छात्र के मस्तिष्क जो सक्रिय है, शुभ विचार की ओर आकर्षित कराना है जिसे उसका मस्तिष्क शुभ विचार को ग्रहण करें और वह सक्रिय रूप से शुभ में भागीदार हो सके।

प्लेटो ने शिक्षा को सतत् चलने वाली प्रक्रिया माना। वह हर अवस्था में शिक्षा दिये जाने का विचार प्रस्तुत करता है। सभी अवस्था में शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तिगत गुणों के विकास के साथ सामाजिक हित अर्थात् व्यापक शुभ के साथ एकीकार करने से है। सुकरात से प्राप्त मूलभूत दर्शन से प्रभावित होकर प्लेटो यह मानता है कि प्रकृति में हर चीज की उपस्थिति सोउद्देश्य होती है। प्रत्येक विचार व वस्तु की एक सकारात्मक भूमिका है। शिक्षा का उद्देश्य इसी शुभ का परिचय कराना और उसमें भागीदार बनाना है। प्लेटो ने अपनी शिक्षा व्यवस्था और दर्शन को इसी दृष्टिकोण से विकसित किया। प्लेटो शुभ के विचार को सर्वोच्च निर्धारक विचार मानता है। शुभ की प्राप्त ही जीवन का लक्ष्य है। यह सभी कार्यो का अन्तिम लक्ष्य है। मनुष्य की सभी क्रियाओ, भौतिक और आध्यात्मिक लक्ष्यों, बौद्धिक गतिविधियों, सत्य, सौन्दर्य और न्याय संबंधी विचारों का अन्तिम निर्धारण शुभ का विचार ही होता है। प्लेटो ने रिपब्लिक में ससमहवतल व िजीम बंअम (गुफा के रूपक) द्वारा शुभ का विचार प्रस्तुत किया है।

शुभ को प्राप्त करके मनुष्य की आत्मा प्रकाशित होती है राज्य द्वारा शुभ को ग्रहण किये जाने के व्यक्ति की भाँति वह भी न्यायमय हो जाता है। व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों स्तरों पर शुभ प्राप्ति ही मनुष्य का लक्ष्य है। प्लेटो की शिक्षा प्रणाली इसी शुभ की प्राप्ति को सम्भव बनाती है।

1.2.10.2 पाठयक्रम -

प्लेटो ने आदर्श राज्य में शिक्षा व्यवस्था के अन्तर्गत पाठक्रम का निर्धारण किया। उसे अवस्था और विषय की गम्भीरता को ध्यान में रखकर विभाजित किया। प्लेटो की शिक्षा व्व्यवस्थाव के दो स्तर है। पहला प्रारम्भिक शिक्षा तथा दूसरा उच्च शिक्षा। दोनों स्तर की शिक्षा सामग्री में बँटवारा वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक तरीके से किया गया है। प्राथमिक शिक्षा बाल्यावस्था से लेकर युवावस्था तक सैनिक वर्ग के लिए तथा संरक्षक वर्ग के लिए प्रौढ़ावस्था तक शिक्षा चलती रहती है। प्लेटो की शिक्षा योजना में प्रारम्भिक शिक्षा 6 वर्ष की आयु से शुरु होती है तथा 30 वर्ष तक चलती है। शिक्षा का पहला खण्ड छह वर्ष तक फिर छह वर्ष से अठा मानकर रखा गया है। इससे युवाओं में साहस का तत्व विकसित होता है जो राज्य के लिए और स्वयं उस युवा के सर्वागीण विकास के लिए आवश्यक होता है। व्यायाम को व्याशपक संकल्पना के रूप में ग्रहण किया गया है। इसके अन्तर्गत शारीरिक कसरत से लेकर आहार के नियम ओर सामान्य रूप से रोगों और उपचार का ज्ञान सभी आ जाता है। इसी प्रकार संगीत को व्यापक अर्थो में लेकर उसमें साहित्य, संगीत और विभिन्न प्रदर्शनात्मक कलाओं को शामिल किया गया है। इससे बच्चों के मस्तिष्क को क्षमतावान बनाने, अच्छे विचारों की ओर उन्हें आकृष्ट कराने और शुभ में भागीदार बनाना सरल होता है।

वही उच्च शिक्षा के लिये अलग पाठयक्रम निर्धारण किया गया है। उच्च स्तर पर शिक्षा का माध्यम कला की जगह विज्ञान हो जाता है। गणित, ज्यामिति, खगोल विज्ञान को पढ़ाया जाता है। गणित, ज्यामिति और ज्योतिष को बीस से तीस वर्ष के बीच पढ़ाया जाता है जबकि तीस वर्ष से पैतीस वर्ष के बीच दर्शन शास्त्र की शिक्षा दी जाती है। गणित की शिक्षा विद्यार्थियों में अमूर्त चिन्तन की क्षमता उत्पन्न करती है तथा इन्द्रिय ज्ञान से उपर उठकर चिन्तन को विस्तृत करने का अभ्यास पैदा करती है। जबकि प्रौढ़वस्था में दर्शन की शिक्षा विशुद्ध विचारों के द्वारा सत्य के विश्लेषण की मानसिक क्षमता उत्पन्न करती है। इससे व्यक्ति वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को जॉनने की क्षमता आ जाती है साथ ही उन्हे सत्य के अन्वेषण की पद्धति की पता चलती है। शुभ के विचार को पूर्णरूप से सभी जाना जा सकता है जब व्यक्ति दर्शन की शिक्षा में पारंगत हो चुका हो।

प्लेटो की शिक्षा व्यवस्था में शिक्षित लोगों की परीक्षा लिए जाने की व्यवस्था भी है। उच्च स्तर की शिक्षा 30 वर्ष की अवस्था तक प्राप्ति करने के बाद पढ़ाये गये विषयों की परीक्षा लिये जाने की व्यवस्था थी। अनुत्तीर्ण छात्र-छात्राएँ सहायक संरक्षक वर्ग में जबकि उत्तीर्ण छात्र आगे की पढ़ाई अर्थात दर्शन की पढ़ाई के लिए योग्य माने जाते है। पैतीस वर्ष की अवस्था में आयोजित दूसरी परीक्षा में अनुत्तीर्ण छात्र व छात्राएँ सहायक संरक्षक वर्ग में शामिल होते है जबकि सफल छात्र दार्शनिक राजा बनते है। औपचारिक शिक्षा पैतीस वर्ष की अवस्था तक समाप्त हो जाती है। पैतीस वर्ष से पचास वर्ष की अवस्था तक अपनी सेवाए प्रदान करता है। पचास वर्ष की अवस्था के बाद भी वह सक्रिय रूप से राजनीतिक कार्यो से जुड़ा रहता है। वह चिन्तन के द्वारा शुभ की प्राप्ति सम्भव बनाने के लिये प्रयत्नशील रहता है। वे राज्य में यथा स्थिति बनाए रखते है। उनका कार्य ऐसी परिस्थिति को बनाए रखना है जैसे लोग व्यक्तिगत स्तर पर न्याय की उपलब्धि को सम्भव बना सके। दार्शनिक शासक के रूप में विवेक की सत्ता स्थातपित होती है वह पीढ़ियो के बीच एक संयोजन का कार्य करता है। शिक्षा इसी सतत् श्रृंखला का नाम है। शिक्षा व्यवस्था और संरचना में किसी प्रकार का परिवर्तन नही किया जाना चाहिए। इससे न्याय की उपलब्धि जुड़ी हुई है। यह एक सकारात्मक पहल है जो न्याय को सम्भव बनाती है।

1.2.11 स्त्रीयों तथा सम्पति का साम्यवाद -

प्लेटो के चिन्तन में आदर्श राज्य को सम्भव बनाने तथा न्याय को उपलब्ध कराने के लिए जहाँ एक सकारात्मक साधन के रूप मे सामने आता है वही स्त्रियों और सम्पत्ति का साम्यवाद एक नकारात्मक उपाय के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। शिक्षा नागरिकों की आध्यात्मिक उन्नति करती है जबकि साम्यवाद उसके विचलन को रोकता है। प्लेटो शासकों को भौतिक बाधाओं और प्रलोभन से दूर रखना चाहता था। प्लेटो ने कई आधारों पर साम्यवाद की वकालत की। प्लेटो के अनुसार सम्पति और स्त्रियों के साम्यवाद की व्यक्ति को सम्पूर्ण का एक अनिवार्य अंग मानकर एक व्यवस्था दी गई है। सम्पूर्ण में भागीदारी एक नैतिक व्यवस्था है। दार्शनिक राजा विचलनों से दूर रहकर नैतिक कर्तव्य ही पूरा करता है। दूसरा तर्क 'मनोवैज्ञानिक' है। आदर्श राज्य में दार्शनिक शासको एवं सैनिकों को भौतिक वासनाओं से मुक्त रखना चाहता था। सम्यक शासन के लिए आवश्यक है कि विवेक को वासना के तत्व से या उसके प्रभाव से मुक्त रखा जाये। उसका ध्यान जब इन चीजों से हटा रहेगा तब वह शुद्ध विवेक से शासन कर सकेगा और न्याय को उपलब्ध करा सकेगा। प्लेटो के राजनीतिक तर्क के अनुसार शासक के हाथ में

राजनीतिक और आर्थिक शक्ति का केन्द्रीकरण नही होना चाहिए। एक ही जगह पर दोनों सत्ता होने से शासक के भ्रष्ट होने की सम्भावना अधिक होती है। भ्रष्ट शासक निजी हित में कार्य करता है। आदर्श राज्य में निजी स्वार्थो से न्याय की उपलब्धि सम्भव नहीं है। अपना परिवार और निजी सम्पति न रखने के कारण आदर्श राज्य में राजा अपने लिए लोभ सा दबाव में कार्य नही करेगा। यह विवेक के लिए बाधा मुक्त वातावरण उपलब्ध कराता है। प्लेटो का यह भी कहना था कि दार्शनिक शासन सामान्यत जन से अलग होता है। उसका जीवन सावर्जनिक हित के लिए समर्पित होता है इसलिये उसके जीवन के आदर्श और मानदण्ड सामान्या मनुष्य के जीवन से भिन्न होनी चाहिए। प्लेटो इसको ध्यान मे रखते हुए दार्शनिक राजा के लिए निजी जीवन के लिये कुछ प्रतिबन्ध बनाए।

दार्शनिक राजाओं तथा सहायक संरक्षक वर्ग के लिए सम्पति और स्त्रियों का साम्यीवाद प्लेटो की मौलिक संस्तुति है और यह उनके सम्पूर्ण दर्शन की तार्किक परिणति है। प्लेटो के साम्यवाद की व्यवस्था दो प्रमुख जरूरतों के लिये है

(क) सम्पति (ख) स्त्री या परिव

प्लेटो दार्शनिक राजा और सैनिकों द्वारा सम्पति नही रखने का समर्थन करता है। प्लेटो के अनुसार सम्पति मनुष्यों के लिये एक आकर्षक का विषय है। सामान्य व्यक्ति सम्पत्ति अर्जित कर सकता है। साधारण मनुष्य के जीवन का लक्ष्य बड़ा और श्रेष्ठ नही होता। वह निजी प्रगति और स्वार्थ के लिए कार्य करता है। लेकिन संरक्षक व सहायक संरक्षक वर्ग सामान्य उद्देश्य या निजी स्वार्थ के लिये कार्य नही करता। सम्पति का आकर्षण सावर्जनिक कल्याण के पथ विचलित कर सकता है। वह शासकों के स्वामित्व के अधीन धन को अनैतिक बताता है। वह कहता है कि वह भूमि या उत्पादन के साधन पर स्वामित्व नही रखेगें नही उनका अपना घर होगा। वह शिविर में रहेगे जो सदैव सावर्जनिक आगमन के लिये खुले रहेगें। सेबाइन ने लिखा है कि प्लेटो के ''साम्यवाद का मुख्य। उद्देश्य राजनीतिक है''। और 'सरकार के उपर धन के भयानक प्रभाव का प्लेटो को इतना दृढ़ विश्वास था कि उसे दूर करने के लिए उसे स्वयं सम्पति का विनाश करना पड़ा।'

प्लेटो ने यह व्यवस्था दी कि संरक्षक वर्ग तथा सहायक संरक्षक वर्ग अपना निजी परिवार नही रखेगा। उनका अपना परिवार नही होगा। प्लेटो यह मानता था कि परिवार का मोह से प्रतिभावा व्यक्तियों को उनके उद्देश्य से हटा सकता है। सबके कल्याण के लिए कार्य करने की जगह वह अपने तथा अपने परिवार के हित में काम करने लगता है। सन्तान सम्बन्धी चिन्ता व्यक्ति को स्वार्थी बनाता है। प्लेटो के इस विचार से महिलाओं के हित का अनुंषगी लाभ जुड़ा हुआ है। प्लेटो यह मानता था कि स्त्रियों के साथ बराबरी का व्यवहार नही किया जाता। नारी का कार्य क्षेत्र विस्तृत होना चाहिए। उनके अनुसार स्त्रियों को बराबरी न देने से राज्य आधी प्रतिभा से वंचित हो जाता है। स्त्रियाँ इतनी प्रतिभाशाली होती है जिससे वे पुरूषों के समान ही अपनी सामाजिक और राजनीतिक भूमिकाएँ निभा सकती है। संरक्षक वर्ग की पात्रता हासिल करने के बाद वे पुरूषों के समान भूमिका निभा सकती है।

स्त्रियों या परिवार के साम्यवाद के अन्तर्गत कोई भी संरक्षक अपना निजी परिवार नही रखता है। शासन पुरूषों की समान रूप से पत्नी मानी गई इनकी सन्ताने भी सबकी सन्ताने मानी गई। सन्तान माता-पिता को नही जॉन पायेगे और माता-पिता व्यक्तिगत रूप से अपनी सन्तान को प्रश्रय नही दे पायेगें।

1.2.11.1 विशेषताएँ और आलोचना

प्लेटो का साम्यवाद केवल संरक्षक वर्ग और सहायक संरक्षक वर्ग पर लागू किया जाता है। यानि उसे उत्पादक वर्ग पर लागू नही होता। इस प्रकार यह समाज के छोटे से वर्ग पर लागू होता है जो समाज का नीति नियन्तर और नेतृत्वकर्ता है। उत्पादक वर्ग अपनी सम्पति रख सकता है।

प्लेटो के साम्यवाद का उद्देश्य समाज के शासक वर्ग को प्रलोभनो से बचाकर सावर्जनिक हित के लिए समर्पित रखना है। उनके भटकाव को रोकना है। आधुनिक साम्यवादियों की भाति यहा उत्पादक के साधन पर सामूहिक स्वामित्व और समानता का प्रश्न नही है बल्कि प्लेटो के सम्पत्ति और स्त्रियों का साम्यवाद वर्ग विशेष तक सीमित है। उत्पादक वर्ग सम्पत्ति पर निजी स्वामित्व रखता है। आधुनिक साम्यवाद निजी स्वामित्व की अवधारणा को ही स्वीकार नही करता।

प्लेटो के साम्यवाद सिद्धान्त का अन्य लक्ष्य सावयवी एकता प्राप्त करना है। वह विवेक, साहस और वासना तत्वों के बीच एक संतुलन एक एकता प्राप्त करके सावर्जनिक स्तर पर न्याय की उपलब्धि सम्भव करती है। लोकतंत्र की स्थापना उनका उद्देश्य नही था बल्कि वह एक तरह का कुलीनतंत्रीय शासन था। आधुनिक साम्यवाद से दूसरा अन्त पर यह था कि प्लेटो का साम्यवाद आर्थिक समानता लाने का उद्देश्य नही रखता था। आधुनिक साम्यवाद सम्पूर्ण समाज को ध्याान में रखकर अपनी आर्थिक नीति को लागू करता है और उच्च प्रौद्योगिकी के लगातार विकास से मानव की स्वतंत्रता के सृजन का लक्ष्य रखता है किन्तु प्लेटो का साम्यवाद वर्ग विशेष को नकारात्मकता से बचाये रखने के लिये है। संरक्षक वर्ग के सामूहिक जीवन को साम्यवाद मान लेना एंकाकी दृष्टिकोण होगा। प्लेटो के साम्यवाद में एक आध्यात्मिक दृष्टिकोण है जो विवेकशील व्यक्तियों से सर्वस्व समर्पण की मांग करता है। यह आशा की जाती है कि विवेकवान दार्शनिक राजा मानवीय आकांक्षाओं और दैहिक इच्छाओं से उपर होगा और पूरा जीवन समाज को समर्पित करेगा।

प्लेटो के सम्पत्ति और स्त्रियों या परिवार के साम्यवाद सम्बन्धी विचार की आलोचना भी की जाती है। स्वयं प्लेटो के शिष्य अरस्तू ने इस विषय पर प्लेटो की आलोचना की है। अरस्तू के अनुसार व्यक्तिगत सम्पत्ति की अवधारणा एक नैसर्गिक विचार है। सम्पत्ति व्यक्ति को प्रेरित करने वाला और परिवार का आवश्यक अंग है इसके बिना मनुष्य का सभ्य विकास सम्भव नही है। सम्पत्ति ऐतिहासिक सच्चाई है जो मानवीय स्वभाव से पैदा हुई है। सम्पति का साम्यवाद एक अस्वाभाविक चीज है इससे संघर्ष पैदा होने की प्रबल सम्भावना है। इसको समाप्त करने से व्यक्ति के भीतर की स्व प्रेरणा समाप्त हो जाती है। व्यक्तित्व का विकास और समाज की प्रगति सम्भव नही होती है। सामूहिक रूप से वस्तुओं का उपयोग वास्तव में कलह और संघर्ष को जन्म देता है। इसलिए इसे स्वीकार नही किया जा सकता।

दूसरी ओर स्त्रियों या परिवार का साम्यवाद भी अप्राकृतिक अमानवीय और असभ्यतापूर्ण व्यवस्था है। यह यौन व्यवहार के क्षेत्र में अराजकता को जन्म देने वाला है। न केवल आपसी सम्बन्धों में बल्कि सम्बन्धों के कारण पैदा हुये बच्चों के जीवन पालन-पोषण और शिक्षा-दीक्षा में भी अराजकता स्वाभाविक है परिवार समाज की सबसे छोटी और प्राकृतिक इकाई है जहा मनुष्य समाजिक कारण का पाढ पढ़ता है और अभ्यास करता है। मानवीय चित्र गुण यही विकसित होते है। यह उत्तर दायित्व की जगह भोग को बढ़ावा देगा जिसका परिणाम अराजकता होगी। अनैतिकता दूसरे स्वाभाविक रूप से जन्म लेगी। यह व्यक्तिगत सम्बन्धों का राष्ट्रीयकरण करने जैसा योजना है जो सफल नही हो सकती। बच्चों का

प्रारम्भिक जीवन इससे चुनौतीपूर्ण होगा और मातृत्व अधूरा। प्लेटो के अस्थायी विवाह की योजना अव्यावहारिक है। यह विवाह नामक संस्था की उपयोगिता व गुणवत्ता को कम करके ऑकने की प्रवृति का परिणाम है जिससे प्लेटो के मूल लक्ष्य में कोई सहायता मिलती प्रतीत नही होती है।

इस प्रकार यह दोनों व्यवस्था अव्यावहारिक और आपत्तिजनक प्रतीत होती है। इसमे प्राकृतिक, जीव वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक सांस्कृतिक मूल्यों की अवहेलना की गई है। साम्यवाद का सिद्धान्त इस कारण से भी असफल है क्योंकि वह उत्पादक वर्ग पर लागू नही किया गया है। एक ही समाज में आंशिक रूप से लागू यह विवादास्पद योजना की परिणति असफलता में होनी अवश्य सम्भाव है। क्योंकि यह समाज विरोधी व्यवस्था और मानवीय मनोविज्ञान के प्रतिकूल है।

1.2.11.2 विवेचना-

प्लेटो राजनीतिक दर्शन का प्रतिष्ठित विचारक है। उसने अपनी पुस्तकों के माध्यम से सुकरात के दर्शन और मान्यकताओं को पुष्ट करने के क्रम में अपने विचार व्यक्त किए उसकी रचना रिपब्लिक व्यापक सन्दर्भो को समेटे हुये विविध विषयों को छूती है। इसमें न केवल राजनीति विज्ञान, नीतिशास्त्र, शिक्षाशास्त्र और दर्शन की समस्याओं पर विचार है बल्कि दर्शन के माध्यम से एथेंस की परम्परा को परिवर्तन के साथ संयोजित करने का उद्देश्य भी निहित था। प्लेटो ने राजनीतिक दर्शन के अन्तर्गत न्याय, दार्शनिक राजा, शिक्षा तथा सम्पत्ति और परिवार के साम्यवाद का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। जो राजनीतिक दर्शन में अतुलनीय है।

आलोचकों के अनुसार प्लेटो के आदर्श राज्य का सिद्धान्त एक कल्पना है इसे मूर्त रूप नही दिया जा सकता। आदर्श न्याय सामान्य परिस्थियों में उपलब्ध नही हो सकता। प्लेटो के आदर्श की अवधारणा अमूर्त और स्वप्न लोक सरीखी है। मनुष्य की प्रवृतियों का केवल तीन भागों में सामान्य सरलीकरण नही हो सकता। इस नींव पर बना आदर्श राज्य स्थायी नही हो सकता। दूसरे प्लेटो ने जिस तरह राज्य के नियन्त्रण को महत्व दिया है उसके दृष्टिकोण से वह राज्य की सर्वाधिकारवादी प्रवृति का प्रथम आधिकारिक प्रवक्ता बन जाता है। कार्ल पॉपर ने अपनी पुस्तक 'ओपन सोसाइटी एण्ड इट्स एनिमिज' में प्लेटो को खुले समाज का शत्रु घोषित किया है। शिक्षा सिद्धान्तो के अन्तर्गत प्लेटो साहित्य, कला और संस्कृति को राज्य द्वारा निर्धारित किये जाने का समर्थन करता है। यह फाँसीवादी प्रवृति का लक्षण है। प्लेटो राज्य को यह अधिकार देता है कि वह संगीत और साहित्य को प्रतिबंधित कर सके अथवा उसे सेन्सर करे कार्ल पॉपर, आर.एच. क्रासमैन तथा बर्टेªड रसेल जैसे आलोचकों की दृष्टि में प्लेटो सर्वाधिकारवादी विचारक था। उसे फाँसीवाद का अग्रगामी कहा गया है।

राज्य और समाज की गतिविधियों को पहले से ही निर्धारित करने के पक्ष मे है। यह स्वतंत्र पहल और स्वतंत्रता को हतोत्साहित करता है। दूसरी ओर प्लेटो की साम्यवादी व्यवस्था गैर सामाजिक और मानवीय प्रवृति के विपरित मानी गई। इसके अतिरिक्त प्लेटो का शिक्षा सिद्धान्त बहुत जटिल और परिवर्तन विरोधी है। पॉपर की आलोचना है कि प्लेटो का आदर्श राज्य वास्त में एक जाति-राज्य (Caste-State) है।

प्लेटो की आलोचना को स्वीकार करना एक भिन्न दृष्टिकोण से न्याय संगत और तार्किक नही है। सर्वप्रथम उसे खुले समाज का शत्रु मानना उचित नही है। दार्शनिक राजाओं को अपने कार्य क्षेत्र में पूरी

स्वतंत्रता देने के बाद भी उसने चार संवैधानिक नियमों (थ्नदकंउमदजंस ।तजपबसमे व ि्बवदेजपजनजपवद) को मानना अनिवार्य किया है। जो उनके अधिकारों और शक्तियों के लिए युक्ति युक्ताबन्धन व निर्देश है। प्लेटो ने स्वयं अपने ग्रन्थ 'दॉ लॉज' में प्रजातंत्र एवं विधि का समर्थन किया है जो उसके जीवन के उत्तरार्ध की रचना है। बार्कर ने प्लेटो को लोकप्रिय सरकार का शत्रु मानने को आलोचकों की भूल की संज्ञा दी है। वही प्रंशसको ने प्लेटो के ग्रन्थ रिपब्लिक को शिक्षा पर लिखा श्रेष्ठ माना है। रूसो ने इसे इसी संज्ञा से विभूषित किया है। जोवट का कथन है कि 'प्लेटो पहला लेखक है जो स्पष्ट रूप से कहता है कि शिक्षा आजीवन चलने वाली प्रक्रिया है।' उसकी शिक्षा प्रणाली राजनैतिक समाजीकरण मे सक्रिय और अग्रणी भूमिका निभाती है। इसमें माध्यम से लोगों को राज्य के आदर्शो, लक्ष्यों और प्रक्रियाओं के अनुरूप ढ़ाला जाता है।

प्लेटो पहला राजनीतिक विचारक था जिसने महिलाओं और पुरूषों को एक समान स्थान और महत्व दिये जाने का समर्थन किया। अपनी रचना 'द लॉज' में उसने दार्शनिक राजाओं के विवेक पूर्ण प्रभुसत्ता से आगे बढ़कर कानून को प्रभुसत्ता से आगे सर्वोपरि स्थान देता है। प्लेटो स्वतंत्रता के लिये मिश्रित संविधान का समर्थन किया। वह व्यक्ति और राज्य के बीच एकता मानता है और प्रमुख रूप से आदर्शवादी विचारक के रूप में उपस्थित होता है। उसके राजनीतिक चिन्तन में विविधता है। राज्य के कार्यक्षेत्र के विषय में विस्तृत विचार उसकी उपलब्धि है जिसमें से कई आधुनिक राजनीतिक दर्शन में आज भी प्रासंगिक बने हुये है। प्लेटो ने व्यवस्था निर्माण का दर्शन प्रस्तुत किया और राजनीतिक चिन्तन को लोगों के जीवन से सम्बन्धित किया। यह प्लेटो की बड़ी उपलब्धि है। उसके राजनीतिक दर्शन का महत्व आज भी बना हुआ है।

1.2.12 अन्य कृतियाँ और विचार-

'रिपब्लिक'द्वारा प्लेटो ने अपने प्रमुख राजनीतिक विचार व्यक्त किये। उसकी प्रसिद्ध का प्रमुख कारण यह कृति रही किन्तु इसके अतिरिक्त उसने स्टेट्समैन (States Man) तथा लॉज (The Laws) नामक ग्रन्थ भी लिखे जो रिपब्लिक के बाद लिखे गये। बाद की दोनों पुस्तकों में प्लेटो के विचार व्यावहारिक हुये है। पहले व्यक्तिगत विचारों में परिवर्तन हुआ।

स्टेंटसमैन की रचना अवधि 367-361 ई.पू. के मध्य मानी जाती है इस ग्रन्थ को ग्रीक में 'पॉलिटिक्स' कहा गया । इसमें कानून पर प्लेटो ने नयी दृष्टि से विचार किया। यहाँ प्लेटो के विचार व्यावहारिक विशेषज्ञ की भाँति है। आदर्शवादी स्वर कुछ नम्र हुआ और रिपब्लिक में प्रतिपादित आदर्शो पर पुनर्विचार किया गया।

'स्टेटसमैन' का मुख्य विषय आदर्श शासक है। उसे ज्ञानी मानकर गहन और व्यापक विश्लेषण किया गया है। इस पुस्तक ने प्लेटो ने विचार व्यक्त किया है कि राजनेता प्रभुसत्ता सम्पन्न लोगों की श्रेणी में आता है। केवल उसी को समाज के सभी वर्ग के लिये आदेश देने का अधिकार होता है। दूसरी श्रेणी आदेशों का पालन करने वाले लोगों की है। वे अधीनस्थ लोग है। इस प्रकार स्टेटसमैन सबसे उपर होता है और ज्ञान का वास्तविक प्रतिनिधि होता है। शासन की तुलना एक निगुण कलाकार से करते हुए प्लेटो का कथन है कि अच्छी तरह कार्य करने वाले शासक को पूरी निरकुंशता प्राप्त होनी चाहिए। ज्ञानवान शासक का नियमों से बधा रहना आवश्यक नही है। मुख्य जोर परिणाम पर होना चाहिए। शासक अपने राज्य की

देख-भाल ठीक उसी प्रकार करता है जैसा परिवार का मुखिया अपने परिवार का भरण पोषण करता है । राज्य परिवार का ही वृहद् रूप है।

राजा कलाकार की भाँति अपनी कृति अर्थात राज्य को सर्वश्रेष्ठ बनाने की कोशिश करता है। अपनी कार्य विधि के सम्बन्ध में किसी औपचारिक नियम से बँधा नही होता बल्कि सर्वश्रेष्ठ बनाने के उद्देश्य से प्रतिबंधित होता है। रिपब्लिक की तुलना निरंकुश शासक से करता है। अपनी कमियों के बावजूद कानून सब पर समान रूप में बाधा उत्पन्न करता है।

दूसरे वह इस ग्रन्थ में शासक के लिये मध्यम मार्ग की संस्तुति करता है। तथा इसके साथ ही स्वीकार किया कि राजनीतिक जीवन कठोर आदर्श के स्थान पर सहमति, कानून, कानून के अनुसार शासन के अनुसार भी संचालित होता है। उसने सह भी लिखा कि निरंकुश शासन हर राज्य के लिये नही होता। अन्तिम दिनों मे वह ज्ञान के स्थान पर कानून को सर्वोच्च स्थान देने का समर्थक हो गया। रिपब्लिक की भाँति स्टेट्समैन में भी प्लेटो ने राज्य का वर्गीकरण किया है। इसमें तीन आधारों पर राज्यों को छह भागों में बाँटा गया। कानून द्वारा संचालित राज्य और कानून से संचालित न होने वाला राज्य के आधार पर व्यक्तियों की संख्या को जोड़ते हुये कुल छह भागों में बाँटा गया है। कानून प्रिय शासन एक व्यक्तित्व का हो तो राजतंत्र, कुछ व्यक्तियों का कुलीनतंत्र तथा बहुतों का प्रजातंत्र होता है। जबकि कानून के अनुसार संचालित न होने पर प्रजातंत्र कहा जाता है। कानून से संचालित न होन वाली दशा में एक व्याक्ति का शासन निरंकुशतंत्र, कुछ व्यक्तियों का शासन अल्पतंत्र और बहुत से व्यक्तियों का शासन अतिवादी प्रजातंत्र कहलाता है।

प्लेटो के अनुसार राजतंत्र सर्वश्रेष्ठ शासन पद्धति है जबकि निरंकुशतंत्र शासन का निम्नतम रूप है। कानून से संचालित होने वाली शासन व्यवस्था में प्रजातंत्र न्यूनतम जबकि बिना कानून के संचालित होने वाली व्यवस्था में प्रजातंत्र श्रेष्ठ चीज है। जबकि अतिवादी लोकतंत्र सबसे बुरी शासन व्यवस्था है।

लॉज' भी प्लेटो की प्रसिद्ध रचना है। इसका प्रकाशन उसकी मृत्यु के बाद 347 ई.पू. में हुआ। लॉज एक बड़ी रचना है जिसमें प्लेटो ने अपने उप-आदर्श (ैनइ-प्कमंस-ैजंजम) की रूपरेखा को प्रस्तुत किया है। तत्कालीन प्लेटो ने अपने आदर्शवादी विचारों की सरगति ने होते देखे उसने व्यावहारिक विचार व्याक्त किये जो राज्य और उससे जुड़े लोगों को संचालित कर सके। 'लॉज' में वह 'आत्म संयम' को प्रधान महत्व देता है। इससे राज्यो में विवेक और न्याय की स्थापना होती है। आत्मसंयम को प्रधानता देने के कारण रिपब्लिक का आदर्श कार्यो में कठोर विभाजन समाप्त हो जाता है। इसमें शासक की परिवार और सम्पति रख सकते है। शासक शासतों द्वारा ही निर्वाचित होते है।

दूसरे 'लॉज' के माध्यम से कानून के राज्य को स्थापित किया गया है। उसका कानून से तात्पर्य मानव व्यवहार के ऐसे सिद्धान्त से है जा बुद्धि ग्राध्य हो। कानून शासन और समाज को सामाजिक आधार प्रदान करते है। कानून इसलिए भी आवश्यक है क्योंकि प्रत्येगक व्यक्ति में उच्च मानसिक क्षमता नही होती कि वह सामाजिक हित को समझ सके। और दूसरे उनके निजी स्वार्थ से विचलित होने का सम्भावना अधिक होती है। कानून मस्तिष्क की शुद्ध चेतना की क्रमशः विकसित होती अभिव्यक्ति है। शासक को कानून के अनुसार शासन करना चाहिए। सरकार कानून में अपनी इच्छा अनुसार परिवर्तन नही कर सकती। वह स्थायी होता है।

तीसरे प्लेटो ने मिश्रित संविधान को महत्व दिया है। सेबाइन के शब्दों में लाज में प्लेटो का मिश्रित राज्य राजतंत्रात्मक शासन की बुद्धि और लोकतंत्रात्मक शासन की स्वतंत्रता का समन्वय है। दोनों प्रकार के शासन के गुणों का समन्वय राजा को स्थायी रखता है। प्लेटो के राज्य में जनसंख्या और भौगोलिक स्थिति पर विचार किया और कहा कि जनसंख्या 5040 होनी चाहिये। परिवार और सम्पति रखने की अनुमति सभी को दी जाती है। हॉलाकि वह सम्पति के प्रयोग पर कठोर प्रतिबन्ध लगता है। नागरिक उद्योग धन्धा, व्यापार, वाणिज्य या दास्तकारी नही कर सकते। विदेशी ही व्यापार या उद्योग कर सकते थे जबकि खेती दासो और गुलामों के लिये थे। नागरिक के लिये केवल शासन प्रबन्ध अर्थात राजनीतिक कार्य निर्धारित किये गये। स्त्रियों और पुरूषों को राज्य में समान माना गया। रिपब्लिक की भाँति इस ग्रन्थ में थी शिक्षा को महत्वपूर्ण माना गया है। पहली बार प्लेटो ने धर्म और राज्य के सम्ब्न्ध का चिन्तन किया। शिक्षा और धर्म दानों राज्य के नियंन्त्रण मे रखे जाने की संस्तुति की गई है। नागरिक को व्यक्तिगत धार्मिक उत्सव करने की मनाही की गई है। वह देवताओं के प्रति नास्तिकता का विरोध करता है और उसके लिये दण्ड की व्यवस्था करता है। उसने 'नौक्टरनल कौसिंल' नामक एक संस्था की वकालत की इसके कुल 37 सदस्यों अर्थात संरक्षकों में 10 वरिष्ठ संरक्षक होते है इस परिषद को वैधानिक संस्थाओं को नियन्त्रित करने का अधिकार कानून से बाहर जाकर भी होता है। पहले परिषद का निर्माण ज्ञानवान सदस्यों से होता है फिर राज्य को उन्हें सौंप दिया जाता है। इसके अतिरिक्त प्लेटो ने शान्ति और युद्ध, अपराध और दण्ड तथा अन्य विषयों पर विशद रूप से अपने विचार व्यक्त किये है।

1.2.13 सारांशः-

प्लेटो ने न्याय को स्पष्ट करने के क्रम में अपने राजनीतिक विचार व्यक्त किये। वास्तव में प्लेटों के विचार उसके समय की राजनीतिक परिस्थितियों की सैद्धान्तिक प्रतिक्रिया थी। यूनानी समाज में विद्यमान अन्याय और विवेक के विरूद्ध तात्कालिकता के संघर्ष में प्लेटो विवेक के पक्ष में खड़ा होता है। उसने सुकरात के विचारों को मूर्त रूप दिया। प्लेटो का राजनीतिक दर्शन आदर्शात्मक समाज न्यायपूर्ण होता है। इसमें समाज में व्यक्ति को अपने मूल प्रवृत्ति के अनुसार आचरण करना होता है जबकि समाज में न्याःाय संतुलन में निहित है। शिक्षा की व्यवस्था न्यायपूर्ण समाज को उपलब्ध कराती है। इसी क्रम में वह दार्शनिक राजा सिद्धान्त और स्त्रियों और सम्पत्ति के साम्यवाद की व्यवस्था करता है। यह आदर्शात्मक समाज न्याय पूर्ण समाज और राज्य को सम्भव बनाने और स्थायी रखने के लिये दिये गये।

प्लेटो ने अपने ग्रन्थ रिपब्लिक में अपने आदर्श को प्रस्तुत किया। अपने बाद की रचनाओं द लॉज तथा द स्टेट्समैन में प्लेटो अपेक्षाकृत व्यावहारिक विचार प्रस्तुत करता है। प्लेटो के दर्शन का प्रभाव परवर्ती दर्शन पर पड़ा। आदर्शवादियों के साथ-साथ सर्वत्रा वादियों का प्रिय विचारक बना। हॉलाकि स्वयं प्लेटो के शिष्यां अरस्तु ने व्यापक आलोचना की है।

अलोचनाओं के बाद भी प्लेटो राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में प्रथम महत्वपूर्ण विचारक है। उसका राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में प्रथम महत्वपूर्ण विचारक है। उसका राजनीतिक चिन्तन यूनानी, यूनानी परिवेश में विकसित हुआ था किन्तु उसमें सार्वभौमिक तत्व है। जिसके कारण उसने सारे विश्व के चिन्तन और व्यवहार को प्रभावित किया।

1.2.14 अभ्यास/बोध प्रश्न

1.2.14.1 बहुविकल्पीय)

1. सोफिस्ट राज्य को कैसी संस्था मानते थे?
   (1) कृत्रिम (2) प्राकृतिक (3) दैवी
   (4) विकसित
2. इनमें से कौन साफिस्ट नहीं है?
   (1) पोलिमार्कस (2) ग्लाकन (3) कैरीक्लीज
   (4) सुकरात
3. सुकरात सोफिस्टों से
   (1) बिलकुल प्रभावित नहीं था
   (2) आंशिक रूप से प्रभावित था
   (3) पूरी तरह प्रभावित था
   (4) उनसे कोई सम्पर्क नहीं था
4. सुकरात की चिन्तन शैली कैसी थी?
   (1) दार्शनिक (2) ऐतिहासिक (3) द्वन्द्वात्मक
   (4) अतार्किक
5. न्याय को भय की संतान किसने कहा?
   (1) थ्रेसीमेकस (2) ग्लाकन (3) पोलिमार्कस
   (4) प्लेटो

1.2.14.2 लघुउत्तरीय प्रश्न

1. द्वन्द्वात्मक पद्धति से क्या आशय है?
2. यूनानी राज्य की प्रमुख विशेषता क्या थी?
3. सोफिस्टों की प्रमुख मान्यता क्या थी?
4. सुकरात ने अपने दर्शन में किसका समर्थन किया?
5. सोफिस्ट और सुकरात के दर्शन में दो प्रमुख अन्तर लिखिये?

1.2.14.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. प्राचीन यूनानी चिन्तन की विशेषताओं का विश्लेषण कीजिये?
2. प्राचीन यूनान में सोफिस्टों के उदय और विकास के कारणों की समीक्षा कीजिये?
3. सोफिस्टों के प्रमुख राजनीतिक विचार क्या थे?
4. सुकरात के राजनीतिक विचार पर पड़ने वाले प्रभाव का मूल्यांकन कीजिए?

5. सुकरात का परवर्ती यूनानी विचारों पर प्रभाव की समीक्षा कीजिए?

1.2.15 कठिन शब्दावली

द्वन्द्वात्मक पद्धति - इसके अन्तर्गत निष्कर्ष तक पहुँचने के लिये तर्कपूर्ण वाद-विवाद का अनुसरण किया जाता है। दो व्यक्तियों या समूहों के बीच प्रश्न-उत्तर, पुनः प्रश्न और उत्तर का अनुसरण तब तक किया जाता है जब तक निष्कर्ष प्राप्त नहीं हो जाता है।

बुद्धिवाद - इसके अन्तर्गत यह विश्वास किया जाता है कि बुद्धि, तर्क और कार्य कारण को समझते हुये हम जीवन, प्रकृति और समाज के वास्तविक कारण को जॉन सकते हैं। यह मानव के जीवन में ही ज्ञान के समस्त कारण होने पर विश्वास करता है।

1.2.16 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. बार्कर, अनैस्ट (1967), यूनानी राजनीति सिद्धान्त प्लेटों और उसके पूर्ववर्ती दिल्ली, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय,
2. एरिस्टोटल: (2015), पालिटिक्स (इंगलिश), क्रियेट स्पेस इन्डीपेन्डेन्ट, पब्लिशिंग प्लेटफार्म

इकाई-3 अरस्तू के राजनीतिक विचार

इकाई की रूपरेखा

1.3.1 उद्देश्य कथन
1.3.2 प्रस्तावना
1.3.3 जीवन परिचय
1.3.4 पद्धति और दर्शन
1.3.5 मौलिक विशेषता
1.3.6 राज्य सम्बन्धी विचार
1.3.6.1 विशेषाताएँ
1.3.6.2 विवेचना
1.3.7 दास प्रथा सम्बन्धी विचार
1.3.7.1 विशेषताएं
1.3.7.2 आलोचना
1.3.8 नागरिकता सम्बन्धी विचार
1.3.9 क्रांति सम्बन्धी विचार
1.3.9.1 क्रांति के कारण
1.3.9.2 क्रांति के सामान्य कारण
1.3.9.3 विशिष्ट कारण
1.3.9.4 क्रान्ति रोकने के उपाय
1.3.10 न्याय सम्बन्धी विचार
1.3.10.1 वितरणात्मक न्याय
1.3.10.2 सुधारात्मक न्याय
1.3.11 संविधान सम्बन्धी विचार
1.3.11.1 वर्गीकरण तथा व्याख्या
1.3.11.2 राजतंत्र
1.3.11.3 कुलीनतंत्र
1.3.11.4 धनिक तंत्र
1.3.11.5 सर्वश्रेष्ठ संविधान
1.3.12 कानून सम्बन्धी विचार
1.3.13 शिक्षा सम्बन्धी विचार
1.3.14 आदर्श राज्य
1.3.15 पाठसार/सारांश
1.3.16 अभ्यास/बोध प्रश्न
1.3.16.1 बहुविकल्पीय प्रश्न
1.3.16.2 लघुउत्तरीय प्रश्न
1.3.16.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1.3.17 कठिन शब्दावली

1.3.18 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.3.1 उद्देश्य कथन

1. इस अध्याय में हम अरस्तू के राजनीतिक चिन्तन की पृष्ठभूमि और मौलिकता को यूनानी सन्दर्भों के साथ-साथ समकालीन राजनीतिक चिन्तन से उसके तार्किक सम्बन्ध को स्पष्ट कर सकेंगे।
2. राजनीतिक चिन्तन में अरस्तू के महत्वपूर्ण योगदानों विशेषकर राज्य सम्बन्धी विचार, न्याय, शिक्षा, नागरिक और सम्पत्ति और स्त्रियों सामन्यवाद सम्बन्धी विचारों की समझ सकेगें।
3. अरस्तू तक प्राचीन यूनानी चिन्तन के विकास एवं उसके समक्ष आने वाली चुनौतियों को तत्कालीन परिवेश के अनुरूप समझा जा सकेगा।
4. अरस्तू के राजनीतिक विचारों में उपस्थित अपने समय की आलोचना, पूर्ववर्ती चिन्तनके परिष्कार और स्वयं उसकी सीमाओं को तार्किक क्रम में समझ सकेगें।

1.3.2 प्रस्तावना

अरस्तू, प्लेटों का प्रिय शिष्य और यूनानी-चिन्तन के त्रयी का अन्तिम महान विचारक था। उसने मौलिक रूप से यूनानी जीवन और मान्यताओं के पक्ष में प्रमाण रखे साथ ही प्लेटों की सृजनात्मक आलोचना भी की। परम्परागत यूनानी चिन्तनधारा के समर्थक के रूप में उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि भिन्न थी जिसका परिणाम उसके मौलिक राजनीतिक विचारों के रूप में हुआ। अरस्तू यथार्थवादी विचारक था। प्लेटों से भिन्न उसने न्याय, कानून, नागरिकता राज्य और दासता के सम्बन्ध में व्यावहारिक विचार व्यक्त किये। उसकी पद्धति पर तार्किक और वैज्ञानिक पद्धति का प्रभाव था जिसके प्रयोग वह राजनीतिक विज्ञान से भिन्न विषयों में कर रहा था। उसे प्रथम राजनीतिक विचारक होने का गौरव प्राप्त है।

1.3.3 जीवन परिचय

अरस्तू का जन्म यूनान के एक नगर राज्य स्टैगिरा में ई. पू. 384 में हुआ। उसके पिता का नाम निकोमक्स था। मेसीडोनिया के राजा के दरबारी चिकित्सक थे। अपनी युवावस्था में उसने एथेन्सि आकर प्लेटो की 'एकेडमी'में प्रवेश लिया। वह बीस वर्ष तक अकादमी का विद्यार्थी रहा। अकादमी में अध्ययन के दौरान उसने प्लेटो तथा सुकरात के विचारों को जाना। ई. पू. 347 में प्लेटो की मृत्यु के बाद वह एथेन्स से ट्रोड द्वीप चला गया। इसी अवधि में उसका विवाह हुआ और 342 ई पू से 366 ई पू तक वह मेसीडोनिया में राजकुमार सिकन्दर और का

शिक्षक रहा। एथेन्सन लौटकर उसने पुनः एक अकादमिक के रूप में अपना जीवन प्रारम्भ किया। प्लेटो की भॉति उसने एक शैक्षणिक संस्था 'लाइसिय' की स्थापना की। एथेंस में मेसीडोनिया विरोधीगुट की आलोचना का वह पात्र बना और उसे पुनः एक बार एथेंस छोड़ना पड़ा। ई. पू. 322 में महान विचारक अरस्तू की मृत्युः हुई।

अरस्तू प्रतिभा सम्पन्न तथा विशेषज्ञ विचारक था। उसके अध्ययन का क्षेत्र काफी विस्तृत और गहन था। उसने तत्कालीन समय में मानव ज्ञान से सम्बन्धित सभी विषयों पर मूल्य ग्रन्थ लिखें। यह राजनीति, साहित्यक, विज्ञान और दर्शन इथिक्स इत्यादि मुख्यतः सम्बन्धित है। माना जाता है कि उसने

400 से अधिक ग्रन्थ लिखे राजनीतिक क्षेत्र में द कॉस्टीच्यूंशन ऑफ एथेन्स, पालिटिक्स, रेटोरिक, इथिक्स रचना है। अरस्तू के राजनीतिक विचारो को उसकी के माध्यम से समझा जाता है।

1.3.4 पद्धति और दर्शन

अरस्तू ने अपने विचार मीमांसा में वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया। माना जाता है कि माता-पिता की वैज्ञानिक सोच तथा व्यवसाय का प्रभाव अरस्तू पर पड़ा। वह अनुभव मूलक पद्धति का अनुसरण करता है। अपने निष्कर्ष निकालने के लिए उसने विषयों का व्यावहारिक अध्ययन किया। विषयों को उसने सैद्धांतिक और व्यावहारिक दो भागों में विभक्त किया और राजनीतिक विज्ञान को व्यवहारिक विषय की श्रेणी में रखा। पॉलिटिक्सय की रचना के पूर्व उसने लगभग 158 नगर राज्यों के संविधान का अध्ययन किया। यह तथ्यों को संकलित करके उनके आधार पर निष्कर्ष निकालने की पद्धति थी। उसने अपने निष्कर्षों को अनुभव के आधार पर निकाला। जहाँ प्लेटो से पूर्व से ही कुछ निष्कर्षों या सहज सिद्ध को मानकर अपने विचार प्रस्तुत करता था वही अरस्तू ने पहले तथ्य जुटाये फिर विश्लेषण करके अपने निष्कर्ष देने का प्रयास किया। अरस्तू ने इस प्रकार आगमनात्मक पद्धति (lnductlve method) का प्रयोग किया। इसके अलावा अरस्तू ने तुलनात्मक पद्धति का भी प्रयोग किया। उसने अध्ययन का विषय तथा उसमें पैदा होने वाली समस्याओं का समाधान यथार्थतवादी है। अर्थात वह राजनीतिक के विषयों के सम्बन्ध में तथा उससे सम्बन्धित पक्ष में जन-जीवन से जुड़े बातों और तार्किक सम्बन्धों का प्रयोग किया। प्लेटो की भॉति न वह काल्पनिक विचार प्रस्तुत करता है और न ही भविष्य का आदर्शवादी चित्रण करने में रूचि लेता है। उसने राजनीतिक के विकास को मानव गतिविधि के विस्तार के रूप में समझा और मानवीय स्वभाव की प्रवृत्तियों को वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन किया। मानव राज्य के समक्ष रखा गया आदर्श काल्पनिक न होकर सामाजिक यथार्थ और मांग के क्रम में है। अरस्तू के चिन्तन पद्धति की एक और विशेषता है। उसने राजनीति और नीतिशास्त्र का पृथक्करण स्वीकार किया। तत्कालीन परिस्थितियों में यह महत्वसपूर्ण संकेत और वास्तविकता है। अरस्तू ने मानवीय दृष्टिकोण से तथ्यों पर विचार किया। इस प्रकार पद्धति और लक्ष्य के सुन्दर समन्वय अरस्तू के चिन्तन और विचारों में दिखाई देता है।

1.3.5 मौलिक विशेषता

अवलोकन हमें दर्शाता है।'पालिटिक्स की यह पहली पंक्ति ही अरस्तू के दृष्टिकोण को स्पष्ट कर देती है। उसके दर्शन की मूल प्रस्थपानाओं में विकास में विश्वास शामिल है। वह मानता है कि मानव और उसके द्वारा सृजित संस्थाएँ और मूल्य क्रमशः विकसित होते रहते है। सामाजिक और राजनीतिक विचार और संस्थाएँ लगातार उच्च स्थिति की ओर गतिशील रहते है। यह गतिशील उनके अनिवार्य गुण में अन्तर्निहित है। यह गति सन्तुलित भी है। यह नीतियों से बचते हुये अपने लक्ष्य को प्राप्त करने का संकेत देती है। बुद्ध की भाँति अरस्तू ने भी मध्यम मार्ग को श्रेष्ठ माना। उसका मानना है कि विचार, कार्य, संस्था या गतिविधि में वह अतिरेक से बचने की सलाह देता है। उसका कहना है कि मध्यम मार्ग प्रकृति द्वारा चुना गया मार्ग है। लक्ष्य की ओर समन्वित और संतुलित विकास इसी अनुशासन के द्वारा सम्भाव है। अरस्तू सोद्देश्य के सिद्धांत का प्रतिपादक है। इस सिद्धांत के अनुसार प्रकृतियों में उपस्थित प्रत्येक होता है जिसकी ओर उसका विकास होता है। अपनी अन्तिम स्थिति को प्राप्त करना ही प्रत्येक वस्तु का लक्ष्य होता है। अरस्तू इसी नियम के आधार पर संस्थाओं के विकास की व्यावख्या करता है।

इस प्रकार प्लेटो की तुलना में अरस्तू की अध्ययन पद्धति वैज्ञानिक तर्कसंगत, तुलनात्मक और ऐतिहासिक है। उसी कारण उसे पहले राजनीतिक वैज्ञानिक की दी जाती है। अरस्तू का योगदान इस अर्थ

में भी विशिष्ट है कि उसे राजनीति के अध्ययन को स्वतंत्र माना और उसे 'सर्वोच्च विज्ञान' की संज्ञा दी। अरस्तू रचनाओं विशेषकर पॉलिटिक्स में बहुत क्रमबद्ध विचार मिलने है। उसके विचारों में एक तार्किक अन्तर्सम्बन्ध है जो उसके चिन्तन को सुसंगत बन लाता है। यथार्थ परक विषय वस्तु इसको प्रमाणिक बनाती है। उसकी लेखन शैली सपाट है जो यथार्थ का वर्णन साल स्पष्ट शब्दों में करती प्रतीत होती है। प्लेटो की संवाद शैली की जगह उसने विचारों को क्रमबद्ध प्रस्तुत करने की वर्णनात्मक शैली की अपनाया है। अरस्तू की किताब पालिटिक्स विभिन्न लेखों का संग्रह है। इसमें छह खण्ड है जिसमें क्रमशः परिवार, आदर्श राज्य संविधान राज्यों की समस्याओं, राजनीतिक व्यवस्था के स्थायित्व और राजनीतिक आदर्श का विस्तृत अध्ययन किया गया। इसी के अन्तर्गत राज्य के स्वरूप, दासता, संविधान के वर्गीकरण, क्रान्ति और प्रस्तावित राज्य का विचार प्रस्तुत किया गया है। रिपब्लिक ही अरस्तू के राजनैतिक विचारों को जॉनने का मुख्य आधार है।

1.3.6 राज्य सम्बन्धी विचार

अरस्तू के चिन्तान में राज्यि सम्बन्धी विचार महत्वपूर्ण है। यह उसके दर्शन, विचार पद्धति और विश्वास का तार्किक प्रतिनिधित्व करते है। अरस्तू के अनुसार परिवार से मिलकर ग्रामों का निर्माण होता है और गाँवों से मिलकर राज्य का निर्माण होता है। राज्य सम्बन्धी इसी विचारों के कारण उसके राजनीति के नये ज्ञान का प्रतिपादक माना जाता है। राज्य एक प्राकृतिक संस्था है। यह प्राकृतिक इस अर्थ में कि वह बनायी गई संस्था नहीं है। वह कृत्रिम नहीं है। राज्य हमारी आवश्यकता से पैदा हुआ है। राज्य का उद्देश्य और कार्य नैतिक है। यह सभी प्रकार की संस्थाओं से श्रेष्ठ और सर्वोच्च है।

अरस्तू का कथन है कि 'मनुष्य एक राजनीतिक जीव है। जो अपने स्वभाव से ही राजनीतिक जीवन के लिये बना है।'राज्य के विकास का एक तार्किक प्रक्रिया है। स्त्री-पुरुष अपनी शारीरिक और भौतिक आवश्यकताओं के लिये एक दूसरे के प्रति आकर्षित होते है। वे एक दूसरे के साथ सहजीवन प्रारम्भ करते है। दास उसमें सहायता प्रदान करता है। इस प्रकार एक परिवार का जन्म होता है। इसमें स्त्री, पुरूष और दास शामिल होते है। परिवार प्रकृति द्वारा मनुष्य को भौतिक और शारीरिक आवश्यकता को पूरा करने वाली प्राथमिक संस्था है। इससे अधिक की आवश्यकता होती है जो परिवार पूरी नहीं कर सकता। परिवारों के मिलने से ग्राम का जन्म होता है। यह व्यक्तियों की दैनिक भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करता है जो परिवार में पूरी नहीं होती है। ग्राम परिवार का विस्तार है और संगठित रूप है। इसके बाद अनेक ग्रामों के संयोग से, मिलने से राज्य का निर्माण होता है। राज्य की उत्पत्ति के साथ ही संस्थाओं के विकास की यह प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है। जहाँ परिवार शारीरिक जरूरतों ग्राम भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है वही राज्य में मनुष्य की सभी प्रकार की जरूरते पूर्ण होती है। यह एक पूर्ण संस्था होने के साथ-साथ नैतिक आवश्यकताएँ भी पूर्ण नहीं होती है इस दृष्टिकोण से राज्य अप्रतिम संस्था है। अरस्तू के अनुसार वस्तु या विचार की अन्तिम अवस्था से उसकी प्रकृति निर्वाचित होती है। मनुष्य का संस्थागत विकास राज्य के विचार पर समाप्त होता है। राज्ये एक राजनैतिक संस्था भी है। इसलिए अरस्तू का कथन है कि 'मनुष्य् एक राजनीतिक प्राणी है।'राज्य की महत्ता सिद्ध करते हुए कहता है कि 'राज्य के बाहर या तो पशु रह सकता है या देवता। साधारण मनुष्य राज्य के बाहर नहीं रह सकता।

अरस्तू राज्य के अभाव वाली परिस्थिति को अपने विचारों में स्वीकार नहीं करता। उसका विश्वास है कि ऐसा कोई समय नहीं रहा जब व्यक्ति और राज्य साथ-साथ उपस्थिति नहीं रहे। राज्यि का अस्तित्व प्राकृतिक है।

1.3.6.1 विशेषताएँ

अरस्तू ने राज्य को कायनानिया कहा अर्थात ऐसा समुदाय जिसके बिना मानव जीवन सम्भसव न हो। सर्वप्रथम वह राज्या को एक नैसर्गिक संस्था बताता है। यह सोफिस्टो की उस भावना के विपरीत है

जिसमें वह राज्य को एक कृत्रिम संस्था मानते है। वही अरस्तू यह मानता है कि राज्य मानव स्वभाव का तार्किक विस्तार है। यह हमारी प्राकृतिक गुणों आवश्यकताओं और इच्छाओं में शामिल है। इसी की पूर्ति के क्रम वह दूसरों के साथ संयोजन करता है। पहला साहचर्य परिवार, फिर ग्राम और अन्ततः राज्य के रूप में सामने आता है। राज्य प्राकृतिक विकास है। राज्य की उत्पत्ति हमारे जीवन के लिये हुई है और सुखी जीवन के लिये इसका अस्तित्व अभी तक बना हुआ है।

राज्य बाहरी, कृत्रिम या पारलौकिक संस्था नहीं है। वह मानव के स्वभाव की सम्पूर्णता है। उसका विस्तार है राज्य तक विकास में मनुष्य की सभी सम्पूर्ण होगा। वह मनुष्य की अन्तनिर्मित प्रवृत्ति का स्वाभाविक परिणाम है। अरस्तू का कथन है कि 'राज्य के अभाव में मनुष्य जीवन अपूर्ण होगा। वह मनुष्य की अन्तिरिम प्रवृत्ति का स्वाभाविक परिणाम है। अरस्तू का कथन है कि 'राज्य प्रकृति की ही रचना है तथा मनुष्य प्रकृति से ही एक राजनीतिक प्राणी है।'इसके पीछे अरस्तू के कुछ तर्क भी है। उसके अनुसार प्रकृति का अर्थ विकास की चरम अवस्था को पाना अथवा पूर्णता प्राप्ता करना होता है। मनुष्य की पूर्णता राज्य में प्राप्त होती है। इसलिये राज्य प्राकृतिक है। प्रकृति सदैव आवश्यक चीजों का ही निर्माण करती है और उसके अस्तित्व को बनाये रखती है तथा जो आवश्यक है वही प्राकृतिक है। इस तर्क के हिसाब से भी राज्य एक प्राकृतिक संस्था है।

अरस्तू के राज्य के दूसरी विशेषता यह है कि वह सर्वोच्च समुदाय के रूप में मानता है। यह पहली विशेषता का विस्तार है। राज्य सर्वोच्च इसलिए है क्योंकि अन्य सभी संस्थाएँ इसके अन्तर्गत है। मनुष्य की जो आवश्यकताएँ और मांग है उसको अन्य संस्थायें सीमित रूप से पूरी करती है। उनका उद्देश्य विशेष माँग तक सीमित होता है। किन्तु राज्य में सभी मांग पूरी होती है। अन्य सभी संस्थायें जैसे परिवार और ग्राम अपनी-अपनी विशेषताओं और भूमिका के साथ राज्य में समाहित रहती है। यह भौतिक, बौद्धिक, आर्थिक, नैतिक और अध्यात्मिक सभी आवश्यकता की पूर्ति करता है। राज्य, इसलिये भी सर्वोच्च है क्यों कि यह सर्वोच्च लक्ष्य को पूरा करने वाली संस्था है। यह सर्वोच्च लक्ष्य मनुष्य को शुभ की प्राप्ति सुनिश्चित कराना है। इसलिये राज्य को सर्वोच्च संस्था कहा गया।

इसके अतिरिक्त राज्य की एक अन्य विशेषता उसका आत्मनिर्भर होना भी है। मनुष्य की हर प्रकार की आवश्यकताएँ राज्य के भीतर ही पूरी होती है। कोई भी आवश्यकता ऐसी नहीं है जो राज्य के भीतर पूरी नहीं होती है। राज्य के बाहर ऐसी कोई संस्था नहीं रह बन सकती जो हमारी आवश्यकता पूरी करने का कार्य करें। राज्य वह पर्याप्त संस्था है जो हमारी जरूरतों को पूरा करता है। राज्य आत्मनिर्भर है। स्वयं राज्य को किसी अन्य संस्था की जरूरत नहीं है। वह आत्मनिर्भर है।

इसी से जुड़ी हुई विशेषता यह भी है कि राज्य अन्तिम और पूर्ण संस्था है। यह सामाजिक विकास का चरम अवस्था है। परिवार से आरम्भ होकर राज्य तक विकास की यात्रा एक पूर्ण यात्रा है। इसके अतिरिक्त अरस्तू के राज्य सिद्धांत की विशेषता यह भी है कि वह तार्किक आधार पर राज्य को व्यक्ति से पहले मानता है। ऐसा ऐतिहासिक दृष्टिकोण से नहीं है। परिवारों के मिलने से ग्राम और अन्ततः राज्य अस्तित्व में आता है। अरस्तू का कथन तार्किक है। उसके अनुसार सम्पूर्ण के बिना उसके अंग की कल्पना नहीं की जा सकती। राज्य ही सम्पूर्णता है। बाकी सभी संस्थांए जैसे ग्राम और परिवार उसके अंग है। स्वयं व्यक्ति भी उसका अंग है। जैसे शरीर अंग विशेष को समझ पाते है। इसलिये राज्य व्यक्ति से पहले है।

राज्य नैतिक संस्था भी है। राज्य का उद्देश्य मनुष्यों की नैतिक है आवश्यकताओं की पूर्ति करना है। यह उद्देश्य राज्य के अतिरिक्त किसी अन्य संस्था का नहीं है। भौतिक और सामाजिक आवश्यकताओं के कारण अस्तित्व में आने वाली राज्य इसलिये बचा हुआ है ताकि वह उससे श्रेष्ठ जीवन का उद्देश्य से बनी होती है और अन्तिम रूप से आत्मनिर्भर नहीं होती है। वह राज्य पर आश्रित होती है। राज्य मानव

जीवन के सभी संस्थाओं, विचारों और इच्छाओं को समाहित रखता है तथा नैतिक इच्छाओं व आवश्याकताओं का एकमात्र संस्था है। जिसके अभाव में श्रेष्ठ जीवन सम्भव नहीं है। साथ ही राज्य को समुदायों का समुदाय भी कहा जा सकता है। परिवार और ग्राम स्वयं में एक समुदाय है राज्य के अन्तर्गत ही अन्तिम रूप से उनका औचित्य सिद्ध होता है। राज्य इन्हीं विविध संस्थाओं से निर्मित और स्वयं उनसे उच्चतर संस्था है। अरस्तू के लिये राज्य का स्वरूप उसकी अहुलता में है। इन इकाईयों के साथ राज्य का सहअस्तित्व रहता है। लेकिन राज्य अपने भीतर उन सभी अपूर्ण और विशेष संस्थाओं को समेटे रहता है।

1.3.6.2 विवेचना

अरस्तू ने राज्य सम्बन्धी अवधरणा को व्यापक रूप से प्रस्तुत किया है। अरस्तू मनुष्य को प्रमुखता विवेकवान प्राणी मानता है हलाँकि उसमें अविवेक के तत्व भी है। इसी का प्रभाव राज्य पर भी पड़ता है। राज्य मनुष्य की अविवेक के तत्व को छोड़ता हुआ पूर्ण विवेक का स्पष्ट प्रतिनिधित्व करता है। उद्देश्यता के सिद्धांत के अनुरूप राज्य मनुष्य का सर्वोच्च अन्तिम उद्देश्य बन जाता है। अरस्तू राज्य द्वारा किये जाने वाले कार्यो को भी विस्तार से व्याख्याति करता है। उसके अनुसार राज्य को व्यक्तियों की कुछ बातों का नियमन, नियंत्रण करना चाहिये तथा कुछ बातों में नागरिकों को स्वतंत्र छोड़ देना चाहिए। राज्य में विविधता में एकता होनी चाहिए। राज्य का स्वरूप बहुतलतावादी होना उचित है। विविधता श्रेष्ठ सभ्यता का लक्षण है। राज्य की एकता और सर्वोच्चता तभी कायम रह सकती है जब विविधता में एकता के सिद्धान्त का व्यावहारिक पालन किया जाता है। अरस्तू का यह विचार प्लेटो के राज्य सम्बन्धी विचार से भिन्न है। प्लेटो राज्य के भीतर आन्तरिक ओर बाहरी विविधता को मान्यता नहीं देता था। उसके अनुसार तीनों तत्व विवेक, साहस और वासना एक ही सर्वोच्च लक्ष्य न्याय को प्राप्त करने के लिये व्यक्ति और राज्य दोनों में उपस्थिति होते है।

पुनः अरस्तू राज्य को अपने सभी नागरिकों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये राज्य संस्था को मानता है। अरस्तू राज्य को ऐसी संस्था मानता है जो एकात्मक और रचनात्मक (Poslt\ve and Construct\ve) है। वह मानव जीवन को नैतिक, का कार्य नागरिकों को अच्छे विचारों की आरे ले जाने, बुराई से रोकने तथा कर्तव्य को पूरा कराने वाला होना चाहिए। राज्य में न्याय की स्थापना तथा मनुष्य के नैतिक जीवन को सम्भव बनाने के लिये वातावरण का निर्माण भी राज्य का कार्य है।

1.3.7 दास प्रथा सम्बन्धी विचार

दासता पर अरस्तू ने व्यापक रूप से विचार व्यक्त किया। वह दासता का समर्थन करता है। दास प्रथा यूनानी जीवन पद्धति का अनिवार्य अंग था। वह व्यापक रूप से मान्यता प्राप्त रहा। अरस्तू इसको व्यापक मान्यता देता है। वह दास को परिवार के अंग के रूप में मान्यता था। दास की परिभाषा देते हुए अरस्तू कहता है कि जो अपनी प्रकृति से ही अपना नहीं है बल्कि दूसरे का है और फिर भी है, वह निश्चीय ही स्वभाव से दास है। वह दूसरे की सम्पति है या उसका कब्जा है। और एक कब्जे की परिभाषा यह है कि वह कार्य करने वाले से अलग है। दूसरे स्वामी के बल दास का स्वामी है। वह उसका दास नहीं है। जबकि दास केवल अपने स्वामी का दास ही नहीं बल्कि पूर्णरूप से उसी का है।

दास और दासता की उपरोक्त दोनों अरस्तू ने अपनी पुस्तक 'पालिटिक्स में दिया है। इस प्रकार वह मानता है कि दासता एक गुण होने के कारण प्राकृतिक है। प्रकृति से ही कुछ दास और कुछ अन्य स्वामी होते है। दास के भीतर अपूर्णता होती है। यह अपूर्णता स्वामी के नियन्त्रण और आश्रय से दूर हो सकती है। दास विशुद्ध अर्थो में मनुष्य नहीं होता। वह केवल बाहरी रूप रंग में मनुष्य से समता रखता है। गुण क्षमता और विशेषता में उसकी तुलना सम्पत्ति के समान किसी साधन से की जा सकती है। दास स्वतंत्र नहीं रहता। सदैव उसे किसी नियन्त्रण किसी मार्गदर्शक की आवश्यकता होती है।

अरस्तू के अनुसार दासता दो प्राकर की होती है। पहली प्राकृतिक दासता और दूसरी वैधानिक अथवा कानूनी दासता। अपनी शारीरिक अथवा मानसिक अक्षमता के लिए दूसरों पर आश्रित रहने वाले को अरस्तू ने प्राकृतिक दास की श्रेणी में रखा है। ये अकुशल और अयोग्य लोग होते है। दूसरे वे दास है जो युद्ध में पराजित हो जाने के पश्चात बन्दी बनाए जाते है। अरस्तू इस प्रकार के दासों की एक पक्षपात पूर्ण व्याख्यात भी करता है। उसके अनुसार यदि यूनानी व्यक्ति युद्ध में पराजित हो जाये। उसके बाद भी उसे दास नहीं बनाया जा सकता क्योंकि उसका जन्म स्वामी बनने के लिए हुआ है। अरस्तू का दासता और उसके प्रकार सम्बन्धी तर्क विरोधाभासी, अतार्किक व अमानवीय है। दासता को किसी भी अर्थ में सही नहीं कहा जा सकता।

1.3.7.1 विशेषताएँ

अरस्तू दासता को प्राकृतिक मानता है। उसके अनुसार प्रकृति से ही कुछ मनुष्य श्रेष्ठ, उच्च और क्षमतावान होते है। प्रकृति ने उनकी आत्माह में शासन करने का सिद्धांत दिया है। वही प्रकृति से ही कुछ व्यक्ति निम्न और कमतर प्रवृति के होते है। उनमें अपूर्णता होती है। वह बिना आश्रय अथवा निर्देशन अपना जीवन व्यतीत नहीं कर सकते। स्वामी ऐसे दासों का निर्देशन और संरक्षण करते है। प्रकृति में हर जगह यह नियम दिखता है जिसमें श्रेष्ठ, निम्न पर शासन करता है। दास और स्वातमी में जो विषमता दिखती है वह भी प्राकृतिक है। दोनों के मेल से संतुलन बनता है। दोनों में अन्तर न केवल वैचारिक बल्कि शारीरिक भी होता है। अरस्तू ने रिपब्लिक में लिखा कि। प्रकृति स्वतंत्र पुरूष तथा दास के शरीरों में भेद करना चाहती है अतः वह एक के शरी को आवश्य क सेवा कार्यों के लिये बलिष्ठ बनाती है तथा स्वतंत्र पुरूष को सदल और सुकोमल बनाती है। वह शारीरिक श्रम के लिये योग्य नहीं होता है।

दूसरे, दासता स्वामी और दास दानों के लिये लाभकारी होती है। बौद्धिक गुणों से सम्पन्न स्वामी वर्ग को अपने उच्चक, जटिल मानसिक कार्य के लिये अवकाश की आवश्यकता होती है। यह अवकाश उसे दास के कारण ही मिल सकता है। दूसरी ओर स्वामी दास का निर्देशन करता है और उसके जीवन को सुरक्षित और उपयोगी बनाता है। दास के पास संयम और ज्ञान नहीं होता। इसके लिए उनहे स्वामी की आवश्यकता होती है। जैसे मानवीय निर्देशन में रहने से जॉनवर भी उपयोगी आदते सीख जाते है। वैसे दास भी अपना जीवन उपयोगी बना लेता है।

नैतिक दृष्टि से भी दास प्रथा आवश्यक होती है। स्वामी और दास के नैतिक स्तर में भेद होता है। स्वामी बहुत से मानवीय गुणों का स्वामी होता है जो दासों के लिये सम्भव नहीं है। दासों को स्वामी की आज्ञाओं का पालन करते हुये अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए। दास के भीतर के बौद्धिक और नैतिक कमी स्वामी के अधीन संरक्षण से ही दूर हो सकती है। दास के भीतर क्षमा नहीं होती कि वह अपनी कमियों को दूर कर सके। स्वामी उसको पहचानता है और उसे दूर करता है। नैतिक उत्थान केवल स्वामी के संक्षण में ही सम्भव हो सकता है। इसलिये भी दासता आवश्यक है।

अरस्तू दासों के प्रति व्यवहार को मानवीय बनाने का प्रयास भी करता है। वह दास और स्वामी के सम्बन्ध को सहयोग के रूप में परिभाषित करता है। जहाँ दास का कार्य स्वामी को शारीरिक कार्य से अवकाश देना बताता है वही कहता है कि स्वामी का कर्तव्य है कि वह दास के हर प्रकार की सुविधाओं का ध्यान रखें। अरस्तू इस प्रथा में अमानवीयता और क्रूरता का पोषण नहीं करता। वह यह मानता है कि दासता के वंशानुगत नहीं बनाना चाहिए। दासता व्य व्यक्ति विशेष तक ही सीमित रहनी चाहिए। स्वामी दास के अच्छे व्यवहार, कार्य और प्रगति को देखकर उसे मुक्ति भी कर सकता है। अरस्तू के लिए दासता वंशानुगत नहीं है। दासों के बच्चे स्वतंत्र रूप से नागरिक रह सकते है। दासों का अन्तिम उद्देश्य। स्वतंत्रता प्राप्ति करना है। इसके लिये उन्हें लगातार अपनी मानसिक, बौद्धिक और नैतिक उन्नति करके हुये स्वतंत्रता प्राप्ति को अपना लक्ष्य बनाना चाहिए।

1.3.7.2 आलोचना

यह संकल्पना स्वयं में अमानवीय है। इसमें जन्म से ही कुछ व्यक्तियों को अन्य के अधीन रहने का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया। दासता के वास्तविक इतिहास को देखते हुये यह कहा जा सकता है कि यह प्रथा मानव जाति के हित में नहीं है। यह क्रुर, पिछड़ी और पाशविक प्रथा का समर्थन करने जैसा है। दासता प्रकृति कभी नहीं है। शारीरिक और मानसिक शक्तियाँ और क्षमताए सभी व्यक्तियों को जन्म से प्राप्त होती है। इसके निर्धारण का कोई सार्वभौमिक पैमाना नहीं है कि किस प्रकार की शक्ति को प्राथकिता दी जायें। यह परिस्थिति विशेष पर निर्भर करता है कि वह शारीरिक या मानसिक शक्ति में कब किस की आवश्यकता है। वास्तव में दोनों को अलग नहीं किया जा सकता। यह व्यवस्था किसी कि हित में नहीं है। स्वयं स्वामी का सर्वंगीण विकास तभी सम्भव है जब वह शारीरिक श्रम की प्रक्रिया से जुड़ा रहे। स्वयं अरस्तू यह स्वीकार करता है कि दासों के पास स्वामी के निर्देशों को समझने की आवश्य्क मानसिक योग्यता होती है तब उसमें मानसिक और बौद्धिक शक्तियाँ का अभाव स्वीकार नहीं किया जा सकता। बुद्धि और कुशलता का सम्बन्ध अभास से है। अरस्तू जिन शक्तियों को जन्म जात मान रहा था वह अभ्यास से जुड़ी हुई है दासों को भी वह वातावरण उपलब्ध होने पर स्वामी व दास की मानसिक क्षमता में कोई अन्तर नहीं रह जाता है।

दासता को प्रकृतिक बताते हुये भी दासों की मुक्ति का प्रावधान करना विरोधाभासी है। यह विरोधाभास उसका यूनानी जाति को दास न बनाने के सन्दर्भ में भी सामने आता है। यह यूनानी जाति की श्रेष्ठता को तार्किक पुष्टि देने का संगत प्रयास था। मनुष्यों के बीच दासता का सम्ब्न्ध मानव समाज के सम्बन्धों को पशुवत आचरण में बदलने के समान है। यह समानता और स्वतंत्रता के मूल्यों व आदर्शो के ठीक विपरीत होने के साथ-साथ अरस्तू जैसे दार्शनिक राजनीतिक विचारक की सीमा को भी निर्धारित करता है।

विवेचनात्मक रूप से कहा जा सकता है कि अरस्तू तत्कालीन आर्थिक व्यवस्था की मांग के मनुष्य अपने राजनीतिक विचारों को प्रस्तुत कर रहे थे और उसके लिये तर्क गढ़ रहे थे। तत्कालीन यूनान के समाज और अर्थव्यवस्था में दासों का प्रमुख योगदान था और उत्पादन उन्ही के उपर निर्भर था। सोफिस्टों के प्रभाव के कारण उनके बीच बराबरी का भाव लोकप्रिय हो रहा था इसकी सैद्धान्ति काट तथा परम्परागत यूनानी संस्कृति संरक्षण के लिये अरस्तू दासता का हर सम्भ व तर्क से समर्थन कर रहे थे।

1.3.8 नागरिकता सम्बन्धी विचार

अरस्तू ने 'पालिटिक्स' की तीसरी पुस्त क में राज्य और नागरिकता के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये है। नागरिकता के परिभाषा देते हुए अरस्तू कहता है कि वह व्यक्ति जो न्यायपालिका और व्यवस्थापिका के सदस्य के रूप में भाग लेता है वह नागरिक है। दोनों में से किसी एक में भाग लेना नागरिक होने का लक्षण होने का लक्षण है क्योंकि व्यवस्थापिका और न्यायपालिका दोनों प्रभुसता के कार्य है। अरस्तू ने नागरिक को स्पष्ट करते हुये नागरिक अथवा नागरिकता को नकारात्मक रूप से समझने का प्रयास करता है। उसके अनुसार वह स्त्री, बच्चे और विदेशी व्यक्तियों को राज्य का नागरिक नहीं मानता है। विदेशी माता-पिता से जन्में किसी बच्चे तथा राज्य की नागरिकता से वंचित किसी व्यक्ति को वह नागरिक न मानने की बात कहता है। इस प्रकार सकारात्मक वह नकारात्मक दानों अर्थों से नागरिक और नागरिकता की परिभाषा स्पष्ट होती है। अरस्तू के नागरिकता संबंधी अवधारणा बहुत सीमित हो जाती है। उसमें केवल यूनानी पुरूष ही पात्रता रखते है। और इन्ही को एक नागरिक के रूप में न्यायिक तथा विधायी कार्य करने, इस सम्बन्ध में आवश्यक भूमिका निभाने की शक्ति दी जाती है। नागरिक सर्वोच्च, सत्ता में भागीदारी करता है।

नागरिकता को सीमित रखने के पीछे अरस्तू का प्रमुख तर्क यह है कि नागरिकता एक विशेष गुण है। उसके दायित्व भी गम्भीर और उच्च कोटि के है। इसलिये एक नागरिक में नैतिक मूल्य और बौद्धिक क्षमता होनी चाहिए जिससे वह सार्वजनिक हित को स्वयं के मूल्यांकन जॉन सके। सार्वजनिक कार्यो में भाग लेने के लिये आवश्यक है कि नागरिक के पास पर्याप्त अवकाश हो। यह अवकाश प्रदान करें। अवकाश का अर्थ खाली बैठना नहीं है। परिवारिक और आर्थिक क्रियाकलाप से मुक्त होकर नागरिक सार्वजिनिक भूमिका निभाने के लिये स्वयं को तैयार करता है। सावर्जनिक रूप से मुद्दों पर विचार विमर्श, आलोचना व मूल्यांकन करता है जिससे निर्णय करते समय या नीति निर्माण के समय उसके पास पर्याप्त ज्ञान और दृष्टि हो।

इस प्रकार अरस्तू का नागरिक एक गुणान्तर दायित्व निभाता है। वह विशिष्ट है। इसीलिए अरस्तू सभी को नागरिकता प्रदान भी ही करता है। प्लेटो उसकी तुलना में अपने आदर्श राज्य में को, चाहे वह उच्च कुलीन व्यक्ति हो, एथेंसवासी पुरूष या महिला हो या दास, नागरिकता प्रदान करता है। इस दृष्टिकोण से अरस्तूं नकारात्मक है। उसकी नागरिकता उच्च कुलीन पुरूष यूनानियों तक ही सीमित रही है। उसका नागरिकता का सिद्धान्त विभेदकारी, अप्रासांगिक और कुलीन तंत्रीय व्यवस्था का समर्थक है।

1.3.9 क्रान्ति सम्बन्धी विचार

अरस्तू ने अपनी पुस्तक 'पालिटिक्स'के भाग पाँच के अन्तर्गत कुल बारह अध्यायों में क्रान्ति के विविध पक्षों की चर्चा की है। अरस्तू के चिन्तन में क्रान्ति महत्वपूर्ण विषय के रूप में उपस्थित हुआ है। वह क्रान्ति के माध्यम से होने वाले परिवर्तनों की गहन समीक्षा करता है। क्रान्ति की उसकी संकल्पना बहुत व्यापक और क्रान्ति के आधुनिक अर्थो से पर्याप्त रूप से भिन्नि है । आधुनिक अर्थों में जहाँ प्रचलित शासन प्रणाली में आधारभूत परिवर्तन को क्रान्ति की संज्ञा दी जाती है वही अरस्तू राज्य में होने वाले हर छोटे-बड़े परिवर्तन को क्रान्ति की संज्ञा देता था। अरस्तू के अनुसार यह आवश्यक नहीं की बड़े परिवर्तनों को ही क्रान्ति कहा जाये। आंशिक परिवर्तन जो शासन और सरकार की नीतियों, संरचना, और परम्परा में होते है उन्हें भी क्रांति के रूप में ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि वह राज्य को गति और स्वरूप को प्रभावित करते है। राज्य में की प्रक्रिया इन्हीं छोटे परिवर्तनों से शुरू होती है। अरस्तू के अनुसार क्रान्तियाँ कई प्रकार की होती है। सम्पूर्ण क्रान्ति में राज्य का शासन प्रशासन पूरी तरह बदल दिया जाता है। पुरानी व्यवस्था और लागों की जगह बिलकुल नयी व्यवस्था उसके कुछ हिस्से अथवा अंश में किया जाता है। वही रक्तपूर्ण यानि हिंसक क्रान्ति में हथियार, युद्ध तथा भौतिक संघर्ष के बल पर परिवर्तन सम्पन्न किया जाता है जबकि अहिंसक क्रांति में इसकी आवश्यकता नहीं होती। यह परिवर्तन एक व्यक्ति के विरूद्ध भी आयोजित हो सकता और व्यवस्था के विरूद्ध भी। इसलिये क्रान्ति के कई तरीकों में इस प्रकार का विभाजन भी अरस्तू करता है ।

1.3.9.1 क्रान्ति के कारण

क्रान्ति के कारणों पर विस्तार से चर्चा करते हुये अरस्तू लिखता है कि क्रांति होने के कई कारण होते है। इसका सीधा सम्बन्ध हर परिवर्तन को क्रांति मानने से भी है। इससे क्रान्ति के कारणों की संख्या बढ़ जाती है। लेकिन अपनी इस संकल्पना को वह तार्किक आधार भी प्रदान करता है और उसका व्यापक विशेषण प्रस्तुत करता है। क्रान्ति के मुख्य कारणों को वह मुख्यत दो भागों में विभक्त करता है ।

(क) क्रान्ति के सामान्य् कारण

(ख) क्रान्ति के विशिष्ट कारण

1.3.9.2 क्रान्ति के सामान्य कारण

किसी राजनीतिक व्यवस्था में परिवर्तन के कुछ ऐसे कारण होते है जो हर प्रकार के परिवर्तन के पीछे उपस्थित होते है। इनसे ही क्रान्ति की पृष्ठभूमि तैयार होती है।

इन सामान्य कारणों में कुछ कारण मनोवैज्ञानिक कारणों की श्रेणी में डाले जा सकते है। समानता का भावना सबसे प्रबल कारण है। यह एक विभेद पैदा करता है। राज्य में इसको लेकर तीव्र मतभेद सामने आते है। कुछ लोग मानते है कि राज्य में प्रत्येक लोग एक दूसरे बराबर है जबकि दूसरे कुछ इस सामान्य समानता में विश्वास नही करते। उनका मानना है कि व्यक्ति में ठीक-ठीक समानता स्थापित नही की जा सकती। निम्न स्थिति में खड़े लोग उपरी लोगों के बराबर समानता के लिये जबकि श्रेष्ठ स्थिति के लोग इसी समानता को सिद्धान्त को स्थापित नही होने देना चाहते। इसी समानता से गहराई से जुड़ा विचार लाभ और सम्मान का है। समाज और राज्य में इसके लिये तीव्र इच्छा पाई जाती है। प्रत्येक व्यक्ति इसे अधिक से अधिक प्राप्त करना चाहता है और इसे लेकर उसका दूसरों से संघर्ष होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने लाभ और सम्मान के पक्ष में राज्य को प्रभावित करना चाहता है यही राज्यि में क्रान्ति पैदा करता है। राज्य को भीतर निवास करने वाले नागरिकों की भावनाये, उनके संस्कार और संस्कृति का भी राज्य की क्रांति से गहरा सम्बन्धत होता है। यदि लोगों के बीच भय, द्वेष भावना जातियों के बीच प्रतिस्पीर्धा होती है। यदि राज्य में लोगों के अंदर प्रतिस्पर्धा की भावना, घृणा, दूसरो की उन्नति से द्वेष का भाव, राज्य के संगठनो मे असमानता अथवा किसी एक अंग की अप्रत्यशित वृद्धि रहती है, तो लोगों में समान्यतः असंतोष पैदा होता है और क्रांति की पृष्टभूमि तैयार होती है। शासक सत्ता पर अपनी पकड़ रखना चाहते हैं, इसके लिए वह बल प्रयोग करते है, जिससे असंतोष पैदा होता है। सत्ता से बाहर के लोग सर्मथन हासिल करके सत्ता प्राप्त करना चाहते है जबकि पहले से सत्ता मे मौजूद लोग शक्ति में भागीदारी पसंद नही करते इससे असन्तोज पैदा होता है, जो क्रांति का कारण बनता है।

चुनाव पद्धति में गैर कानूनी हेर-फेर भी क्रांति का कारण बनता है अथवा उसके तरीके में परिवर्तन भी क्रांति को सम्भव बनाता है जैसे जहाँ कुछ लोगों के बीच से शासकों का चुनाव हो वहाँ मतदान की प्रणाली लागू करना अथवा इसका ठीक विपरित करना अरस्तू के अनुसार किसी भी प्रकार के सन्तुलन को भंग करने से सामान्यत परिस्थिति में क्रांति की पृष्ठमूमि तैयार होती है। समय के साथ प्रत्येक राज्य एक स्वाभाविक संतुलन प्राप्त कर लेता है और यह संतुलन कायम रहने पर ही क्रांति को रोका जा सकता है। प्रत्येक राज्य को यह कोशिश करनी चाहिये कि प्रचलित संवैधानिक व्यवस्थाक और उसको मान्यता देने वाले लोगों उसके समर्थको को प्रभावशाली स्थिति में रखा जाये। राज्य के तत्वों के बीच साम्यता को ध्यान मे रखना चाहिए उनके बीच फैली विषमता राज्य को क्रांति के माध्य्म से नष्ट कर देती है।

1.3.9.3 विशिष्टि कारण

अरस्तू ने विभिन्न संविधानों, संविधानों, राज्यों में हुये परिवर्तनों का व्यांपक अध्ययन करके यह सिद्धान्त निर्धारित किया कि क्रांति के सामान्य कारणों के अलावा अलग-अलग तरह की शासन व्यस्थाओं में क्रान्ति के अलग-अलग कारण जिम्मेदार होते है। जिन्हें, क्रान्ति के विशिष्ट कारण में गिना जा सकता है। क्रान्तियाँ किसी भी प्रकार की शासन प्रणाली में सम्भव है। किन्तु इनके कारण अलग-अलग होते है।

अल्पतंत्र में क्रांति का प्रमुख कारण बहुसंख्य क लागों के साथ किया गया अन्याय पूर्ण व्यवहार होता है। इससे असन्तोष होता है शक्ति और प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिये संघर्ष प्रारम्भ। किया जाता है। अरस्तू के अनुसार अल्पतंत्र में क्रांति के लिये मुख्य रूप से सत्ता और प्रतिष्ठा पर थोड़े से लोगों का नियन्त्रण, वंचित लोगों का योग्य नेतृत्व में संगठित होना और संघर्ष करना, दम्भ्कारी शासकों की उपस्थिति और शासन सत्ता द्वारा प्रतिभाशाली लोगों का अपमान किया जाना कारण जिम्मेदार होते है। जबकि अभिजात्य तत्व में कुछ भिन्न विशेष कारण होते है।

अभिजात्य तंत्र में थोंड़े से लोगों द्वारा मिलजुल कर प्रतिभा शक्ति और प्रतिष्ठा के बल पर शासन चलाया जाता है। जाहिर है सम्मांन और प्रभाव के पद थोड़े से लोगों के बीच ही विपरित किये जाते है। पदों से प्रतिभाशाली व्यक्तियों को वंचित रहने से अभिजात्य तंत्र के विरूद्ध असन्तोष उत्पन्न होता है। प्रतिभाशाली लोगों अपने इर्दगिर्द लोगों को इकट्ठा करता है। अपने प्रति वैधता उत्पन्न कर अभिजात्य वर्गीय शासन के विरूद्ध खतरा पैदा होता है। अभिजात्य तंत्र के पतन का एक कारण यह भी है कि उसमें संविधान का संतुलन भंग हो जाता है। यह असंतुलन ही राज्य में क्रान्ति का कारण बनता है।

जबकि प्रजातंत्र अथवा भीड़ तंत्र में क्रान्ति के कारण अलग होते है। प्रजातंत्र में क्रान्ति ऐसे नेताओं अथवा लोगों के कारण होती है जो अपने हित को सावर्जनिक हित का रूप देकर शासन के विरूद्ध लोगों को हितपूर्ति के लिये उतेजित करते है। ये बहुसंख्यक विपन्नो लागों को शासन सत्ता के विरूद्ध अपने साथ लेते है जो करिशमाई व्यक्तित्व के होते है। अरस्तू के समय रोड़स, कोस, हेरे विलया अथवा मोगरा में इसी प्रकार से क्रांति हुई। इस प्रकार की व्यवस्था में गुण का नहीं संख्या का महत्व होता है और सर्वसाधारण शासकों को विशिष्ट नही समझता है।

1.3.9.4 क्रान्ति रोकने के उपाय

अरस्तू ने क्रान्ति के कारणों की पहचान करने बाद उसे रोकने का भी सुझाव दिया है। राजतंत्र में क्रांति अपमान, भय और प्रतिभाशाली लोगों के प्रति उपेक्षा भाव के कारण होती है। राजतंत्र में शासकों को संयत होने की नीति अपनानी चाहिये। उसके अनुसार उस राज्य को जो अपने भीतर क्रांति को रोकना चाहता है उसे शक्ति पर नियन्त्रण स्थापित करना चाहिये। सम्मान और पदों का न्यायपूर्ण वितरण सुनिश्चित करके, आर्थिक विषमता कम करके तथा विरोधी मतों के लोगों के बीच संतुलन स्थापित करके क्रांति को रोका जा सकता है।

इसके अतिरिक्त अरस्तू कुछ महत्वपूर्ण और तकनीकी कारण का भी सुझाव देता है। वह राज्ये के अधिकारियों की सेवा अवधि को कम रखने का सुझावा देता है। वह यह अवधि छह माह तक रखने का सुझाव देता है। राज्य को नागरिकों को अपने संविधान के अनुरूप प्रशिक्षित करना चाहिये। राज्य की चुनैतियों के विषय में नागरिक को सचेत रखना चाहिये। शिक्षा प्रणाली को इस प्रकार बनाना चाहिये जिससे राज्य के प्रति निष्ठा को विकसित किया जा सके विशेषकर नवयुवकों में संविधान के प्रति विश्वास बहुत जरूरी है।

निरंकुश शासन व्यवस्था में शक्ति आवश्यक तत्व है जिससे राज्य में परिवर्तन को रोका जा सकता है। राजा को शक्ति का खुलकर प्रदर्शन करना चाहिये। जिससे उसके शक्ति के प्रति लोगों में सम्मान विकसित हो साथ ही उसे नागरिको की सदभावना और प्रेम प्राप्त करने की कोशिश भी करनी चाहिये। नैतिक और धार्मिक भावनाओं को ठेस नही पहुचाना चाहिये।

सबसे महत्वपूर्ण है राज्य की सुरक्षा को सर्वोपरि माना जाये। अरस्तू ने क्रांति के कारणों, उसके स्वरूप तथा उसे रोकने के साधनों पर वैज्ञानिक तरीके से पृथक रखा और उनका तथ्यात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

1.3.10 न्याय सम्बन्धी विचार

अरस्तू न्याय को सद्गुण के व्याहारिक प्रयोग के रूप में परिकाषित करता है। इस प्रकार न्याय का एक पक्ष समाज में उसकी व्यावहारिक भूमिका से जुड़ता है। इसलिये न्याय बहुआयामी हो जाता है। दूसरी और सद्गुण और न्याय की साम्यिता स्थापित हो जाती है। सदगुण का सन्दर्भ सदैव सामाजिक होता है। किसी भी सदगुण को केवल विचारों के स्तर पर समझा नहीं जा सकता उसे केवल व्यक्तियों द्वारा किये गये आचरण द्वारा ही समझा जा सकता है। यदि व्यवहार सामाजिक नैतिकता के अनुरूप, सावर्जनिक

कल्याण के लिये होता है तो उसे सदगुण कहा जा सकता है यही न्याय है। अरस्तू नैतिकता और न्याय में कोई विशेष अन्तर नही होता है। किन्ही जगहों पर वह न्याय को नैतिकता से भी श्रेष्ठ मानता है।

अरस्तू के अनुसार न्याय दो प्रकार में बाँटा जा सकता है। पहला सामान्य न्याय और दूसरा विशिष्ट न्याय होता है। सामान्य न्याय से साधारण सा अर्थ अपने पड़ोसी के प्रति किये जाने वाले सभी कार्य से है। इसके अन्तर्गत नैतिकता, अच्छाई, सद्व्यसवहार सभी आ जाता है। जबकि जब हम विशेष रूपों अथवा अलग तरीके से लोगों की भलाई करते है यानि व्यक्ति का व्यक्ति के साथ अथवा व्यक्तियों के साथ एक बराबरी का व्यवहार रखते है। इस न्याय को अरस्तू आनुपातिक समानता के अर्थ में लेता है। यानि जिस व्यक्ति को जो मिलना चाहिये उसकी प्राप्ति उसे हो। विशिष्ट न्याय को अरस्तू दो श्रेणीयों में विभक्त करता है।

1.3.10.1 वितरणात्म क न्याय

व्यक्ति और राज्य के बीच के सम्बन्धों को वितरणात्मक न्याय के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जाता है। राज्य व्यक्तियों के बीच पद, प्रतिष्ठा और अन्यत लाभों को किन नियमों के अन्तर्गत वितरीत को, यह वितरणात्मक न्याय द्वारा निर्धारित होती है। अरस्तू के अनुसार योग्य लोगों के बीच पद, स्थान और प्रतिष्ठा का बँटवारा होना चाहिये। कम प्रतिभाशाली लोगों या अयोग्य लोगों को कम या बिलकुल नही जबकि अधिक प्रतिभाशाली लोगों को अधिक पुरस्कार या महत्व पूर्ण पद दिये जाने चाहिए। राज्य के प्रति की गई सेवा के बदले उचित अनुपात में प्रतिपूर्ति मिलानी चाहिये यह प्रतिपूर्ति पद, प्रतिष्ठा या पुरस्कार किसी रूप में हो सकती है।

वितरणात्मक न्याय से राज्य में न्याय की उपस्थिति रहती है। इससे व्यवस्था के प्रति असन्तोष नही होता है। वितरणात्मक न्याय हर राज्य में अलग-अलग होता है। अभिजात्य तंत्र में सदाचार को आधार मानकर पद और शक्ति मिलनी चाहिये। धनिक तंत्र में सदाचार के स्थाचन पर धन मानक बन जाता है। जबकि लोकतंत्र में स्वतंत्रता एवं समानता को आधार मानकर राज्य के पदों का वितरण होना चाहिए। योग्यता के अनुसार पदों का वितरण किया जाना ही वितरणात्मक न्याय का मूल सिद्धान्त है। यह योग्यता अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग हो सकती है।

अरस्तू के अनुसार आदर्शात्मक स्तर पर यह मान का चीजों के छोड़ कर सद्गुण को माना जाना चाहिए। सद्गुणी मनुष्य की पहचान आसानी से हो सकती है और वह व्यवस्था को स्थायी और सुरक्षित बनाता है।

वितरणात्मक न्याय का प्रत्यक्ष सम्बन्ध असमानता के आधार पर पैदा होने वाले असन्तोष और फलस्वरूप होने वाली क्रांति से है। वितरणात्मक न्याय को भलीभाँति लागू करके क्रांति को रोका जा सकता है।

1.3.10.2 सुधारात्मक न्याय

सुधारात्मक न्याय एक नागरिक के साथ दूसरे नागरिक के सम्बन्ध को परिभाषित करता है। यह अपने स्वरूप में नकारात्मक है। इससे व्यक्ति आपस मे परस्पर लेन-देन कैसे करेगे परस्पर वचन बद्धता का पालन किस प्रकार करेगे और विवाद होने की स्थिति में न्यायालय की क्या भूमिका होगी। इस प्रकार के मामले आते है। साथ ही साथ परस्पर सुरक्षा और उसके विरूद्ध की गई व्यक्तियों की शिकायते भी इसी के अन्तर्गत आती है। यह राज्य में व्यक्ति आगत स्तर पर व्यवस्था और सामान्यजन को कायम रखने का कार्य करता है।

1.3.11 संविधान सम्बन्धी विचार

राज्य को चलाने वाले मूलभूत नियमों के संग्रह के रूप में अरस्तू नें सविधान की चर्चा की है। संविधान की संकल्पना अरस्तू के चिन्तत में महत्वपूर्ण संकल्पना के रूप में उपस्थित होती है। जिसका सीधा सम्बन्ध राज्य के स्वरूप, नागरिकता और क्रांति के साथ होता है। संविधान को परिभाषित करते हुये अरस्तू कहता है कि संविधान किसी राज्य में पदों के संगठन या वर्गीकरण के एक व्यवस्था है विशेषकर राज्य के ऐसे पद जो उच्च प्राधिकार रखते है।

अरस्तू राज्य और संविधान में कोई विशेष अन्तर नही मानता है जैसा कि आजकल आधुनिक राज्यों में माना जाता है। उसके लिये राज्य संविधान एक ही है। दोनों एक दूसरे पर आश्रित है। एक में हुआ परिवर्तन दूसरे में परिवर्तन कर देता है और किसी भी प्रकार का परिवर्तन क्रांति होती है। राज्य में होने वाले परिवर्तन से केवल सत्ता या राजनीतिक पक्ष ही प्रभावित नही होते बल्कि सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक व्यवस्था भी प्रभावित होती है। तद्नुसार संविधान भी बदल जाता है। इसलिये यह समझा जा सकता है कि संविधान की संकल्पना अरस्तू के लिये राज्य का पर्याय बनती है।

1.3.11.1 वर्गीकरण तथा व्यारख्या

अरस्तू ने संविधान का वर्गीकरण दो आधार पर किया। पहला यह कि किसी राज्य में शासन करने वालों की संख्या कितनी है? और दूसरा यह कि उस राज्य के शासकों का शासन करने का उद्देश्य क्या है? उद्देश्य दो प्रकार हो सकते है। यदि शासक सावर्जनिक हित में शासन करता है तो राज्य का स्वरूप कुछ और होगा और यदि शासन निजी हित में शासन करता है तो राज्य का स्वरूप भिन्न हो जायेगा।

अरस्तू ने इन आधारों पर विभिन्न प्रकार के संविधानों को वर्गीकृत किया है और छह प्रकार के संविधानों में बदल दिया। उसके अनुसार सार्वजनिक हित से संचालित होने वाले एक व्यक्ति के शासन को राजतन्त्र (K|ngsh|p) कहा जायेगा जब कि यही राजतंत्र जब निजी स्वार्थ के लिये चलाया जाये तो वह निरकुंश तंत्र (Tyranny) में परिवर्तित हो जाता है। जबकि जब कुछ लोग शासन सावर्जनिक हित में करते है तब उस शासन को कुलीनतंत्र (Ar|stocracy) और निजी स्वार्थ के लिये करने पर धनिकतंत्र (Ol|garchy) कहा जाता है । अरस्तू के अनुसार, बहुसंख्यक लोगों के शासन को जब वह सबके हित की भावना और उद्देश्य से संचालित होता है उसे पॉलिटी (Pol|ty) कहते है और जब वे निजी स्वार्थ के लिये किया जाये उसे लोकतंत्र या भीड़ तंत्र (Democracy) कहा जाता है।

इस प्रकार सावर्जनिक हित के उद्देश्य से राजतंत्र, कुलीनतंत्र और पॉलिटी जैसे शासनतंत्र अस्तित्व में आता है जबकि विकृत उद्देश्य से निरंकुशतंत्र, धनिकतंत्र और भीड़तंत्र अस्तित्व में आते है। इन छह तरह के संविधानों की अलग-अलग विशेषताएँ होती है।

1.3.11.2 राजतंत्र (K|ngsh|p)

सैद्धान्तिक दृष्टि से इस प्रकार का शासन सर्वश्रेष्ठ होता है। एक व्यक्ति के निर्देशन में होने वाला यह शासन शुभ को अच्छी तरह जॉनता है। एक शासन सावर्जनिक हित में शासन करता है। लोककल्याण और अनुशासन का सुन्दर समन्वय इस व्यवस्था में दिखाई देता है। इस प्रकार की शासन व्यवस्था में खतरा यह होता है कि उत्तराधिकार में योग्य शासक मिले, यह आवश्यक नही होता है। इसलिये स्थायित्व के प्रति सन्देह बना रहता है ।

निरंकुशतंत्र (Tyranny)

एक व्यक्ति शासन का सर्वोत्तम रूप राजतंत्र है किन्तु उसमे विकृति आने के बाद वह निरंकुश तंत्र में बदल जाता है। यहाँ एक शासक व्यक्तिगत अपने निहित स्वार्थ से शासन करने लगता है। इस तरह के राज्य में संविधान राजा के व्यक्तिगत हित के अनुरूप बनाया जाता है।

1.3.11.3 कुलीनतंत्र (Ar|stocracy)

जिस राज्य में सत्ता कुछ लोगों के हाथों मे होती है तथा वे सावर्जनिक हित की भावना से शासन संचालित करते है। ऐसे संविधान या राज्य को कुलीनतंत्र कहा जाता है। कुलीनतंत्र वंशानुगत या आयु किसी आधार पर निर्मित हो सकता है। यह बुद्धि और गुण द्वारा संचालित कानून के अनुसार चलने वाला तंत्र होता है।

1.3.11.4 धनिकतंत्र (Ol|grachy)

जब कुलीनतंत्र में पतन होता है और कुछ लोगों का शासन सावर्जनिक हित की जगह अपने व्यक्ति संगत स्वार्थ के लिये शासन करने लगता है तो उसे धनिकतंत्र कहते है। इस तरह के राज्य में शासकों का समूह धन प्राप्ति को अपना उद्देश्य बना लेता है और इसी आधार पर संगठित होता है ।

पालिटी (Pol|ty)

जब राज्य की सत्ता को बहुत से लोग सावर्जनिक हित के उद्देश्य से संचालित करते है तो उसे पॉलिटी या संयत लोकतंत्र कहा जाता है। इसमें सभी का हित होता है तथा सभी प्रकार के शासनों का गुण इसमें शामिल होता है। अरस्तू ने इसे माध्यम मार्ग का प्रतिनिधी मानकर स्वीकार किया है। यह निरकुंशतंत्र और धनिकतंत्र से दोषो से मुक्त होता है और जनता द्वारा किसी प्रकार की अराजकता भी नही फैलाई जाती है।

भीड़तंत्र या प्रजातंत्र (Democracy)

जब बहुसंख्यक लोग अपने अपने स्वार्थ के लिये शासन सत्ता के उपयोग को प्राथमिकता देते है तो पॉलिटी या संयत लोकतंत्र भीड़तंत्र में बदल जाता है। इसमें संख्या बल का महत्वा होता है। राज्य का हित नही देखा जाता है।

1.3.11.5 सर्वश्रेष्ठ संविधान

अरस्तू प्रत्येक प्रकार के संविधान या राज्य की समीक्षा के पश्चात सर्वश्रेष्ठ संविधान पर विचार करता है। हर राज्य के कुछ गुण तथा कुछ अवगुण होते है। निरकुंशतंत्र में एक व्यक्ति अपने हित में नियम संविधान परिवर्तित करता है। वह किसी नियम कानून से बधा नही होता। प्रतिभाशाली और जरूरत मन्द लोगों की अनदेखी की जाती है। विरोध पर अत्याचार किया जाता है। इस प्रकार के शासक पर किसी बाहरी सत्ता का कोई नियन्त्रण नही होता है। दोनों में अन्तर केवल इतना है कि यहाँ शासक बहुसंख्यक लोग होते है। जो अपने संख्या बल के आधार पर शासन सत्ता पर नियन्त्रण रखते है। अरस्तू इन दोनों को अत्याचार पूर्ण शासन कहता है और इन्हें अस्वीकार्य करता है। कुछ लोगों के स्वार्थी शासन 'निरकुंशतंत्र' में भी उसका विश्वास नही है। सभी प्रकार के शासन की समीक्षा के बाद वह यह निष्कर्ष निकालता है कि शासन या संविधान ऐसा होना चाहिए जिसमें सम्प्रभुता जनसमूह में निहित हो। एक व्यक्ति या कुछ लोगों की अपेक्षा बहुत से लोगों से सम्प्रभुता निहित करना उसे स्थाई और वैध बनाता है। इसके पीछे अरस्तू के अपने तर्क है। उसके अनुसार सावर्जनिक स्तार पर लागू होने वाली नीतियों और उसे लागू करने वाले व्तिेअन के गुण-दोषो की पहचान व्यक्तिगत की अपेक्षा बहुत से लोगों द्वारा अच्छी तरह हो सकती। बहुत से लोग किसी सम्बन्धित समस्यां पर अच्छी सामाजिक पक्ष पर सामूहिक बुद्धिमत्ता का प्रयोग करके सर्वश्रेष्ठम निष्कर्ष निकालने में सक्षम होते है। व्यक्तिगत स्तर पर यह क्षमता नही होती है। दूसरे जो लोग

शासन में भागीदार हो तथा शासन प्रशासन के नियमों का असर उन पर व्यावहारिक रूप से पड़ रहा हो, वही उसकी गुण दोष को अच्छी तरह बता सकते है। अरस्तू का मानना है कि लोग शासन व्यक्तिगत का प्रयोग स्वयं करते हुये उसके व्यावहारिक परिणामों को भली-भाँति अनुभव करते है। इसको सिद्ध करने के लिये वह व्यवहारिक जीवन से उदाहरण भी देता है। इसके अतिरिक्त एक तर्क यह भी है कि बहुसंख्यक लोगों को सत्ता में भागीदारी से रोकना असन्तोष का कारण बनता है। जो क्रांति की पृष्ठभूमि तैयार करता है। यह एक प्रकार का जोखिम है। ऐसे राज्य की वैधता लगातार संकट में रहती है। लोग उसमें बदलाव का यथा सम्भव कोशिश करते है।

इसलिये अरस्तू एक ऐसे संविधान की खोज करता है जो संतुलित, स्वीकार्य और वैध हो। अरस्तू यह मानता है आदर्श संविधान पॉलिटी अथवा संयत लोकतंत्र का है। पॉलिटी में कुछ विशेषताए होती है जो अन्य संविधान में नही पाई जाती है। यह व्यावहारिक और श्रेष्ठ संविधान है। इसमें शासन में शासित होने वाले प्रत्येक का भाग होता है और सार्वजनिक हित की भावना से इसका संचालन होता है। इसमें एक संतुलन होता है। इस संविधान के अन्तर्गत नागरिक संयमित जीवन जीते है। व्यक्ति के व्यक्तिगत गुणों की पहचान होती है उसे मान्यता दी जाती है। धन, ताकत या नियम विरूद्ध प्रतिस्पर्धा को इस शासन में मान्यता नही मिलती है। यह एक मानवीय और व्यावहारिक शासन प्रणाली है। पॉलिटी को स्वीकार करने के पीछे अरस्तू की सैद्धान्तिक प्रतिबद्धता की भूमिका रही। अरस्तू का विश्वास था कि मध्यम मार्ग सर्वश्रेष्ठ मार्ग होता है। अतियों से बचा जाना चाहिये। पॉलिटी राज्य में निरंकुश तंत्र अथवा भीड़तंत्र जैसे अति का शासन नही होता और नहीं सामाजिक स्तर पर लोग बहुत अमीर या बहुत गरीब के रूप में बँटे होते है। अरस्तू के अनुसार इसमें सत्ता मध्यम वर्ग में निवास करती है। यह आलस्य, षडयन्त्र, प्रतिस्पेर्धा और महत्वाकांक्षा से मुक्त होता है। इसलिये यहाँ क्रांति की सम्भातवना नगण्यत होती है। यह सर्वश्रेष्ठ है।

1.3.12 कानून सम्बन्धी विचार

अपने गुरू प्लेटो की भाँति अरस्तू ने भी कानून के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये है। 'पॉलिटिक्स' में अपने कानून सम्बन्धीय विचार स्पष्ट किये। अरस्तू ने कानून के शासन को श्रेष्ठ शासन का लक्षण माना है। बुद्धिमान शासन भी कानून का विकल्पो नही बन सकता। एक शासक जो अपनी इच्छानुसार चलता है वह कानून के शासन से निम्न होता है। कानून की विशेषता होती है कि वह व्यक्तिगत पसन्द वा नापसन्द से उपर होता है। वह परिस्थिति के उतार चढ़ाव से प्रभावित नही होता। कानून निर्वव्यक्ति होता है। कानून व्यक्तिगत न होन के कारण सबसे द्वारा स्वीरकार्य होता है। शासक और शासित दोनों पर एक समान रूप से लागू होती है। कानून की सत्ता को लोगों द्वारा नैतिक महत्व भी मिलता है। कानून का शासन सहमाति को भी इंगित करता है। इसमें वैधता होती है क्योंकि लोग इसे सहज रूप से स्वीकार करते है। कानून विवेक के अनुरूप होता है। जहाँ एक ओर वह नैतिक स्वरूप रखता है वही दूसरी ओर वह विवेक से सम्बन्धित होता है। नैतिक स्वरूप होने के कारण वह मनुष्य को व्यावहारिक जीवन में सच्चा चरित्र बनाने के वातावरण की रचना करता है।

कानून मनुष्य की आन्तरिक विकास का माध्यम बनता है। यह व्यक्तित्व को विस्तार देता है। मनुष्य अपने विवेक और सदगुणों का विस्तार कानून के प्रावधानों में पाता है। इस प्रकार कानून एक ओर आत्मीय गुणों का वाध्य विस्तार है दूसरी ओर वह वातावरण भी है जिसमें उच्चम गुण संरक्षित रह सकते है।

अरस्तू के अनुसार आदर्श कानून प्राकृतिक (Natural) होते है। राज्य के नैतिक समुदाय होने के कारण कानून भी नैतिक होने चाहिये। किन्तु यह आदर्शात्मक स्थिाति है। व्यवहार में कानून संविदात्मक और लोकाचार पर आधारित हो सकते है । किन्तु यह स्थिति नैतिक के विरूद्ध नहीं है बल्कि वास्तव में

लोकाचार भी अपने उत्पत्ति और मूल में नैतिक से जुड़ा होता है। इस प्रकार अरस्तू कानून को बाध्य, यांत्रिक और बाध्याकारी नही होता है बल्कि यह हमारी निस्वार्थ नैतिक रूप का बाहरी विस्तार होता है और इससे हमारे सम्पूर्ण विकास में सहायता मिलती है। कानून के द्वारा ही मानव समाज का सभा विकास सम्भव हो सकता है। कानून का शासन के साथ अनिवार्य संबंध होता है। वह राजतंत्र में विधि के शासन की महत्ता को स्वीकार करता है और स्वयं विधियों के दोष को दूर करने के लिये सामूहिक विवेक के अधीन रहने के विचार का प्रतिपादन करता है। कानून मानव समाज के दोषो को दूर करता है। किसी एक व्यक्ति की इच्छा पर आधारित न होने के कारण वह सामूहिक विवेक और आवश्यकता का सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधित्व करता है। अरस्तू के अनुसार संवैधानिक शासन अथवा विधि के अनुसार शासन के तीन प्रमुख तत्व होते है। पहला, यह शासन किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह के निजी स्वार्थ की पूर्ति के लिये नहीं होता बल्कि इससे सभी व्यक्तियों का हित एक समान पूरा होता है। दूसरा, विधि के शासन में शासन किसी की इच्छा अनुसार या पसन्द के अनुरूप संचालित नही होता है बल्कि व्यक्तिगत इच्छाओं से उपर होकर सभी पर एक समान रूप से लागू होता है। तीसरा, इस प्रकार के शासन के लिये प्रजा की तीव्र इच्छा होती है।

प्लेटो के विधि सम्बन्धी विचारों की तुलना में अरस्तू विधि के शासन के प्रति अधिक आग्रही और समर्थक है। प्लेटो रिपब्लिक में दार्शनिक शासक को सम्पूर्ण सत्ता सौपता है और उसे ही विधि का उद्घोष मानता है। दार्शनिक शासक में विवेक सर्वोच्च रूप में प्रस्फुटित होता है। जबकि अरस्तू राजतंत्र में विधि किसी शासक विशेष को कानून के अनुसार चलने का सुझाव देता है। हलाँकि प्लेटो अपनी परवर्ती रचना 'द लॉज' में कानून के महत्व को स्वीकार करता है। माना जाता है कि अरस्तू 'द लॉज'की व्यवस्थाओं से सहमत था। वह उसी के अनुरूप यह मानता था कि कानून को एक अस्थायी व्यवस्था नही बल्कि नैतिक और सभ्य जीवन की एक अपरिहार्य व्यवस्था मानना चाहिए। संविधान और सरकार को एक मानने वाला अरस्तू कानून को इन सभी से जुड़ा आवश्यक तत्व मानता है और विधि की समझ के अभाव में हम अरस्तू के राज्य सम्बन्धी विचार को समझ नहीं सकते।

1.3.13 शिक्षा सम्बसन्धीन विचार

पॉलिटिक्स की पांचवीं पुस्तक में अरस्तू ने अपने शिक्षा सम्बन्धी विचार को प्रस्तुत किया है। प्रबुद्ध विचारक की भाँति वह शिक्षा को उपयोगी और आवश्यक मानते हुये एक राज्य के लिये जरूरी मानता है। शिक्षा का उद्देश्य नागरिकों को संविधान के अनुकूल आचरण करने के तौर तरीके सिखाना होता है। साथ ही साथ शिक्षा नागरिकों को इस रूप में ढ़ालनी है कि वे संविधान के अनुरूप आवश्यकताओं को पूरा करने के योग्य बनते है। राज्य के लिये उपयोगी बनाना शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है। शिक्षा मनुष्य के व्यक्तिगत विकास तथा राज्य के कल्याण दानों उद्देश्यों को एक साथ करती है।

अच्छी शिक्षा व्यवस्था मनोवैज्ञानिक आधार पर प्राकृतिक गुणों, स्वौभिक प्रवृत्तियों तथा बौद्धिक आत्मव निर्णय के स्तर पर सकारात्मक परिवर्तन करती है। शिक्षा द्वारा नागरिक संविधान के अनुकूल एक उपयोगी भूमिका ग्रहण करता है। शिक्षा उसे उस योग्य बनाती है कि वह राज्य की आज्ञाओं का पालन सहर्ष बिना बाध्याता के करें । शिक्षा विवेक का विकास करती है जिससे सदगुण उत्पन्न होता है। इसी सदगुण से राज्य में तंत्र स्थायी होता है। व्यक्ति का निजी विकास भी सम्भव होता है। इस प्रकार अरस्तू के दर्शन में शिक्षा का बहुपक्षीय स्थायी महत्व सामने आता है।

राज्य को उसी अवस्थात में शिक्षा को नियन्त्रित करना चाहिये जब स्थापित व्यवस्था को उससे खतरा उत्पन्नय हो। नागरिकों में संविधान के अनुरूप गुण विकसित करने, स्वयं नागरिकों के बीच समानता की भावना विकसित करने में भी राज्य शिक्षा का उपयोग करता है। अरस्तू राज्य में शिक्षा निशुल्क, अनिवार्य और सबके लिये शिक्षा की व्यवस्था किये जाने की वकालत करता है। शिक्षा

चारित्रिक विकास करने के साथ-साथ इच्छा (Will) को भी प्रशिक्षित करती है। इसलिये वह पाठयक्रम में वह इस बात का ध्यान रखता है कि नागरिकों का मानसिक विकास तथा शारीरिक विकास साथ-साथ सम्भ व हो सके। उसने विभिन्न अवस्थाओं के लिये विभिन्न पाठयक्रम निर्धारित करता है। जन्म से सात वर्ष तक की अवस्थाओ तक बच्चों को शारीरिक रूप से सहनशील बनने, अच्छी संगति में रहने के प्रति सचेत बनने का सुझाव देता है। इस अवस्था में माता-पिता ही शिक्षा के लिये जिम्मेदार माने गये है। इसके बाद चैदह वर्ष की अवस्थाम तक मनुष्य शारीरिक रूप से मजबूत बनने का पाठयक्रम निर्धारित किया साथ ही नैतिक विकास, चित्रकला संगति आदि की शिक्षा दिये जाने का सुझाव दिया। तीसरी अवस्था इक्कीस वर्ष तक की आयु निर्धारित किया। इनके अध्ययन विषय में पढ़ना लिखना, चित्रकला, रेखा गणित तथा अंकगणित जरूरी माने गये। औपचारिक रूप से शिक्षा की व्यवस्था इक्कीस वर्ष तक करने के बाद भी अरस्तू शिक्षा को आजीवन चलने वाली प्रक्रिया मानता है।

सामान्यतया यह आलोचना की जाती है कि अरस्तू का शिक्षा सिद्धान्त व्यक्तित्व का विकास नही करता बल्कि राज्य के संविधान के अनुसार कार्य योजना के रूप में सामने आता है। उसने संगीत को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया है जिसकी आलोचना बार्कर भी करते है। इसके अलावा पाठयक्रम के दृष्टिकोण से वह अव्यस्थित है। वह शिक्षा को राज्य की आवश्कता के अनुरूप ढ़ालता है और इसे नागरिकों तक सीमित रखता है जिसे लोकतांत्रिक दृष्टिकोण से स्वीकार नही किया जा सकता। किन्तु इसके बाद भी अरस्तू के शिक्षा सिद्धान्ती को महत्वकपूर्ण माना जाता है। उसने शिक्षा को मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान करने के साथ संवैधानिक जरूरतों के अनुरूप स्वरूप देकर राजनीतिक संस्कृति के कारक रूप में भूमिका निभाने को इंगित किया।

1.3.14 आदर्श राज्य (Ideal State)

अरस्तू ने पॉलिटिक्स की सातवीं और आठवीं पुस्तक में आदर्श राज्य की अपनी संकल्पना को प्रस्तुत किया। उसने पॉलिटिस या संयम लोकतंत्र को सबसे आदर्शात्मक संविधान वाला राज्य माना। अरस्तू का आदर्श राज्य प्लेटो के 'द लॉज' में वर्णित राज्य की विशेषताओं से काफी मिलता जुलता है। उसके आदर्श राज्य में कानून का शासन है। कानून से राजा तथा नागरिक दोनों संचालित होते है। अरस्तू के अनुसार आदर्श राज्य में जनसंख्या का एक संतुलन होना चाहिये। जनसंख्या न कम हो न अधिक जनसंख्या इतनी होना चाहिये कि प्रत्येक नागरिक एक दूसरे को जाने तथा उपयुक्त का चुनाव कर सके। राज्य की आत्मनिर्भरता बनी रहे। अरस्तू का आदर्श राज्य 'नगर राज्य' ही हो सकता था। उसके अनुसार भौगोलिक क्षेत्र भी संतुलित होना चाहिये। प्रत्येक नागरिक को पर्याप्तु मात्रा में भूमि उपलब्ध होनी चाहिये। राज्य सुरक्षित, आर्थिक दृष्टिकोण से आत्मनिर्भर और समुद्री सीमा रखने वाला होना चाहिये। जिससे बाहरी देशों से आर्थिक सहयोग का सम्पर्क हो सके। आदर्श राज्य में भूमि का स्वामित्व सावर्जनिक और निजी दोनों रूपों में होता है।

आदर्श राज्या में शिक्षा को शुभ जीवन की प्राप्ति का माध्यनम बनाया जाना चाहिये। क्योंकि आदर्श राज्य का भी वही उद्धेयर है। शिक्षा राज्यो की आवश्यकता के अनुसार मनुष्य के भीतर सकारात्मक गुणों का सर्वागीण विकास करती है। सभी वर्गो को एक समान और अनिवार्य शिक्षा दी जानी चाहिए। अपनी शिक्षा योजना में वह शारीरिक और मानसिक विकास के लिये पाठयक्रम में विभिन्नय विषय पढ़ाये जाने और राज्य के संविधान के अनुकूल शिक्षा दिये जाने की संस्तुति करता है। अरस्तू के अनुसार आदर्श राज्य में छह प्रकार की आवश्यकताओं के लिये छह प्रकार के वर्ग कृषक, शिल्पी, योद्धा, सम्पतिशाली वर्ग, पुरोहित और प्रशासन वर्ग अस्तित्व, में रहते है। कृषक और शिल्पियों को अरस्तू को नागारिकता के दायरे में नही रखता है। इस आदर्श राज्य में नागरिकों का चरित्र उच्चाकोटि का होना चाहिये। उनमें विवेक और उत्साह का समन्वतय होना चाहिये। सभी को सभी का सम्मान करना चाहिये।

1.3.15 पाठसार/सारांश

अरस्तू प्लेटो की भाँति ही प्राचीन यूनानी चिन्तमन में प्रतिष्ठित राजनीतिक विद्वान है। दोनों के बीच कई समान्तानएं है। दोनों यूनानी नगर राज्यत के राजनीतिक विचारों का सैद्धान्तिक निरूपण करता है। अरस्तू राज्य को असीमित महत्व प्रदान करता है। यूनानी राज्यो की आवश्यकता के लिए दास प्रथा, शिक्षा, नागरिकों के कर्तव्य, नागरिकता तथा संविधान की रूपरेखा को व्याापक रूप स्पष्ट किया। प्लेटो की भाँति अरस्तू ने भी सीमित नागरिकता तथा मिश्रित संविधान में विश्वास किया। दोनों प्रजातंत्र और व्यक्तिगत धर्म के अस्तित्व में विश्वास नही करते है।

अरस्तू ने वैज्ञानिक पद्धति अपना कर राजनीतिक चिन्ह के इतिहास में प्रथम राजनीतिक विचारक होने का गौरव प्राप्त किया। उसकी अध्ययन आगमनात्मक है उसके द्वारा राजनीतिक तथ्यों का यथार्थवादी, तथ्यपाक, तुलनात्मक और विश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया जो राजनीतिक दर्शन और चिन्तन में पहली बार घटित हो रही थी।

अरस्तू राजा और व्यक्ति के सम्बन्धों की सुसंगत, क्रमबद्ध और तार्किक व्याख्या करने वाला पहला राजनीतिक चिन्तक है। उसने राज्य, को सर्वोत्कृष्टी जीवन के लिये बनी संस्था बताया। उसके लिये स्वतंत्रता का अर्थ मनमाना आचरण नही बल्कि संयमित सावर्जनिक व्यवहार था। अरस्तू के चिन्तन में विधि के अनुसार शासन अर्थात एक किस्मज का संविधानवाद दिखाई देता है। संविधानवाद से जुड़ी संकल्प ना शासन शक्ति का विधायी कार्यकारी और न्यायिक कार्यो में विभाजन किया। उसने शक्ति के केन्द्रीककरण के विपरित विचार व्यक्त किया। इसी से शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त विकसित हुआ जिसे बाद में मान्टे स्यूक् ने सुव्यवस्थित रूप से विकसित किया। नागरिकों के सामूहिक विवेक पर वह अरस्तू विश्वास करता है। सर्वश्रेष्ठ शासन पद्धति चुनने की प्रक्रिया में नागरिकों के विवेक गुणवत्तापूर्ण शासन की पहचान की प्रशंसा करता है और पॉलिटि अर्थात संयत लोकतंत्र को इसीलिये सर्वोच्च शासन प्रणाली माना क्योंकि इसमें प्रबुद्ध नागरिक सत्ताच में सक्रिय रूप से भागीदार होती है।

अरस्तूं ने राजनीतिक विचारों को नैतिक विचारों से अलग किया। वह देश न्याय परिस्थिति के महत्व पूर्ण योगदान को स्वीकार करता हुये राजनीति को स्वतंत्र भूमिका प्रदान करता है। इससे राजनीतिशास्त्र को पृथक विषय के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई।

1.3.16 अभ्यास/बोध प्रश्न

1.3.16.1 बहुविकल्पीय

1. अरस्तू ने किस विधि का अनुसरण किया?
   (1) अगमनात्मक (2) निगमनात्मक (3) काल्पनिक (4) ऐच्छिक
2. कितने संविधानों का अध्ययन करके अरस्तू ने राज्य का वर्गीकरण किया?
   (1) 154 (2) 157 (3) 158 (4) 159
3. किसने कहा 'मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है'?
   (1) प्लेटो (2) अरस्तू (3) सुकरात (4) जार्जियास
4. अरस्तू दासता को मानते थे?
   (1) कृत्रिम (2) विधिक (3) सांस्कृतिक (4) प्राकृतिक
5. किसका कथन था 'राज्य व्यक्ति का पूर्ववर्ती है?
   (1) सुकरात (2) प्लेटो (3) अरस्तू (4) ग्लाकन

1.3.16.2 लघुउत्तरीय प्रश्न

1. अरस्तू राज्य को कैसी संस्था मानता था?
2. दासता के विषय में अरस्तू का प्रमुख विचार क्या था?
3. अरस्तू के संविधान का वर्गीकरण कितने भागों में किया?
4. अरस्तू किसे नागरिकता की परिभाषा में शामिल करता है?
5. अरस्तू की अध्ययन पद्धति किस प्रकार की थी?

1.3.16.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. अरस्तू के राज्य सम्बन्धी विचार की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये?
2. दासता का समर्थन अरस्तू के दर्शन में प्रतिक्रियावादी विचार है? इस कथन की तार्किक आलोचना कीजिये?
3. अरस्तू के विधि सम्बन्धी विचार का सविस्तार वर्णन कीजिये।
4. अरस्तू का आदर्श राज्य प्लेटों का उपादर्श राज्य है? इस कथन की समीक्षा कीजिए?
5. अरस्तू के नागरिकता के विचार की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए?

1.3.17 कठिन शब्दावली

अगमनात्मक पद्धति - तर्क की इस पद्धति के अन्तर्गत विशेषों से शुरू करके सामान्य निष्कर्ष निकाले जाते है।

निगमनात्मक पद्धति - आगमनात्मक पद्धति के विपरित इसमें सामान्य का पूर्व निर्धारण करके विशेष की व्याख्या की जाती है।

सोउद्देश्यता का सिद्धान्त - इसके अन्तर्गत यह माना जाता है कि प्रकृति का विकास पूर्व निर्धारित उद्देश्य की ओर हो रहा है और प्रकृत्ति ने सभी चीजों का निर्माण एक विशेष उद्देश्य से किया है।

1.3.18 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. एरिस्टोटल (2000) पालिटिक्स, पेगुंइन क्लासिक प्रकाशन, नई दिल्ली, आईएसबीएन 7801401444216
2. स्ब्रत मुखर्जी, सुशीला रामास्वामी (2011) ए हिस्ट्री आफ पोलिटिक्ल थाट (दिल्ली) की प्राइवेट लि0 नई दिल्ली, आईएसबीएन 7881203894
3. अर्मेस्ट बार्क (1959) द पालिटिकल थाट आफ प्लेटो एण्ड एरिस्टोटल रसेल एण्ड रसेल, न्यूयार्क
4. रेयान के0 बालोट (सं0) (2009) ए कम्प्रीजन आफ ग्रीक एण्ड रोमन पोलिटिकल थाट्, नीलसन बुक्स आईएसबीएन 978140515143

इकाई-4 अरस्तू के बाद का यूनानी राजनीतिक परिदृश्य

इकाई की रूपरेखा

1.4.1 उद्देश्य कथन
1.4.2 प्रस्तावना
1.4.3 प्रमुख विशेषताएँ
1.4.4 एपीक्यूरियन
1.4.4.1 सुखवाद का समर्थन
1.4.4.2 भौतिकवादी लौकिक जीवन का आदर्श
1.4.4.3 समाज सम्बन्धी दृष्टिकोण
1.4.4.4 राजनीति सम्बन्धी दृष्टिकोण
1.4.4.5 विवेचना
1.4.5 सिनिक विचार
1.4.5.1 प्रमुख संकल्पनाएँ
1.4.5.2 विवेचना
1.4.6 स्टाइकवाद
1.4.6.1 मूल संकल्पनाएं
1.4.6.2 आत्मिक सुख का समर्थन
1.4.6.3 मानवीय प्रवृत्ति
1.4.6.4 प्राकृतिक कानून
1.4.6.5 राजनीतिक विचार
1.4.6.6 राजतंत्र को मान्यता
1.4.6.7 समानता और विश्व बन्धुत्व
1.4.6.8 विवेचना
1.4.7 पाठसार/सारांश
1.4.8 अभ्यास/बोध प्रश्न
1.4.8.1 बहुविकल्पीय प्रश्न
1.4.8.2 लघुउत्तरीय प्रश्न
1.4.8.3 दीर्घउत्तरीय प्रश्न
1.4.8.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.4.1 उद्देश्य कथन

1. संगठित यूनानी समाज के पतन के बाद राजनीतिक और दार्शनिक स्तर पर हुये परिवर्तन, उसके अन्तर्सम्बन्धों तथा प्रभाव को इस अध्याय के अन्तर्गत बताया गया है।
2. उत्तर यूनानी युग में राजनीतिक चिन्तन की विशेषता और उसके प्रतिनिधि विचारकों की मूल प्रस्तावना को प्रस्तुत करना इस पाठ का उद्देश्य है।
3. इसका उद्देश्य यूनानी चिन्तन के स्वर्णकाल और रोमन साम्राज्य के उदय के बीच के समय को राजनीतिक विचारों के विकास की दृष्टि से छात्रों के समक्ष प्रस्तुत करना भी है।
4. अध्ययन के उपरान्त राजनीतिक शक्ति के क्षरण के सामाजिक व सांस्कृतिक प्रभाव को अनुभव किया जा सकेगा और सत्ता के बहुआयामी भूमिका को समझा जा सकेगा।

1.4.2 प्रस्तावना –

अरस्तू के समय से ही नगर राज्यों के अस्तित्व के उपर संकट आने लगा था। इसकी शुरूआत मैसीडोनिया के राजा फिलिप के द्वारा की गई राजा फिलिप अलेक्जेण्डर का पिता था जिसने नगर राज्यों पर विजय प्राप्त करके एक साम्राज्य में बदलने की कोशिश की। इस एकीकरण और विलय को रोमन साम्राज्य के शासकों ने पूर्ण किया। इस राजनीतिक परिवर्तन से सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन की शुरूआत हुई। सभी कारकों ने एक दूसरे को प्रभावित करना प्रारम्भ किया और सम्पूर्ण स्वरूप बदल गया। इन परिस्थितियों में जो विचारक सामने आये उन्होने परम्परागत यूनानी विचारकों से अलग विचार प्रस्तुत किये।

साम्राज्य की स्थापना के साथ नगर राज्य की स्वतंत्रता का अन्त हो गया लोगों ने राजनीतिक भूमिका निभाना बन्द कर दिया। इससे एक प्रकार का वैराग्य पैदा हुआ। सामाजिक परिवर्तन भी हुये। जहाँ यूनानी सामाजिक असमानता में विश्वास करते थे वही सामाज्य के अन्तर्गत सभी को समान माना गया। नगर राज्य में विविध तरीके के शासन प्रणालियों के विपरीत साम्राज्य में शक्तिशाली निरंकुश राज्य तंत्र या व्यवस्था पाई जाती थी। यह निरंकुश राज्य लोगों को व्यक्तिगत रूप से कम महत्व प्रदान करता था। इससे लोगों में गैर राजनीतिक जीवन के प्रति आकर्षण बढ़ा। इन्ही परिस्थितियों में विभिन्न सम्प्रदायों का विकास हुआ। जिसने सामूहिक जीवन को प्रभावित किया। उनके भीतर राजनीतिक अभिव्यक्तियाँ भी थी। इसमें एपीक्यूरियन तथा स्टोइक्स प्रमुख थे। इन दोनों सम्प्रदायों ने गैर राजनीतिक जीवन को महत्व दिया। स्थानीय नगर राज्यों के स्थान पर सार्वभौमिक राज्य की संकल्पना का समर्थन किया। इन विचारको तथा सम्प्रदायों ने उस निर्वात को भरा जो यूनानी नगर राज्य की व्यवस्थित प्रणाली के समाप्त होने से पैदा हुआ था।

1.4.3 प्रमुख विशेषताएँ

अरस्तू के पश्चात आने वाले राजनतिक दर्शन की अपनी मौलिक विशेषताए थी विशेषकर परम्परागत नगर राज्य से जुड़ी राजनीतिक मान्यताए बिलकुल नये ढ़ग की थी और साम्राज्य के वातावरण में विकसित हुआ था। इन विचारों की सामान्य विशेषता थी। सर्वप्रथम यह राजनीतिक दर्शन मानव समानता में विश्वास करता था। उसके अनुसार प्रत्येक प्रकार के मनुष्य में जन्मजात प्राकृतिक समानता होती है। यह उस विचार के विपरीत था जिसके अन्तर्गत प्राचीन यूनानी विचारक यह मानते थे कि मनुष्यों

के बीच समानता नहीं हो सकती। मानवीय समाज में कई आधारों पर अन्तर होता है। एथेन्ससवासी बाहरी लोगों, स्वामी दास से तथा पुरूष, स्त्रियों से श्रेष्ठ होते है। किन्तु स्टोइकवादी और एपीक्यूईरीयन इस प्रकार की मान्यता में विश्वास नहीं करते। वे मानते थे कि मनुष्य एक दूसरे के ठीक समान होते है।

इसकी दूसरी बड़ी विशेषता यह है कि ये व्यक्तित्ववाद की प्रतिष्ठान करते है। इन विचारकों ने व्यक्ति और उसके जीवन को इकाई मानकर अपने सिद्धांत को बुना कि व्यक्ति का जीवन उसकी सामूहिक भूमिका स्वयं व्यक्तित्व करता है। राज्य में व्यक्ति का अस्तित्व विलीन नहीं होता है। व्यक्ति स्वतंत्र होकर सुख-प्राप्ति के लिये कार्य करता है। उसका व्यक्तित्व समाज या राज्य में विलीन नहीं होता।

इन विचारकों ने नैतिकता को बहुत महत्व दिया। उनका मानना था कि राज्य कोई प्राकृतिक या नैतिक संस्था नहीं है। नैतिक जीवन बीताने के लिये राज्य की सदस्यता कोई आवश्यक है। उनके अनुसार मनुष्य नैतिक रूप से आत्मानिर्भर है। नैतिक जीवन बीतने के लिये आवश्ययक शर्ते या नियम राज्य पर आश्रित नहीं होते। इन विचारकों ने स्वतंत्ररूप से नैतिक जीवन बिताने के नियमों का प्रतिपादन और संग्रह किये और लोगों को उसका पालन करने को कहा। नैतिकता सम्बन्धी यह अवधारणा उस विचार से भिन्न है जो प्लेटो और अरस्तू ने दिया था। जिसके अनुसार केवल राज्य के भीतर ही नैतिक जीवन बिताया जा सकता है। अरस्तू ने राज्य के अन्तर्गत न रहने वाले को मनुष्य की श्रेणी में गिना ही नहीं। उसके लिये राज्य सर्वोच्च नैतिक संस्था थी जबकि उनके पश्चातवर्ती विचारक राज्य को यह भूमिका गुण और महत्व नहीं देते है। उपके अनुसार व्यक्ति राज्या से पृथक और दूर रहकर भी नैतिक जीवन बीता सकता है।

इसी से जुड़ी हुई संकल्प ना बुद्धिमत्ता की है जो इन विचारकों के व्यक्तिवाद और नैतिक सम्बन्धी संकल्पना से जुड़ी हुई है। एपीक्यू रियन और स्टो इक्सि यह मानते है कि मनुष्य बुद्धिमान प्राणी है। यही उसका सर्वोच्च नैतिक गुण है। इस प्रकार उन्होंने बुद्धिमत्ता को नैतिकता से सम्बोन्धित किया। बुद्धिमत्ता से मनुष्य स्वतंत्र होता है। उसकी निष्ठा संकीर्ण नगर राज्य या राज्य तक सीमित नहीं रह सकती। असीमित बुद्ध और उसकी व्यापक क्षमता के समान उसका राज्य भी सार्वभौमिक होता है जो सम्पूर्ण मानव समाज तक फैला होता है। यह मनुष्य आत्म निर्भर है और विश्व नागरिक है। ये मानते थे कि बुद्धिमान अथवा बुद्धि सपन्न व्यक्तित्व को किसी राज्य के प्रति संकीर्ण निष्ठा रखने की आवश्यरकता नहीं होती। वह राज्य से पृथक होकर अपने अपने व्यक्तित्व को साकार कर पाता है।

सार्वभौमिकता में विश्वास इसका अनुषंगी विचार है। अरस्तू और उसके पूर्ववर्ती विचारकों को विश्वास था कि व्यक्ति की सम्पूर्ण निष्ठा उसके नगर राज्य के प्रति ही होनी चाहिए। नगर राज्य में ही नागरिक अपने अस्तित्व को सार्थक कर सकता है किन्तु एपीक्यूरिन और स्टोइक्स ये मानते थे कि व्यक्ति की निष्ठा को किसी एक नगर राज्य तक सीमित नहीं किया जा सकता। वह पूरे ही विश्व तक अपने व्यक्तित्त्व का विस्तार वह पूरे विश्व तक अपने व्यक्तित्व का विस्तार रखता है। वे संकीर्ण नागरिकता और प्रतिबद्धता के विरूद्ध थे। इसी से विश्व बन्धुत्व की भावना का विकास हुआ।

1.4.4 एपीक्यूनरियन –

एपीक्यूरियन सम्प्रदाय के संस्थापक एपीक्यूरस (314-270) ई0 पू0 था एपीक्यूरियनवाद को अरिस्टिप्यस द्वारा विकसित साइरेनिकवाद का ही रूप माना जाता है। एपीक्यूरस का जन्म यूनान के पड़ोस सेमोस में हुआ था और उसने यूनान में अपने स्कूल की स्थापना की। एपीक्यूरियन दर्शन का दूसरा प्रमुख विचारक एक्यूकरिक्रिसियस था, जो प्रसिद्ध रोमन कवि था। उसने 'द नेचर ऑफ थिंग्स' नाम से किताब लिखी। इस तरह एपीक्यूरियन की विचार धारा स्पष्ट की गई। एपीक्यूरियनवाद की निम्नलिखित विशेषताए थी-

1.4.4.1 सुखवादका समर्थन –

एपीक्यूरियन सुखवाद में विश्वास करते है। आनन्द की प्राप्ति ही जीवन का चरम और अन्तिम उद्देश्य है। इनके अनुसार अच्छा जीवन वह है जिसमें सुख हो। यह विशुद्ध व्यवहारिक दर्शन था। उसके अनुसार जब तक परिस्थितियाँ बाध्य न दे। राजनीति में नहीं पड़ना चाहिये। हर सम्भव तरीके से सुख प्राप्ति का प्रयास करना चाहिये। अपने और अपने से सम्बन्धित लोगों में चिंता मुक्त वातावरण बनाये रखने का प्रयास करना चाहिये। संबाइन के अनुसार इस सम्प्रदाय का दार्शनिक आधार विशुद्ध भौतिकवाद है जो पूर्ववर्ती दर्शनों से ग्रहण किया गया था। इसकी लोकप्रियता का आधार इसके द्वारा व्यक्ति को दिये गए सुख सम्बन्धी आश्वासन से है। एपीक्यूरस समझता था कि व्यक्ति धर्म, दैवी प्रतिशोध, देवताओं और प्रेतात्माओं की विचित्र सिनकों का शिकार रहता है। ये चीजे उसके लिये खतरनाक और चिन्ताजनक होती है। एपीक्यूरस की शिक्षा है कि व्यक्ति को शिक्षाओं से दूर रहना चाहिए। देवताओं को मनुष्य की कोई परवाह नहीं है। वे न उनकी भलाई करते है और न उनकी बुराई ही। एपीक्यूरस की शिक्षा का यह सबसे महत्वपूर्ण अंश था।

इस प्रकार धर्म, देवता, अन्ध विश्वास से निर्भिक करके एपीक्यूरियन ने लोगों ने जीवन में मिलने वाले सुख से जोड़ा और अपने सारे कृत्य सुख की प्राप्ति के लिये करने और दुख से बचने के लिये करने को कहा। सुखी रहने का एक मार्ग यह भी है कि व्यक्ति सामाजिक और राजनीतिक जीवन की चिन्ताओं से मुक्त रहे। इस विचार धारा के अनुसार सुख ही जीवन का एक मात्र लक्ष्य है।

1.4.4.2 भौतिकवादी लौकिक जीवन का आदर्श –

एपीक्यूरियन सम्प्रदाय मानव समाज को हर उस चीज से दूर करना चाहता था जो सुखी जीवन में बाधक बने। उसक विचारकों ने घोषित तौर पर कहा कि धर्म मानव पर अत्याचार के समान होता है। पारलौकिक जीवन मनुष्य को चिन्ता में डालता है। देवताओं और नरक की कल्पना आधारहीन है यह भय पैदा करके मानव जीवन को वास्तविक रूप से सुखी होने से रोकती है। पारलौकिक जीवन को नकार करके एपीक्यूरियन लौकिक जीवन और उसमें भौतिकवाद का महत्व स्थापित करते है। लौकिक जीवन और उसमें भौतिकवाद का महत्व स्थापित करते है। एपीक्यूरस की मान्यता थी कि यह सृष्टि या दुनिया सूक्ष्म अणुओं से निर्मित है। मनुष्य भी इसी से बने है। मनुष्य का मूलस्वभाव या प्राकृतिक लक्षण स्वहित के लिये कार्य करना है। स्वहित से आत्म संरक्षण होता है और इस से सुख प्राप्त होता है। स्वहित से आत्म संरक्षण होता है और इससे सुख प्राप्त होता है। मनुष्य की इस प्राकृतिक इच्छा के अतिरिक्त बाहर से उसके उपर आरोपित की जाने वाली सभी बाध्यतायें अप्राकृतिक होती है। इसलिये जो सामाजिक प्रथाए, परम्परायें, राज्य के नियम या सावर्जनिक आचारण की आणार संहिताएँ पायी जाती है वह सभी प्राकृतिक और कृत्रिम है। इसलिये अस्वीकार्य है। इतना ही नहीं एपीक्यूरियन नैतिक नियम को भी बाहरी कहकर अस्वीकार्य करते है। इन सभी चीजों का निर्माण मनुष्य ने अपनी सुख सुविधा के लिये किया है। मनुष्यो का सुख उसका प्रेरक और उसका अंतिम लक्ष्य है। अन्य किसी लक्ष्य को स्वीकार करना उसमें बाधा डालने के समान है।

व्यक्ति केन्द्रित विचारधारा –

एपीक्यूरियन अपनी सम्पूर्ण विचारधारा को व्यक्ति आधारित रखते थे। मनुष्य को स्वार्थी प्राणी मानकर यह अपनी प्रस्थापनाएँ देता है। प्रत्येक मनुष्य अपनी हित सिद्ध चाहता हे और उसे ऐसा करना भी चाहिये। हितों की पूर्ति में मनुष्य और समाज में अन्तर्विरोध पैदा होता है और उसी के समाधान के लिये

राज्य का कृत्रिम रूप से निर्माण किया जाता है। मनुष्य को अपने जीवन का महत्व समझना चाहिये। उसे जटिलताओं से बचना चाहिये। जटिलतायं व्यक्तिगत सुख को कम करती है या समाप्त करती है। प्रतिष्ठा और शक्ति अस्तित्व की शान्ति को नष्ट करती है। मनुष्य को सरल जीवन बिताना चाहिये और लगातार सुख प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिये।

1.4.4.3 समाज सम्बन्धी दृष्टिकोण –

एपीक्यूरियन का समाज संबंधी दृष्टिकोण उपयोगितावाद पर आधारित है। मनुष्य दूसरे के साथ सुखों के लिये सम्बन्ध बनाता है। इस प्रकार समाज के बनने का आधार सुख की प्राप्ति हो जाता है। समाज का अपना कोई उद्देश्य नहीं होता है वह व्यक्ति के उद्देश्य यानि सुख के लिये ही अस्तित्व में आता है। यदि इस उद्देश्य की प्राप्ति समाज में नहीं हो रही है तो व्यक्ति समाज से पृथक भी रह सकता है। इस सम्प्रदाय के बहुत से विचारकों ने समाज त्याग ने को महत्व प्रदान किया। उनका विचार था कि जटिलता से दूर रहने के लिये शहर छोड़कर गाँवों में रहना चाहिये तथा सदा जीवना कम से कम वस्तुओं के उपभोग के साथ बीताना चाहिये। अन्य लोगों से जटिल सामाजिक सम्बन्ध बनना सुख प्राप्ति में बाधक बन सकता है।

इस प्रकार एपीक्यूरियन समाज को बहुत महत्व प्रदान नहीं करते थे। यह अवधारणा परम्परागत यूनानी चिन्तकों की अवधारणा से भिन्न है जिसमें उनका अन्त था कि व्यक्ति समाज के भीतर ही अपने व्यक्तित्व को साकार कर सकता है। समाज के भीतर ही अपने व्यक्तित्व को साकार कर सकता है। समाज के विरूद्ध व्यक्ति की प्रतिष्ठा एपीक्यूरियन की मुख्य विशेषता है। इसी आधार पर उनका सारा दर्शन और राजनीतिक विचारधारा पूर्ववर्ती परम्परा से अलग हो जाती है।

1.4.4.4 राजनीति सम्बन्धी दृष्टिकोण –

समाज की भाँति राज्य से भी पृथक रहने अथवा न्यूनतम आवश्यक संबंध रखने का विचार एपीक्यूरियन रखते है। सुख प्राप्ति के आदर्श को प्राप्त करने में राज्य का जटिल जीवन बाधा उत्पन्न करता है। राज्य की सदस्यता जटिलता उत्पन्न करती है। प्रत्येक नागरिक या व्यक्ति अधिक से अधिक सुख प्राप्त करना चाहता है जिसके कारण दूसरों के साथ वैसे सुखों को लेकर प्रतिस्पतर्धा और संघर्ष होता है। इससे सुख प्राप्ति में बाधा पहुँचती है। राजीति और राज्य के भीतर होने वाले संघर्ष सुख का निर्माण नहीं करते। इसलिये प्रत्येक को राज्य की भूमिका कम से कम निभानी चाहिये। राजनीतिक जीवन एक बाध्यता है। राज्य का अस्तित्व में आना भी इसी बाध्यता का प्रमाण है। मनुष्य राज्य का निर्माण करते है। सुखों की पूर्ति के लिये व्यवस्था और शांति की आवश्यकता होती है। व्यवस्था के अभाव में प्रत्येक व्यक्ति स्वार्थ भावना से संचालित होकर दूसरे के साथ संघर्ष करता है यह किसी के लिये हितकर नहीं होता है। इसलिये सभी एक दूसरे से समझौता करके राज्यों की स्थापना करते है जिससे सुखों की सुनिश्चित प्राप्ति सम्भव हो। इस संविदा के कारण ही न्याय सम्भव हो पाता है। संबाइन के अनुसार एक समझौते के अनुरूप में राज्य और विधि का जन्म होता है जो मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहार को आसान बना देता है। यदि इस प्रकार का समझौता न हो तो न्याय भी सम्भव नहीं रहेगा। विधि और शासन एक दूसरे के लिये जरूरी है। वे प्रभावशाली इसलिये है क्यों कि विधि के दण्ड अन्याय को रोकते है।

न्याय के सम्बन्ध में एपीक्यूरियन का विचार है कि यक समान परिस्थिति में रह रहे मनुष्य के लिये समान होता है किन्तु सभी जगह एक बराबर या एक जैसा नहीं होता है। समय और स्थान के अनुसार न्याय का स्वरूप परिवर्तित होता रहता है अर्थात यह सापेक्षिक होता है। इसलिये किसी भी कानून या किसी राजनीतिक संस्था की उपयोगिता को इस आधार पर देखना चाहिये कि वह किसी परिस्थिति विशेष में उपयोगी है अथवा नहीं। इस प्रकार एपीक्यूरियन राजतंत्रीय शासन प्रणाली को अन्य

से बेहतर मानते थे। उसके अन्तर्गत कार्यदक्षता अच्छी होती है। सुख के लिये सुरक्षा की आवश्यकता होती है। राजतंत्र में यह बेहतर रूप से प्राप्त किया जा सकता है।

1.4.4.5 विवेचना –

एपीक्यूरियन ने प्राचीन यूनानी चिन्तन के पराभव और संगठित रूप से ईसाई धर्म दर्शन के उदय के बीच राजनीतिक निर्वात को भरा। इस दर्शन में एक आकर्षण और तर्क दोनों था। इस दर्शन में उन लोगों को एक आशा दिखी जो स्थानीय स्तर पर सार्वजनिक जीवन का महत्व समाप्त होने के बाद निराश थे। उन्हे साम्राज्य की केन्द्रीय शक्ति में कोई भूमिका नहीं मिली थी। उन्हें व्यक्तिगत सुख के रूप में जीवन का तर्क मिला। यह आकर्षण था और सभी लोगों में एक समान रूप से काम करता था। एपीक्यूरियनवाद को एक नकारात्मक दर्शन कहा गया। इसने लोगों को दुखों से बचने की सलाह दी। एपीक्यूरियन वाद की समीक्षा करते हुये संबाइन ने लिखा कि ''कुल मिलाकर एपीक्यूरियनवाद एक पलायनवादी दर्शन था। इसके विरूद्ध ऐन्द्रिक भोगवाद के आरोप लगाये गये है जिसके कारण लगता है कि यह अनैतिक दर्शन है यह अधिकता निराधार है। परन्तु इसने एक ऐसे निर्जीव सौन्दर्यवाद को उत्प्रेरित किया जिसमें मानव-व्यापार को प्रभावित करने की न तो क्षमाता थी और न इच्छा थी। यह व्यक्ति के लिये यह शान्ति तथा सान्त्वना का स्रोत था, किन्तु इसने अपने समय में राजनीतिक विचारों की प्रगति में कोई योगदान नहीं दिया।

इसकी उपलब्धि यह थी कि इसने धर्म और उससे जुड़ अन्धविश्वास का विरोध किया। भौतिकवाद पर दिया जाने वाला जोर बाद में हाब्स के दर्शन में पुनः सशक्त रूप से सामने आता है। बेंथम के दर्शन में उपयोगितावादी दर्शन जो सुख के चुनाव और दुख से बचे रहने के साधारण से तर्क पर टिका था अपना प्रारम्भ सूत्र एपिक्यूरियनवाद में पाता है। इस प्रकार इस दर्शन न केवल अपने समय को प्रभावित किया बल्कि राजनीतिक दर्शन के विकास क्रम को पर्यात रूप से प्रभावित किया।

1.4.5 सिनिक विचार (The Syn|c) –

सिनिक दर्शन का प्रवर्तक एन्टिस्थनीज को माना जाता है। उसे प्लेटो की भाँति सुकरात का शिष्य माना जाता है। इस विचारधारा के लोग सीनोसार्जेस नामक स्थान पर मिला करते थे जिसके कारण वे सिनिक नाम से प्रसिद्ध हो गये। एक दूसरी व्याख्या सामाजिक शिष्टाचार के प्रति घृणा रखने के कारण सिनिक नाम दिये जोने से जुड़ी हुई है। एन्टिस्थनीज के अतिरिक्त डायोजेनीज तथा क्रेटीस इस सम्प्रदाय के प्रमुख विचारक थे। ये विचारक घूम-घूम कर लोगों को वैराग्यपूर्ण जीवन जीनेकी शिक्षाये गरीबी को महिमा मंडित करती थी। उनकी शिक्षाओं में आत्मनिरर्थरता के प्रति आग्रह था। हर प्रकार के सामाजिक और व्यक्तिगत सुख को वह महत्व नहीं देते थे। इनके समर्थकों में अधिकांशतः वे लोग थे जो पहले नगर राज्यों में और बाद में साम्राज्य के अधीन बाहरी या विदेश नागरिक के रूप में वर्गीकृत थे। इसके प्रवर्तक एन्टिस्थ्कनीज सदाचार को ही जीवन का एक मात्र लक्ष्य मानते थे और उनके लिये यह सदाचार बाहरी भौतिक सुख और वस्तुओं के अथवा में ही मिल सकता था।

1.4.5.1 प्रमुख संकल्पनाए -

सिनिक दर्शन को विशेषतायें मौलिक है। इस दर्शन के अनुसार राज्य की नागरिकता और सुख या सदाचारी जीवन साथ-साथ नहीं निभा सकते। यह विचार प्राचीन यूनानी विचारों के विरूद्ध था। जहाँ राज्य के भीतर ही श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति को सम्भव बनाय गया था। यूनानी विचारों से दूसरा अन्तर व्यक्तियों के वर्गीकरण को लेकर था। यूनानी विचारक लोगों को स्वामियों और इदास या यूनानी और

बाहरी में विभक्त करते थे। सिनिक इस प्रकार के विभाजन को मान्यता नहीं देते थे। उनके अनुसार सभी मनुष्य बराबर होते है। उन्होंने सभी मनुष्यों को समान मानते हुये कृत्रिम विभाजन को मान्यता देने से अस्वीकार किया।

सिनिकों का विचार था कि राज्य इसी प्रकार के विभेद को जन्म देता है इसलिये वह आत्मनिर्भर नहीं बना सकता। सिनिक आम लोगों के हित ओर सामथर्य की बात करते थे राज्य की शक्ति पर उनका नियन्त्रण नहीं कर सकता था। सिनिकों का कहना था कि अच्छा जीवन व्यक्ति के स्वयं अपने प्रयासों से आ सकता है। कोई भी बाहरी सत्ता व्यक्ति को सुखी वही बना सकती। व्यक्ति ही स्वयं को आत्मनिर्भर बना सकता।

सिनिक विचारक यह भी मानते थे कि व्यक्ति को वैराग्यपूर्ण और सरल जीवन बीताना चाहिए। सब कुछ व्यर्थ है। उनका दर्शन कल्पना प्रधान था। वे अधिकांश व्यक्तियों को मूर्ख मानते थे और उनका कहना था कि केवल बुद्धिमान व्यक्ति ही सच्चे समाज का निर्माण कर सकते है। और इस ज्ञानी मनुष्य को किसी मान्य चीज की आवश्यकता नहीं होती है। उसे धन, शक्ति प्रतिष्ठा और पद की आवश्यकता नहीं होती है। कोई संस्था या कानून उसकी सहायता नहीं कर सकती। सिनिक सद्गुण को ही कानून मानते है। ज्ञानी मनुष्य किसी राज्य विशेष से संबंधित नहीं होता। उसकी निष्ठा और प्रतिष्ठा वैश्विक होती है। सिनिक के अनुसार बुद्धिमान व्यक्ति विश्व नागरिक होते है।

1.4.5.2 विवेचना-

राजनीतिक विश्लेषकों ने सिनिक दर्शन को नकारात्मक और पलायनवादी दर्शन कहा है। वह राज्यी और समाज की स्थापित सुव्यवस्था से अस्वीकार इनकी बड़ी विशेषता है। यह अपने चिन्तन और दर्शन को व्यक्ति केन्द्रित करता है। सुख और सर्वोत्तम जीवन की उनकी अपनी व्यवस्था है। राज्य पर निर्भरता को वह अशक्ता और अज्ञानी होने से जोड़ते है। यह मौलिक विचार है जो प्राचीन यूनानी विचारों के प्रतिपक्ष में खड़ा होता है। आलोचनात्मक रूप से कहा जा सकता है कि संकल्पना में विश्वास करते है जबकि एक संस्थानिक व्यवस्था अर्थात शिक्षा व्यवस्था, परम्परा, पारस्परिक विमर्श की व्यवस्था होने के अभाव में बुद्धिमान और क्षमता सम्पन्न व्यक्ति बन पाना असम्भव है। इसलिये व्यवस्था के विरूद्ध कही गई बात बुद्धिमान व्यक्ति भी अपना सर्वोत्तम जीवन प्राप्त नहीं कर सकता। जबकि सिनिक विचारक ऐसा मानते है।

सिनिक दर्शन की तुलना शून्यवाद से स्थापित की जाती है क्योंकि बहुत से विषयों पर एक अनिश्चियवादी रहस्यात्मक दृष्टिकोण से विचार व्यक्त किये है। जैसे दासता को स्पष्टतया न उन्हों ने बुरा कहा और नहीं भला। सेबाइन ने इसके विषय में लिखा कि यह सम्प्रदाय मानव प्रेम अथवा सुधारवाद के सामाजिक दर्शन का आधार कभी नहीं बना किन्तु यह सदैव सन्यास और प्यूटियनवाद की ओर झुका रहा। उनकी दृष्टि में गरीबी और दासता का कोई महत्व नहीं था। उनके विचार से स्वतंत्र व्यक्ति की स्थिति किसी भी हालत में में दास से बेहतर नहीं थी सिनिक यह भी मानने को तैयार नहीं थे कि दासता बुरी चीज है और स्वतंत्र अच्छी चीज। पुराने विश्व में जो सामाजिक भेद प्रचलित थे, सिनिकों को उनसे घृणा थी फलस्वरूप उन्होंने असमानता की ओर से अपनी पीठ मोड़ ली तथा दर्शन शास्त्र के माध्यम से आध्यात्मिक जगत में प्रवेश किया जहॉ छोटी-छोटी बात के लिये महत्व नहीं था।

जाहिर है दासता छोटी बात नहीं थी लेकिन सिनिक विचारक आध्यात्मिकता के आवरण में इसे छिपाना चाहते थे। असन्तोष और गैर बराबरी वाले सामाजिक और राजनीतिक परिस्थिति में सिनिक

अपने तर्क से आम जन को वैराग्या की शिक्षा दे रहे थे। कुछ सीमा तक सभ्यता विरोधी होते हुये भी सिनिक आम जन में लोकप्रिय हुये।

1.4.6 स्टावइकवाद (Sto|c|sm)

इस विचार सम्प्रदाय का उदय भी प्राचीन यूनानी नगर राज्यों के पतन के बाद हुआ। जीनों को स्टोइकवाद का संस्थापक माना जाता है। जीनों (336-264 ई पू) साइप्रस के सीशियस का रहने वाला था। वह पहले प्लेटो फिर सिनिक विचारक केरटस से प्रभावित हुआ। हालाँकि उसने अपने विचार सम्प्रदाय को भिन्न रूप से और आधारों पर विकसित किया। यूनानी भाषा के शब्दर स्टोआ से निकला यह शब्द दहलीज का संकेत देता है। सामान्यतया वहीं बैठ कर जीनों अपने लोगो से समर्थकों से बातचीत किया करता था। इसके समर्थकों में आमजन से उच्च पदों पर बैठे राजीतिज्ञ भी शामिल थे। जीनों ने 264 ई पू में असाध्य रोग से पीड़ित होने के कारण आम्त हत्या कर ली। उसके बाद क्रिसीप्पस ने इसे लोकप्रिय बनाने का कार्य किया। रोड़स के निवासी पेनेशियस ने दूसरी शताब्दी में जीनों प्रतिपादित स्टोइक वाद में संशोधन करके रोमन संस्कृति के अनुकूल बनाया पेनेशियस रोमन सम्राट सीयर का शिक्षा कथा। उसने इस दर्शन को मानवीय बनाते हुए यूनानी सभ्यता और रोमन चिन्तन को मिलाया। उसी के माध्यम से यह विचार धारा रोमन शासकों तथा लोगों तक पहुँची। रोमन साम्राज्य में प्रभावशाली लोगों के बीच यह प्रसिद्ध हुआ। उस समय के बड़े-बड़े लोगों का नाम इस सम्प्रदाय से जुड़ता माना जाता है कि नीरो का मंत्री सेनेका, सुप्रसिद्ध न्यायविद और विचारक सिसरो तथा रोम का एक सम्राट ऑरीलियस इसको मानने वाले थे। स्टाइकवाद उस दौर में पैदा हुआ था जब नगर राज्यों का अस्तित्व समाप्त हो रहा था और वह एक केन्द्रीय शक्तिशाली राज्य में विलीन हो रहे थे। इसे इतिहास में हैलेनिस्टिक काल की संज्ञा से जाना जाता है।

1.4.6.1 मूल संकल्पनाए –

सटोइकवाद समाज, राज्य और व्यक्ति के सम्बन्ध में कुछ संकल्पनाएँ रखता है जो कुछ सीमा तक मौलिक है और उन पर कुछ प्रभाव पूर्ववती दर्शन का भी है। स्टोइक विचारकों ने सिनकवाद की आधारभूत मान्यताओं को, जिसमें इच्छा शक्ति को सर्वोपरि मानने, व्यक्ति का अपने उभर निर्भर रखने, आत्म संयम रखने और सरल जीवन बिताने के विचार शामिल है, स्वीकार करके बदलती परिस्थितियों के अनुसार विकसित किया उन मान्यताओं की व्याख्या निम्नवत् है-

1.4.6.2 आत्मिक सुख का समर्थन -

स्टोइकवाद मानता है कि सुख बाहरी चीज नहीं है। किसी भी बाहरी चीज से सुख प्राप्त नहीं हो सकता। सुख मनुष्य को केवल अपने भीतर प्राप्त हो सकता है। यह स्टोइकवाद पर सिनिकवाद का प्रभाव है। स्टोइकों के अनुसार संसार की सारी सम्पत्ति या शक्ति वास्तविक अर्थों में है और प्रतिस्पर्धा के कारण मनुष्य दूसरों के साथ संघर्ष में पड़ता है इच्छाआं की कोई सीमा नहीं है इसलिये लालसा रखने वाला वस्तुओं से हटाकर आत्मसंयम के साथ आतंरिक सुख प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। आन्तरिक सुख आवश्यकताओं सीमित करने, सन्तोष अनुभव करने और इच्छा पर नियन्त्रण करने से प्राप्त होता है। इस प्रकार का सुख स्थायी होता है। दूसरे अर्थों में वास्तविक ओर स्थायी सुख बाहरी जगत में नहीं आन्तरिक मनों जगत में ही प्राप्त हो सकता है।

1.4.6.3 मानवीय प्रवृत्ति –

स्टोइक यह मानते थे कि मनुष्य को मूलभूत गुण विवेक है। यह विवेक ईश्वरीय गुण है और मनुष्य को ईश्वर प्रदत्त जन्मजात है। मनुष्य की सभी उच्च प्रवृत्तियों जैसे नैतिकता, विचार और सामाजिकता का कारण विवेक ही है। इसके कारण उसे उचित-अनुचित, न्याय-अन्याय और सही पर विचार करने की शक्ति मिलता है। जो विवेक से वंचित अन्य प्राणियों के पास नहीं है। स्टोइक यह मानते है कि सभी मनुष्य एक समान ईश्वरीय गुणों से सम्पन्न है और इसलिये मनुष्य-मनुष्य के बीच कोई भेद नहीं है। स्टोइकों के विश्वस बन्धुत्व का विचार यही से जन्म लेता है। इसी के तार्किक क्रम में विश्व राज्य का विचार जन्म लेता है।

स्टोइक मानवीय इच्छा शक्ति को सर्वोपरि मानते थे। इसी के बल पर वह बाहरी प्रलोभनों और सामाजिकता राजनीतिक विचलनों का सामना करता है और आन्तरिक सुख को प्राप्त कर सकता है। सांसारिक सुख के प्रति उपेक्षा भाव रखना संकल्पा शक्ति या इच्छा शक्ति के आधार पर ही सम्भ्व हो सकता है। यह मानव की मूल प्रवृत्तियों में शामिल गुण है। आत्म इच्छा शक्ति में प्रबल विश्वास से वह अपने सुख को स्थायी करता है। मानवीय प्रवृत्तियों आन्तरिक सुख की ओर उन्मुख करने के लिये होती है। इसे स्वीकार किया जाना चाहिए।

1.4.6.4 प्राकृतिक कानून-

स्टोइक प्राकृतिक कानून की सार्वभौमिकता में विश्वास करता था। उसके अनुसार पूरा विश्व एक अलिखित संविधान के अनुसार संचालित होता है जो विवेक के अनुसार बनता है। यह पूरे विश्व में सभी जगहों पर लागू होता है। प्राकृतिक कानून अपरिवर्तनीय है अैर समय और स्थान बदलने का प्रभाव इस पर नहीं पड़ता है। प्राकृतिक कानून मानव जनित विभेदों और वर्गीकरण से परे होता है। विश्व के सभी अप्राकृतिक और अमान्य है। स्टोइक इसी आधार पर दासता का समर्थन नहीं करता।

स्टोइकवाद मानता है कि विवेक सम्पन्न सभी व्यक्तियों को प्रकृति के कानून के साथ एकता स्थापित करनी चाहिए। मनुष्य को इन नियमों को जॉनकर उसके अनुकूल आचरण करना चाहिये।

1.4.6.5 राजनीतिक विचार –

स्टोइक अपनी दार्शनिक ओर प्राकृतिक कानून की मान्यताओं के अनुरूप राज्य की अवधारणा प्रस्तुत करते है। उनके अनुसार एक उच्च श्रेणी के राज्य में मनुष्यों के बीच कोई असमानता नहीं होती है। आदर्श राज्य में परिवार और सम्पत्ति की कोई व्यवस्था नहीं होती। क्योंकि इन संस्थाओं से व्यक्तियों के बीच असमानता का जन्म होता है आपस में प्रतिस्पर्धा होती है। जीनों आदर्श राज्य को मानवीय सुख के लिये अनुकूल कार्य करने की परिस्थिति तैयार करता है। राज्य धन, सम्पत्ति, प्रभाव या व्यक्ति के आधार पर लोगों के वर्गीकरण को मान्यता नहीं देता। वह कानून के बाध्यकारी प्रभाव को भी औपचारिक रूप से स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार आदर्श राज्य में कानून बाध्यकारी नहीं होता। जीनों कानून को अप्राकृतिक, निरर्थक और व्यक्ति◌ा के लिये बाहरी मानता है। स्टोपइकों के राजनीतिक विचार मानव के आत्मिक सुख आत्मकनिरर्थक ओर प्राकृतिक कानून की सर्वोच्चिता के तार्किकता के क्रम में प्रसतुत करते है।

1.4.6.6. राजतंत्रको मान्यता:

स्टोइकवाद प्राचीन यूनानी चिन्तन के विपरीत यह मानता था कि एक राजा के नेतृत्व में संगठित सशक्त राज्य ही लोगों के बीच एकता स्थापित कर सकता है। वहीं लोगों के बीच जाति, प्रजाति और क्षेत्र का भेद मिटाया जा सकता है। स्टोइक सदैव इस विचार के विरूद्ध सचेत रहा कि राज्य में सी भी

सर्वसृजित वर्गीकरण के आधार पर विभेद न मान्य हो। यूनानी नगर राज्य कई अमानवीय विभेदों को मान्यता देते थे ओर उन्हीं पर रजनीतिक व्यवस्था टिकी हुई थी। प्लेटो और अरस्तू जैसे प्रख्यात राजनीतिक विचारकों के तर्क भी उसी व्यवस्था को पुष्ट और अरस्तू जैसे प्रख्यात राजनीतिक विचारकों के तर्क भी उसी व्यवस्था को पुष्ट न करने के लिये दिया गया। स्टोइक निरंकुश राज्य तंत्र का समर्थन नहीं करता। उसके अनुसार शासक का शक्तिशाली होने के साथ-साथ विवेकशील होना आवश्यक है।

1.4.6.7 समानता और विश्व बन्धुत्व-

स्टोइकवाद के द्वारा प्रस्तुनत प्राकृतिक कानून की सर्वोच्चता का तर्क व्यक्तियों की सार्वभौमिक राज्य के नागरिक होने का तर्क स्थापित करता है और इसी तर्क से जुड़ा हुआ विचार है कि इस सार्वभौम राज्य के सभी नागरिक एक दूसरे के समान माने गये। इस प्रकार स्टोइक दर्शन ने लोगों के बीच समानता के विचार को प्रमुखता से प्रतिष्ठित किया। सम्पूर्ण विश्वास पर एक परिवार है इसलिये इसमें मूल ओर विदेशी अथवा स्वामी और दास का सम्बिन्ध नहीं हो सकता। मनुष्य और मनुष्य के बीच समानता की तरह देशों के बीच का विचार भी प्रस्तुत किया गया। जिस कानून से विश्व समाज भी संचालित होता है। इस प्रकार मनुष्य और विभिन्ना प्रकार के देशों के बीच असमानता को स्टोइक आधारहीन और गलत मानता है। यह स्टोइको की मौलिक विशेषता है।

1.4.6.8 विवेचना-

स्टोइकवाद ने दो भिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं को आपस में जोड़ने के साथ ही प्रभावित भी किया। वह यूनानी प्रमुख के पतन के बाद और राजनीतिक तौर पर रोमन साम्राज्य के उभरने के बीच के समयान्तराल को, उसकी ऐतिहासिक, दार्शनिक और राजनीतिक आवश्यकताओं को पूरा करने में सफल रहा। स्टोइकवाद की एक अन्य विशेषता यह रही कि उसने परिस्थितियों के अनुसार अपने को परिमार्जित और संशेधित किया। इससे बदलती परिस्थितियों में उसकी स्वीकार्यता बनी रही। जीनों प्रतिपादित परम्परागत स्टोइकवाद में सांसारिक मामलों से सन्यास लेने, प्राकृतिक कानून को आदर्श मनाने तथ मनुष्यआं के बीच बुद्धिमान और मूर्ख का भेद स्थापित रूप से की प्रारम्भिक स्टोइक दर्शन में वह आकर्षण नहीं या जो सम्पन्न वर्ग शहरी मध्यम वर्ग को अपनी ओर खींच सके क्योंकि वे भौतिक साधनों से विरूचि रखने का समर्थन करते थे। रोमन लोगों में इसे लोकप्रिय बनाने के लिये पेनेशियस ने इसमें कई महत्वपूर्ण संशोधन किये।

पेनेशियन ने कहा कि बुद्धिमान मनुष्य को आत्म उपलब्धि और आन्तरिक सुख की प्राप्ति के लिये संसार के प्रति विरक्ति रखने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। जैसा कि पूर्ववर्ती स्टोइक मानते थे वह मनुष्यों में बाहरी और आन्तरिक दोनों समानता मानते हुये सभी को एक बराबर मानता था और सम्पूर्ण मानव जाति की एकता में विश्वास करता था। न्याय, मानवता, समानता, जीवन की गरिमा उसके लिये बड़े मूल्य थे। साथ ही उसके पास व्यवहारिक दृष्टि थी। उसने कहा कि न्याय के बिना राज्य का कोइ अर्थ नहीं है। स्त्री-पुरुष सभी के लिये वह समान अधिकार की बात करता है। मानवीयता और व्या व्यवहारिकता स्टोइकवाद में दो बड़े और प्रभावशाली संशोधन थे जिसने रोमन समान में स्टोइकवाद को लोकप्रिय बना।

स्टोइकवाद एक मौलिक दृष्टि और जीवन दर्शन दिया जिस के अनुसार अपने वातावरण और परिस्थिति में जीवन व्यतीत करता हुआ व्यक्ति राजनीतिक समाज के उद्देश्यों से एक आन्तरिक एकता स्थापित करता है। व्यक्ति और संगठन के इस आन्तरिक और आत्मक एकता की स्वाभाविक व्युत्पत्ति सार्वभौतिक समाज और विश्वत बन्धुत्व की अवधारणा है। एक अन्य मौलिक योगदान प्राकृतिक कानून

का विचार है। उनके इस योगदानों को बाद में ईसाई धर्म ने अपनी मान्यताओं के साथ सुसंगत ढंग से अपनाया।

स्टोइकवाद का एक ऐतिहासिक महत्व भी है। उसने बदलती परिस्थिति की मांग को राजनीतिक स्वर दिया और व्यवस्था के साथ व्यक्तिगत इच्छाओं का सामन्ज्स्य बैठाया। इस दर्शन के माध्यम से राज्य को लोगो की श्रद्धा और वैधता प्राप्त हुई। राज्य की आज्ञाओं के पालन का औचित्य स्टोइक दर्शन से मिला। यह तर्क स्थापित हुआ राज्य की आज्ञाओं का पालन व्यक्ति किसी बाहरी बल के भय के कारण नहीं करता बल्कि राज्य व्यक्ति की भॉति ही एक नैतिक संगठन है दोनों के बीच नैतिक एकता है।

1.4.7 पाठसार सारांश

एपीक्यूरियनवाद, सिनिकवाद तथा स्टाइकदर्शन ने लम्बे समय तक रानैतिक शून्यता को भरा। इन दर्शनों की शुरूआत में आधारभूत ऐतिहासिक परिवर्तन हुये। नगर राज्यों के इर्द-गिर्द विकसित राजनीतिक व्यवस्था साम्राज्य के उदय के साथ ही भंग हो गई। वह राजनैतिक व्यवस्था एक सामाजिक व्यवस्था के साथ ही भंग हो गई। वह राजनैतिक व्यवस्था एक सामाजिक व्यवस्था के साथ जुड़ी हुई थी। राजनीतिक व्यवस्था के टूटने के साथ सामाजिक व्य व्यवस्था भी भंग हो गई। साम्राज्य के रूप में उभरी राजनीतिक व्यवस्था के तर्कसंगत क्रम में सामाजिक व्यवस्था विकसित हुई। राजनैतिक व्यवस्था के दार्शनिक आधारों को इन सम्प्रदायों ने विकसित किया। चाहे वह एपीक्यूरियन समर्थक हो या सिनिक या स्टोइक सभी ने अपने समर्थको के लिये सामाजिक व्यवस्था भी विकसित की। जिन सामान्य अवधारणाओं पर ये दार्शनिक सम्प्रदाय सहमत थे उन्हांेने अपने प्रभाव काल में ही नहीं बाद के समय पर भी प्रभाव डाला। आत्मरत जीवन, विश्व नागरिकता, प्राकृतिक कानून की सार्वभौमिक तथा बन्धुत्व उनके अभूतपूर्व योगदान है। रोमन साम्राज्य ने उनके मूल्यों और आदर्शो को ग्रहण किया। उसे ईसाई धर्म के अन्तर्गत रहकर इन मूल्यों और आदर्शों ने पूरा मध्य कालीन यूरोप को प्रभावित किया। भूमण्डलीकरण के इस युग में विश्व नागरिकता या सार्वभौम राज्य की लोक प्रियता बनी हुई है। इस प्रकार उन आदर्शो का सम्बन्ध समकालीन जीवन से भी जुड़ जाता है। अपनी सीमित विशेषताओं के बाद भी इन लघु दर्शनों ने मानव जीवन को बहुत प्रभावित किया।

1.4.8 अभ्यास/बोध प्रश्न

1.4.8.1 बहुविकल्पीय

1. अरस्तू ने किस विधि का अनुसरण किया?
   (1) अगमनात्मक (2) निगमनात्मक (3) काल्पनिक (4) ऐच्छिक
2. कितने संविधानों का अध्ययन करके अरस्तू ने राज्य का वर्गीकरण किया?
   (1) 154 (2) 157 (3) 158 (4) 159
3. किसने कहा 'मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है'?
   (1) प्लेटो (2) अरस्तू (3) सुकरात (4) जार्जियास
4. अरस्तू दासता को मानते थे?
   (1) कृत्रिम (2) विधिक (3) सांस्कृतिक (4) प्राकृतिक
5. किसका कथन था 'राज्य व्यक्ति का पूर्ववर्ती है?
   (1) सुकरात (2) प्लेटो (3) अरस्तू (4) ग्लाकन

1.4.8.2 लघुउत्तरीय प्रश्न

1. अरस्तू राज्य को कैसी संस्था मानता था?
2. दासता के विषय में अरस्तू का प्रमुख विचार क्या था?
3. अरस्तू के संविधान का वर्गीकरण कितने भागों में किया?
4. अरस्तू किसे नागरिकता की परिभाषा में शामिल करता है?
5. अरस्तू की अध्ययन पद्धति किस प्रकार की थी?

1.4.8.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. अरस्तू के राज्य सम्बन्धी विचार की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये?
2. दासता का समर्थन अरस्तू के दर्शन में प्रतिक्रियावादी विचार है? इस कथन की तार्किक आलोचना कीजिये?
3. अरस्तू के विधि सम्बन्धी विचार का सविस्तार वर्णन कीजिये।
4. अरस्तू का आदर्श राज्य प्लेटों का उपादर्श राज्य है? इस कथन की समीक्षा कीजिए?
5. अरस्तू के नागरिकता के विचार की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए?

1.4.8.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. एरिस्टोटल (2000) पॉलिटिक्स, पेगुंइन क्लासिक प्रकाशन, नई दिल्ली, आईएसबीएन 7801401444216
2. सुब्रत मुखर्जी, सुशीला रामास्वामी (2011) ए हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिक्ल थॉट (दिल्ली) की प्राइवेट लि0 नई दिल्ली, आईएसबीएन 7881203894
3. अर्मेस्ट बार्क (1959) द पॉलिटिकल थाट आफ प्लेटो एण्ड एरिस्टोटल रसेल एण्ड रसेल, न्यूयार्क
4. रेयान के0 बालोट (सं0) (2009) ए कम्प्रीजन आफ ग्रीक एण्ड रोमन पॉलिटिकल थाट्, नीलसन बुक्स आईएसबीएन 9781405151436

खण्ड-2: मध्ययुगीन राजनीतिक चिंतन

इकाई-4: मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन: एक सिंहावलोकन, विशेषताएँ एवं प्रकृति

इकाई की रूपरेखा

2.1.1 उद्देश्य कथन
2.1.2 प्रस्तावना
2.1.3 मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन का पूर्वाधार
2.1.4 ईसाईयत का उदय
2.1.4.1 ईसाई धर्म का राजनीतिक पक्ष
2.1.4.2 प्रभाव
2.1.4.3 विवेचना
2.1.5 चर्च-राज्य संघर्ष: पृष्ठभूमि तथा विकास
2.1.5.1 टकराव का प्रथम चरण: प्रमुख घटनाएँ
2.1.5.2 द्वितीय चरण: प्रमुख घटनाएँ व परिणाम
2.1.6 मध्ययुग की विशेषताएँ
2.1.6.1 चर्च का महत्वपूर्ण स्थान
2.1.6.2 राजसत्ता की उपस्थिति
2.1.6.3 राजतंत्रीय शासन
2.1.6.4 प्रतिनिधि शासन तथा लोकप्रिय संप्रभुता का सिद्धांत
2.1.6.5 सामन्तवादी व्यवस्था
2.1.6.6 प्रकृति
2.1.7 पाठसार/सारांश
2.1.8 अभ्यास प्रश्न/बोध प्रश्न (बहुविकल्पीय, लघुउत्तरीय तथा दीघउत्तरीय प्रश्न)
2.1.8.1 बहुविकल्पीय प्रश्न
2.1.8.2 लघुउत्तरीय प्रश्न
2.1.8.3 दीर्घउत्तरीय प्रश्न
2.1.9 कठिन शब्दावली
2.1.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

2.1.1 उद्देश्य कथन

1. इस अध्याय से मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन की सामान्य व विशिष्ट विशेषताओं को समझने के साथ उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, प्रवृत्ति और प्रभाव को सम्पूर्णता में बताया जा सकेगा।
2. यूरोपीय समाज में ईसाई धर्म की उत्पत्ति और विकास के साथ राजनीतिक शक्ति और राजनीतिक नेतृत्व के सम्बन्ध को छात्रों के बीच स्पष्ट किया जा सकेगा।
3. श्राजाओं और पोप के बीच वास्तविक सत्ता संघर्ष के तात्कालीक कारणों व उस संघर्ष के दौरान विकसित राजनीतिक सिद्धान्तों को उद्गम और विकास बताया गया है।

4. पाठ के अध्ययन उपरान्त आधुनिक यूरोप के उदय की पृष्ठभूमि, धर्मनिरपेक्षता के विचार का विकास और आधुनिक राज्य के स्वरूप को विधिवत समझा जा सकेगा।

2.1.2 प्रस्तावना

यूनानी चिन्तन के बाद अस्तित्व में आया रोमन साम्राज्य अपनी समृद्ध वैचारिक परम्परा को निरन्तन नहीं रख पाया। उसके शासकों द्वारा ईसाई धर्म को अपनाने के बाद धर्मसत्ता और राजसत्ता के बीच लौकिक जगह में संघर्ष शुरू हुआ। जिसका मुख्य लक्ष्य व्यक्ति के जीवन को नियन्त्रित करने का एकाअधिकार प्राप्त करना था। शुरूआती वर्षों में जब चर्च की सत्ता और परस्पर दावों में एक संतुलन था। चर्च के मजबूत होने के साथ राज्य एक अधीनस्थ संगठन के रूप में स्थान ग्रहण करता गया। इस स्थिति की समाप्ति तब हुई जब राष्ट्रीय अस्मिरता के आधार पर राष्ट्र राज्य का उदय हुआ और चर्च अंततः राज्य के अधीन लक्ष्य विशेष का संगठन हो गया। चर्च राज्य के बीच संघर्ष और परम्पर वर्चस्व के समय में राजनीति विज्ञान की कुछ एक महत्वपूर्ण संकल्पनाओं का विकास हुआ। लोकतांत्रिक विश्व की बहुत सी विशेषताओं की जड़ मध्ययुग में पाई जाती है जिसे अन्धकार का युग कहा जाता है।

2.1.3 मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन का पूर्वाधार

राजनीतिक चिन्तन का मध्ययुगीन मौलिक है और अपने गैर राजनीतिक विशेषताओं के कारण अध्येताओं में आकर्षण उत्पन्न करता है। उपरी तौर पर धार्मिक भूमिकाओं और व्यक्तियों का प्राधान्य रखने वाला मध्ययुग वास्तव में एक विशिष्ट राजनीतिक चिन्तन का प्रतिनिधित्व करता है। इस युग में राजनीतिक भूमिका धर्म के आवरण में निभाई गई इसलिये द्वितीय बनकर रह गई। मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन उपरी तौर पर विशिष्ट विशेषताओं वाला तथा पृथक राजनीतिक धारा का प्रतिनिधित्व करता दिखता है किन्तु वास्तव में उसका तार्किक और अटूट सम्बन्ध पूर्ववर्ती राजनीतिक चिन्तन से है। अरस्तू की मृत्यु के बाद नगर राज्य पर आधारित राजनीतिक चिन्तन और उसके मूर्त प्रतिनिधि संस्थाओं का पतन हुआ तथा साम्राज्य के युग में 'लघु दर्शनों जैसे स्टोइक, सिनिक और एपीक्यूरियन सम्प्रदायों का जन्म हुआ। किन्तु कालान्तर में ये दर्शन स्थायी नहीं हो सके। राजनीतिक सत्ता भी मेसीडोनिया से निकलकर रोमन लोगों के पास चली गई जिसका राजनीतिकचिन्तन पर स्थायी प्रभाव पड़ा।

रोमन राजनीतिक चिन्तन उस अर्थ और मानदण्ड में मौलिक नहीं कहा जा सकता जिस अर्थ में प्राचीन यूनानी राजनीतिक चिन्तन था। उन्होंने यूनानियों की तरह मौलिक राजनीतिक विचार नहीं दिये बल्कि युनानी विचारकों के दिये गये विचारों को ही अपनी परिस्थिति के अनुसार परिभाषित तथा लागू किया। रोमन विचारकों के उपर प्लेटो और अरस्तू का कम और स्टोइक विचारकों का अधिक प्रभाव पड़ा। रोमन विचारक सार्वभौमिक कानून, विश्व साम्राजय की अवधारणा में विश्वास करते थे यह मूल रूप से स्टोइक दर्शन की मूलभूत अवधारणाए है। मैक्लकवेन के अनुसार 'यह विचार काफी मान्य था कि रोमन कानून का बारह तालिकाओं (Twelve Tables) में वर्गीकृत किया जाना काफी सीमा तक यूनानी नगरों के लिये बनाये गये कानूनों के उपर आधारित है।'

लेकिन ऐसा नहीं था कि रोमन केवल अनुसरणकर्ता थे। रोमन लोगों ने कानून के क्षेत्र या विधि शास्त्र (Jurlsprudence) के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया। यह आज भी जर्मनी, फ्रॉस, स्विटजरलैण्ड सहित मुख्य यूरोप के तमाम देशों के साथ-साथ आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून को भी प्रभावित करता है। रोमन लोगों ने राज्य और व्यक्ति के पृथकत्व को मान्यता दी और राज्य को स्वनतंत्र व्यक्तित्व सम्पन्न

माना। उनके अनुसार राज्य का व्यक्तित्व कानूनी स्वरूप का होता है और कानूनी व्यक्तित्व होने के कारण राज्य के अपने अधिकार तथा कर्तव्य होते है। उसकी कानूनी भूमिका होती है और कानून के समक्ष वह व्यक्तित्व के रूप में खड़ा होता है। इसी के तार्किक क्रम में रोमन विचारक राज्य का सरकार और समाज से भेद मानते है। रोमन साम्राज्य बहुत विशाल था इसलिये नगर राज्यों जैसे वह सामाजिक जीवन से घुल-मिल नहीं सकता था और दूसरी ओर इस साम्राज्य में विभिन्नि जातियाँ, अलग-अलग सामूहिक समूह, सभ्यता के अलग-अलग स्तर पर निवास कर रहे थे। इस इसलिये एक सा राजनीतिक हो सकती थी। जिसके पीछे सम्प्रभु शक्ति का विचार कार्य कर रहा था। हाँलाकि रोमन विचारक यह मानते थे कि सम्प्रभुता पर शक्ति आधारित न होकर सामान्यजन की स्वीकृति और जनता की इच्छा से उत्पन्न होती है। आधुनिक सम्प्रभुता की नींव रोमन सम्प्रभुता के विचार में मिलती है। रोमन लोगों ने धर्म और शासन के बीच विभेद किया और अपने बड़े साम्राज्य को को प्रतिनिधि मूलक, वैध और स्वीकार्य बनाने के लिये स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं का विकास किया जो आज लोकतंत्र की मूलभूत विशेषता मानी जाती है। पालिबियस (204 इपू-122 ई पू), सिसरो (106 ईपू 43 ईपू) तथा सैनिक (3 ई पू से 65 ई) प्रमुख रोमन राजनीतिक विचारक थे।

रोमन साम्राज्य को राजनीतिक शक्ति के पतन के बाद ईसाईयत की धार्मिक शक्ति ने उसे सार्वभौम सत्ता के रूप में प्रतिस्थापित किया। पाँचवी शताब्दी से लेकर 13वीं शताब्दी तक ईसाई चर्च की सर्वोपरिता सभी क्षेत्रों में स्थापित रही। ईसाई लोगों ने राज्य के स्वरूप और उसके कार्यो की व्याख्या धार्मिक मान्यताओं के अनुसार की।

रोमन लोगो ने तीन प्रकार के कानूनों की धारणाये विकसित की। पहली नागरिक कानून (जस नैचुल) दूसरी राष्ट्रो का कानून (जय जैंटियस) तथा तीसरी प्राकतिक कानून (जसनैचुरल)। यह कानून के क्षेत्र में महान उपलब्धि थी। जिसे बाद में अन्य विधिशास्त्रियों ने विकसित किया। रोमन विधि में कानून को निर्वैयक्तिक विवेक माना गया और उसी के अनुसार कानून की भूमिका पर विचार किया गया। कानून से व्यक्ति की स्वतंत्रता को आधार मिलता है। के तर्कसंगत क्रम में तथा उसके अधीन की।

मध्ययुग की अवधि लगभग एक हजार साल रही है। इसने मानवीय इतिहास विशेषकर यूरोपीय चिन्तन और परम्परा को नयी विशेषताओं से विभूषित किया उसकी प्रवृति व्यापक परिप्रेक्ष्य में नकारात्मक थी लेकिन उपलब्धि के रूप में उसने यूरोप में केन्द्रीय राजनीतिक शक्ति के अभाव में अनुशासित किया और नेतृत्व प्रदान किया हॉलाकि विवेक और मानवता धार्मिक सत्ता के सामने द्वितीय शक्ति बनकर रह गयी। लेकिन दोनों के आपसी संघर्ष ने मानवीय सभ्यता और ज्ञान का विकास किया।

2.1.4 ईसाईयत का उदय

ईसाई धर्म और मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन में नाभिनाल सम्बन्ध रहा। मध्यकालीन राजनीतिक चिन्तन को उसके मूल स्वरूप में समझने के लिए ईसाईधर्म की उत्पत्ति और प्रसार को समझाना आवश्यक है। ईसाई धर्म का उदय रोमन साम्राज्य के पूर्वी भाग में किसी स्थान पर हुआ इसके प्रवर्तक ईसामसीह थे। जल्द ही यह धर्म श्रमिक वर्ग मे लोकप्रिय हो गया। 250 ई0 आते-आते पूरा यूरोप ईसाई धर्म अपना चुका था। ईसाई धर्म की मूल शिक्षा ईश्वर की आधीनता, उनका पितृत्व भाव और उनकी सन्तान के रूप में सभी मनुष्यों में भाईचारे का विचार लेकर आया जिसमें यीशु की शक्ति और अनुकम्पा से मुक्ति का विचार निहित था। अमीर और गरीब सभी के लिए यह एक समान थी। अपने प्रसार के दिनों में विशेषकर चैथी शताब्दी में रोमन साम्राज्य के शासको और सामान्य जन के बीच ईसाई धर्म

को लेकर एक अन्तर्विरोध पैदा हुआ। परम्परागत रोमन धर्म में सम्राट को ही पूजनीय माना जाता था जबकि ईसाई धर्म के अनुसार किसी आदमी की पूजा नहीं जा सकती। इसाई धर्म में दीक्षित रोमन साम्राज्य की आम जनता ने रोम के परम्परागत धर्म और उसकी देवत्व को मानने से इन्कार कर दिया। इससे संघर्ष कर रहे प्रारम्भिक रोमन सम्राटो ने ईसाई अनुयायियों का उत्पीड़न किया। जिसमें नीरो, थीयोडोसियस तथा डायोक्लेयशियन शामिल थे। जब सैनिकों ने की ईसाई धर्म अपनाया तब सम्राट के लिये सैनिक शक्ति के बल पर परम्परागत धर्म बनाये रखना असम्भव हो गया। इस संघर्ष का समापन चैथी शताब्दी में रोमन सम्राट कॉन्सटैन्टीन (307-337 ई0) द्वारा स्वयं ईसाई धर्म अपना लेने पर हुआ। इसके बाद सम्राट थरीयोडोसियस ने ईसाई धर्म को राजधर्म बना दिया। इस प्रकार पूरे रोमन साम्राज्य में ईसाई धर्म का एक छत्र राज स्थापित हो गया ईसाई धर्म को छोड़कर अन्य धर्मो का पालन यूरोप में निषिद्ध कर दिया गया, और इस प्रकार चैथी शताब्दी के अन्त तक पूरे रोमन साम्राज्य में राजनीतिक शक्ति से भी बड़ी शक्ति बन गया। ईसाई धर्म की विशेषताओं ने मध्य युग की शुरूआत में स्थायित्व प्रदान किया।

2.1.4.1 ईसाई धर्म राजनीतिक पक्ष

समानता और भातृत्व ने आमजन को ईसाईयत के प्रति आकर्षित किया। लेकिन राजनीति को उसके पारलौकिक और सांसारिक विषयों के बारे में दिये गये विचारों तथा उनके अन्तर्सम्बन्धों ने सत्ता को अधिक तथा अभूतपूर्व ताकत दी और उसने राजनीतिक सत्ता की शक्ति और वैधता में अपने पक्ष में हस्तान्त्रण करा लिया।

ईसाई धर्म ईश्वरीय लोक के अधीन इस जगत को मानता है तथा उसका मानना है कि यह पृथ्वी पापमय है। मनुष्य जीवन ही पाप के कारण है इसलिये बिना ईश्वरीय अनुकम्पा से मुक्ति नहीं मिल सकती। ईश्वरीय अनुकम्पा तभी सम्भव है जब सांसारिक विषयों से दूर रहकर ईसामसीह का अनुसरण तथा चर्च की सदस्यता प्राप्त की जाये। पारलौकिक जीवनऔर लौकिक जीवन में मतभेद अवश्यभावी है किन्तु एक सच्चे ईसाई को सदैव उच्च जीवन आदर्श अर्थात् धार्मिक जीवन को प्राथमिकता देनी चाहिये। क्योंकि आत्मा का स्थान शरीर से उपर होता है।

मानव जीवन का लक्ष्य भौतिक प्रगति नहीं है। उसका लक्ष्य वर्तमान जीवन का प्रयोग करते हुये पारलौकिक जीवन की तैयारी करना है। वर्तमान वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन साध्य न होकर साधन है। साध्य है ईश्वरीय कृपा से मुक्ति। इस विचार से सामाजिक जीवन की निस्सारता स्थापित हुई और चर्च और राज्य की एक भूमिका इससे सम्बन्धित हो गयी। चर्च को मनुष्य के साध्यी से सम्बन्धित जबकि राज्य मनुष्य के सामाजिक जीवन को नियंत्रित करने का दावा करके साधन से सम्बन्धित हो जाता है और इसलिये द्वितीय भूमिका में आ जाता है। मानव जीवन के उद्देश्य के लिये चर्च प्राथमिक हो जाता है। और इसी तर्क के आधार पर राज्य से उपर या वरीय होने का दावा करता है। क्योंकि आध्योत्मिक पक्ष शारीरिक स्तर पर पैदा मांग और आकांक्षा से बड़ा और श्रेष्ठ होता है। ईश्वर का राज्यक मनुष्य के भीतर अर्थात उसकी आत्मा में होता है। बाहर समाज में नहीं इसलिये बाहर की प्रत्येक चीज चाहे वह सामाजिक गतिविधि हो या राज्य की निम्न स्थान ही रखती है। चर्च की सहायता से ही हम आत्मा को ईश्वर के अधीन ला सकते है। राज्य की मनुष्य की मुक्ति में कोई भूमिका नहीं बनती है। यह तर्क और विश्वास भी चर्च को राज्य पर वरीयता प्रदान करता है।

तीसरे चर्च राज्य से पृथक, स्वतंत्र और सभी संस्थाओं में सर्वोपरि है। यह उस रोमन यूनानी से राजनीतिक विचार विपरीत था जिसने राज्य को इस संसार में सर्वोपरि घोषित किया था। इससे इससे

ईसाईयों के बीच राज्य, उसके पद तथा शक्ति के प्रति आकर्षण घटा और वे चर्च की सत्ता के प्रति समर्पित हुये। चर्च ने लोगों की श्रद्धा और वैधता मिलने के बाद क्रमशः लौकिक मामलों में भी अपनी शक्ति का विस्तार किया।

2.1.4.2 प्रभाव

जनसाधारण के बाद उच्च शक्ति प्राप्त शक्ति प्राप्त कुलीन लोगों द्वारा भी अपना लिये जाने के बाद यूरोपीय ईसाई समाज में चर्च की सत्ता पूर्णतया स्थापित हो गयी। ईसाईयत ने उस साम्राज्य के लोगों के पुराने विश्वास को नष्ट किया और व्यवस्थित रूप से नये विश्वा ास और रीति-रिवाजों को स्थापित किया। निष्कर्ष रूप में चैथी शताब्दी के अन्तिम तक चर्च राज्य से पृथक होकर अपनी स्वतंत्र और शक्तिशाली सत्ता स्थापित कर ली थी। विभिन्न तर्को के आधार पर उसने यह भी स्थापित करने का प्रयास किया, कि चर्च राज्य से सर्वोपरि है और मनुष्य के जीवन में उद्देश्य के दृष्टिकोण से वह चर्च के अधीन भी है। इस प्रकार ईसाईयत के फैलाव और एकमात्र धर्म के रूप में मान्यता मिलने के साथ ही यह स्थापित हो गया कि चर्च और राज्य का सम्बन्ध बराबरी के साथ निभा नहीं सकता। विशेषकर सैद्धान्तिक रूप से ऐसा सम्भव नहीं है। चर्च मनुष्य को मुक्ति के उद्देश्य को पूरा करता है और राज्य उसके लिये गौण संस्था है राजनीतिक रूप से यह चर्च के उत्थान और राज्य संस्था के प्रभाव की परिस्थिति थी। चर्च ने यह भी व्यवस्था की कि ईसाई लोग अपने आपसी विवादों को राज्य की संस्थाओं के पास न ले जाकर चर्च की मध्यस्थता में ही समाप्त करे। इसके लिये चर्च के अपने कानून तथा न्यायालय थे। समय के साथ इस प्रथा ने भी राज्य और चर्च के सम्बन्धो को तोड़ने और चर्च को सभी दृष्टियों से आत्मनिर्भर संस्था के रूप में स्थापित होने में सहायता दी।

ईसाई धर्म की धार्मिक पुस्तकों तथा शुरूआत के धर्म गुरूओं ने ईसाई धर्म की राज्य के सम्बन्धों को लेकर समन्वयकारी व्याख्या की। जिससे दोनों तरह की सत्ता के बीच सहयोग बना रहे और टकराव को टाला जा सके। यह व्याख्या ा सन्त ग्रिगरी प्रथम तक चली। इसमें चर्च से जुड़े पदाधिकारियों को राज्य की आज्ञा मानने की बात कही गयी थी। स्वयं ईसामसीह की यह मान्यता थी कि जो बाते सीजर (राजा) से सम्बन्धित है उसमें राजा की तथा जो बातें ईश्वर से सम्बन्धित है उसमें ईश्वंर की आज्ञा का पालन किया जाये। राज्य से सम्बन्धित विषयों में राज्य की आज्ञा का पालन करना ईसाई का कर्तव्य माना गया। सन्त पाल ने इसे और स्पष्ट किया। उन्होंने कहा कि प्रत्येक आत्मा को उच्चतर शक्तियों के अधीन रहना चाहिये और स्वयं राजा को उसकी शक्ति ईश्वर से मिलती है। राजा ईश्वर के अधीन है। राजा की तलवार उन लोगों के लिए है जो बुरा करते है उनके लिये ईश्वर का बदला राजा ही लेता है। न्यू टेस्टामेण्ट में स्पष्टतया कहा गया कि राजा का सम्मान करना उस कर का भुगतान करना तथा कानून के उलंघन के विषय में भयभीत रहना प्रत्येक ईसाई का कर्तव्य है।

2.1.4.3 विवेचना

राज्य की स्थापना ही आदम के पापमय आचरण के बाद उसकी सन्तानों अर्थात मनुष्य को पतन से रोकने और उनके बीच पैदा संघर्ष को रोकने के लिये दैवीय इच्छा के फलस्वरूप हुआ है। राज्य के स्थापना का यूनानी सिद्धान्त इसके विपरीत राज्य नैसर्गिक संस्था मानते थे और कुछ विचारकों ने सामाजिक संमझौते के फलस्वरूप राज्य सस्थाओं की उत्पत्ति मानते है। इस प्रकार मनुष्यों की राज्य स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका बन जाती है जबकि दैवीय राज्य के सिद्धान्त से मनुष्य की आधीनता

पारलौकिक सत्ता के समक्ष तय कर देता है। ईसाई विश्व राज्य के दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त के पक्ष में है। राज्य को दैवीय तथा राजा को दैवी इच्छा को व्यावहारिक रूप देने वाली सत्ता की व्याख्या के साथ ईसाई धर्म ने अनुयायियों को जहाँ एक ओर आज्ञा पालन की सीख देता है दूसरी ओर सावर्जनिक जीवन के महत्व को कमतर आँकते हुये चर्च की संगठित शक्ति के अधीन राज्य से पृथक वैकल्पिक जीवन देने का दावा करता है।

ईसाई धर्म अपनी धार्मिक पुस्त्कों में, ईसामसीह तथा उनके कोशिश की। इसका प्रभाव भी पडा। लम्बे समय तक चर्च राज्य, सम्बन्धी इन्ही मान्यताओं के अनुरूप संचालित होता रहा। इस स्थिति में तब तक परिवर्तन नहीं हुआ जब तक चर्च ने व्यावहारिक रूप से राज्य और राजा से अधिक सांसारिक शक्ति, वैधता, मान्यता और प्रभाव अर्जित नहीं कर लिया।

निष्कार्ष रूप में कहा जा सकता है कि ईसाई धर्म की शिक्षायें और प्रारम्भिक धर्म गुरूओं के विचारों ने मध्यकालीन यूरोप में राजनीतिक चिन्तन और परिस्थिति को निर्णायक मोड़ दिया।

2.1.5 चर्च-राज्य संघर्ष: पृष्ठभूमि तथा विकास

प्रारम्भिक समन्वय और आपसी सीमाओं के सम्मान की परम्परा दो तीन सौ सालों के भीतर ही भंग होने लगी। यह परिस्थिति पर निर्भर था। जैसे-जैसे पोप नामक संस्था आकार और शक्ति ग्रहण करने लगी वैसे-वैसे उसने राज्य के समक्ष वास्तविक चुनौती प्रस्तुत की। पोप की शक्ति का आधार धार्मिक सत्ता थी लेकिन यह समय$\leq$ पर पद स्थापित पोपों के व्यक्तित्व पर भी निर्भर थी।

पोप ईसाई चर्च संगठन का सर्वोच्च पद है। आरम्भ में इस पद की कोई व्यवस्था नहीं मिलती है। ईसाई धर्म में सर्वोच्च धार्मिक पद बिशप का था जो होते है धर्मक्षेत्र का सर्वोच्च धर्मगुरू और आपस में बराबर होते है। रोम का विशप भी अन्य बिशप भी अन्य बिश्यापों की भाँति ही था लेकिन कुछ ऐतिहासिक आर्थिक और राजनैतिक कारणों से रोम का बिशप अन्यभ ग्रहों के बिशपों की अपेक्षा क्रमशः अधिक शक्तिशाली होता गया। पहला रोम शुरूआत से ही रोमन साम्राज्य के कुलीन वर्ग के आवास की जगह थी, ईसाई धर्म में दीक्षित होने के बाद उन्होंने भारी मात्रा में उस चर्च को सम्पत्ति दी और भूमिका दान किया। रोम के बिशप ने ही ईसाई धर्म के प्रचार में महत्वपूर्ण योगदान दिया और सबसे बड़ी बात वहाँ ईसा के बारह शिष्य में शामिल और प्रिय सन्त पीटर निवास कर चुके थे इसलिये वह चर्च अत्यधिक पवित्र माना गया। दूसरी ओर रोमन साम्राज्य के पूर्वी और पश्चिमी में विभाजन के कारण भी चर्च का भी विभाजन हुआ। पूर्वी चर्च को यूनानी कैथोलिक चर्च तथा पश्चिमी को रोमन कैथोलिक चर्च कहा गया। रोमन कैथोलिक चर्च का मुख्यालय रोम बना और उसके प्रमुख के रूप में रोम के बिशप ने कार्यकार सम्भाला और अपने अधीन सभी चर्चो को निर्देश देने लगा और इस प्रकार रोम के बिश्याप का पद 'पोप' नामक संस्था में परिवर्तन हो गया।

तीसरा और महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि रोम के पोप के पद पर समय पर चुने जाने वाले बिशपों ने अपने व्यक्तित्व से इसे गौरवमयी और प्रभावशाली स्थिति देने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। चर्च तथा धर्म के भीतर सर्वोच्च स्थान प्राप्त करके उसने सांसारिक जगत के सर्वोच्च राजा के समक्ष कई मामलों में चुनौती प्रस्तुत शुरू की और चैदहवीं शताब्दी आते-आते यह चरम पर पहुंच गया।

चर्च और राज्य के बीच अथवा उसके प्रतिनिधि क्रमशः पोप और राजा के बीच प्रत्यक्ष संघर्ष की शुरूआत उस संतुलन के भंग होने के साथ हुई ईसाई धर्म के प्रचार और स्थापित होने के समय दोनों ओर से स्थापित किये गये थे। इस सन्तुलन का प्रतिनिधि सिद्धान्त दो तलवारों का सिद्धान्त था। इस

सिद्धान्त के प्रतिपादक पोप जिलेशियन प्रथम (492- 496) थे। रोमन सम्राट एनेस्टैमशियम को भेजे अपने पत्र में पोप जिलेशियन ने कहा कि धर्म के विषयों में सम्राट को कोई अधिकार प्राप्त नहीं होता। धर्म के विषय में सर्वाधिकार पोप का होता है। पोप और उसके अधीनस्थ ही धर्म के विषय में सर्वेपरि होता है। आध्यात्मिक मामले में राजा पोप के अधीन सर्वोपरि होता है। आध्यात्मिक मामले में राजा पोप के अधीन होता है इस क्षेत्र में पोप की सभी आज्ञाओं का पालन करना उसका कर्तव्य है। जबकि इसके विपरीत सांसारिक मामले में राजा और उसके अधीन राज्य अधिकारी सर्वोपरि होते है। चर्च को सांसारिक मामले में राजा के निर्देशों का पालन करना चाहिए। राजा अपने अधिकार क्षेत्र को स्वतंत्र रूप से प्राप्त करता है। पोप जिलशियस प्रथम ने सांसारिक और आध्यात्मिक क्षेत्र की तुलना दो तलवारों से की। उनका मानना था कि ये दो तलवारें दो भिन्न सत्ताओं क्रमशः राजा और पोप को मिली थी दोनों को मिली शक्ति ईश्वरीय विधान है। इसलिये दोनों को एक दूसरे का सम्मान करना चाहिये और उनकी आज्ञाओं का पालन करना चाहिये।

'दो तलवारों का सिद्धान्त'बहुत महत्वपूर्ण सिद्धान्त साबित हुआ पाँचवी शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक यह सिद्धान्त सैद्धान्तिक रूप से चर्च राज्य सम्बन्धों को संतुलित करने और परस्पर सम्मान करने के आधार को निर्मित करने में सफल रहा। किन्तु ऐसा नहीं था कि पोप अथवा राजा की ओर से प्रमुख पाने की कोशिश नहीं की गई। उपरी तौर पर एक-दूसरे के अधिकार क्षेत्र का सम्मान करते हुये भी समय≤ पर पोप तथा राजा दोनों ने एक-दूसरे को अपने प्रभाव में लेने का प्रयास किया।

जैसा पहले कहा गया पोप की संस्थाओं को शक्तिशाली और लोकप्रिय बनाने में कुछ पोपों के व्यक्तित्व का भी योगदान था। इससे राजाओं ने अपने अधिकार क्षेत्र में स्वयं को असुरक्षित महसूस किया। सिद्धान्त के विपरीत व्यवहार दोनों संस्थाओं में संघर्ष की शुरूआत इन्ही शताब्दियों में हुई। चर्च और पोप के पद को शक्तिशाली बनाने वाले कुछ प्रमुख पोप लिया प्रथम (440-61 ई0), पोप इन्नोसैण्टप प्रथम (402-417 ई) तथा पोप ग्रिगरी (590-604 ई) थे। जैसे पोप लियो प्रथम ने केवल चर्च के आन्तरिक दोषों को दूर किया। बल्कि बर्बर लोगों के आक्रमण से राम को तथा जर्मन वण्डालों के आक्रमण से रोमन लोगों को बचाया वही ग्रिगरी महान ने पोप की सर्वोच्चता का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। इससे चर्च को एक संगठित रूप प्राप्त हुआ। राजा के कार्यो में हस्तक्षेप करते हुये उसने लोम्बार्ड आक्रमणकारियों से संकट की स्थिति में स्वयं उनसे समझौता किया और यह विचार प्रस्तुत किया कि राजा जब राज्य को सुरक्षा देने में असफल हो जाता है तब पोप को स्वयं यह कार्य उठाना होता है।

उपरोक्त दोनों पोपों द्वारा आक्रमणकारियों के विरूद्ध किये गये काम को राज्य के कार्य या अधिकार क्षेत्र में हस्तक्षेप माना जा सकता है किन्तु यह आपात परिस्थिति में किया गया कृत्य था जिससे पोप का राजा के साथ प्रत्यक्ष संघर्ष इन आधारों पर सम्भव नहीं हुआ लेकिन पृष्ठभूमि अवश्य निर्मित होने लगा।

सन् 795-816 ई0 के बीच पोप लियो तृतीय पद पर आसीन हुये। उनके पद पर आसीन होने को लेकर विवाद हुआ जिसमें सम्राट शार्लिमन ने हस्तक्षेप किया और लियो तृतीय को पद पर स्थापित किया। इसके बदले सन् 800 ई0 के क्रिसमस के दिन पोप लियो तृतीय ने शर्लिमन को मुकुट पहनाया। और इसी घटना से जर्मन सम्राज्य का नाम बदलकर पवित्र रोमन साम्राज्य हो गया। बाद में राज्य-चर्च विवाद तीव्र होने पर चर्च समर्थकों ने इस घटना का अपने पक्ष में उपयोग भी किया।

पोप लियो तृतीय के बाद पोप ग्रिगरी सप्तम (1073-85 ई0) महत्वपूर्ण पोप सिद्ध हुये। उन्होंने नये बिशपों को नियुक्त किये जाने सम्बन्धी मानाभिषेक संस्कार को राजा के विरूद्ध जाकर पोप के द्वारा

किया जाने वाला कार्य घोषित किया। जर्मन राजा हेनरी चतुर्थ पोप ग्रिगरी सप्तम के विपरीत कार्य किया। जर्मन हेनरी चतुर्थ पोप ग्रिगरी सप्तम के विपरीत यह मानता था कि लौकिक जगत में भूमि पर अधिकार रखने के कारण धार्मिक अधिकरी बिशप भी एक सामन्तर की तरह है और इसलिये नये बिशप को नियुक्त करने का अधिकार राजा को है जबकि ग्रिगरी सप्तम इस अधिकर को पोप में निहित मानता था। ग्रिगरी सप्तम ने जस्टीशिया नाम सिद्धान्त प्रतिपादित किया। जिसमें पोप की सर्वोच्चता होने के साथ, पदों की बिक्री रोकने, चर्च के बिषय में राजा के किसी भी तरह के अधिकार की मनाही करने तथा राज्य या राजा द्वारा चर्च के नियमों में हस्तक्षेप पर उनको प्रतिबंधित करने की शक्ति का सिद्धान्त प्रतिपादित किया।

इसके अतिरिक्त पोप इन्नोसैण्ड तृतीय (1198-1216 ई0) पोप इन्नोसैण्ट चतुर्थ (1243-1254ई), पोप बोनीफेस अष्टम (1294-1303 ई0) तथा पोप जॉन बाईसवाँ (1316-1334 ई0) भी पोप की प्रतिष्ठा बढ़ाने वाले तथा सीधे राजाओं से संघर्ष करने वाले पोप रहे। इसके कारण चर्च और राज्य, के बीच संघर्ष की शुरूआत हुई और मध्यकालीन राजनीति में वह स्थायी विशेषता बन गई।

2.1.5.1 टकराव का प्रथम चरण: प्रमुख घटनाएँ

ग्यारहवी शताब्दी से संघर्ष ने स्पष्ट रूप लेना शुरू कर दिया था। विवाद की शुरूआत उस मानाभिषेक संस्कार (lnvestlture) से हुई जो राजा और बिशप दोनों से सम्बन्धित थी। नये बिशप के पद ग्रहण के पूर्व राजा उसे एक अंगूठी और छड़ी (Rlng and Stlck) प्रदान करता था और क्षेत्र बिशेष में स्थित चर्च के माध्यम से धार्मिक कार्य सम्भालने को कहता था। राजा का यह मानना था कि बिशप चर्च को प्राप्त होने वाली जागीरों के माध्यम से राजा का अधीनस्थ है इसलिये सामान्यतया राजा के पसन्द के व्यक्ति को ही बिशप चुना जाता था। राजा का यह मानना था कि बिशप चर्च को चर्च को प्राप्त होने वाली जागीरों के माध्यम से राजा का अधीनस्थ है इसलिये सामान्यतया राजा के पसन्द के व्यक्ति को ही बिशप चुना जाता था। लम्ब समय तक इसी परम्परा से ही बिशप चुना जाता था। ग्यारहवी शताब्दी में एक विशेष परिस्थिति पैदा हुआ उस समय तत्कालीन जर्मन सम्राट हेनरी चतुर्थ था और पोप के पद पर ग्रेगरी सप्तम जैसा शक्तिशाली पोप विद्यमान था। सन् 1075 को पोप ने बिशपों के चुनाव में राजाओं की भूमिका समाप्त करने का आदेश दिया।

सम्राट हेनरी ने पोप ग्रिगरी सप्तम के इस निर्णय का विरोध किया और स्वयं पोप को उसके पद से हटाने की कोशिश की किन्तु वह सफल नहीं हुआ। ग्रेगरी सप्तम ने हेनरी चतुर्थ धर्म से बाहर घोषित किया और कहा कि ईसाई सैनिक राजा की आज्ञा मानने के लिए बाध्य नहीं है इन परिस्थितियों से राजा हेनरी चतुर्थ की सत्ता के समक्ष व्यावहारिक चुनौती उपस्थित हो गई। इसका पटाक्षेप हेनरी द्वारा पोप से क्षमा माँगने के साथ हुई। राजा को बहुत अपमानित करके क्षमा दिया गया और ईसाई धर्म से उसका बहिष्कार वापस ले लिया गया।

इस अपमान का बदला हेनरी ने लिया। कुछ समय बाद उसने रोम पर आक्रमण किया और जीता तथा धर्म परिषद पर दबाव द्वारा ग्रेगरी सप्तम को धर्म-बहिष्कृत करा दिया और उसकी जगह क्लैमेण्ट तृतीय को पोप निर्वाचित कराया। ग्रेगरी सप्तम ने अपना पद पाने के लिये इटली के नार्मन लोगों की सहायता ली जिन्होंने रोम पर आक्रमण किया हेनरी चतुर्थ ने भागकर जर्मनी में शरण ली। किन्तु रोम में ग्रेगरी सप्तम भी अधिक दिनों तक बना नहीं रह सका। जल्द ही दोनों प्रतिद्वन्द्वियों की मृत्यु हो गई और संस्कार से सम्बन्धित प्रश्न अनसुलझा रह गया।

ग्रिगरी सप्तम और हेनरी की मृत्यु के बाद पोप पेश्कल द्वितीय तथा सम्राट हैनरी पंचम के बीच संधि हुई। इस संधि के विषय में स्वयं चर्च में मतभेद पैदा हो गये। अन्ततः 1122 ई0 में वर्म्स नामक स्थान पर एक संधि हुई जिसमें राजा को बिशप नियुक्त में उसे अपनी राय रखने का अधिकार दिया गया।

अगला गम्भीर विवाद पोप इन्नौसैण्ट तृतीय (1198-1216 ई0) के समय हुआ। कई मामलों में पोप इनोसैण्ट तृतीय अपने पूर्ववर्ती ग्रेगरी सप्तम से भी अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुआ। वह पोप को आध्यात्मिक और सांसारिक दोनों क्षेत्रों में सर्वोपरि मानता था। उसने पद पर रहते सात राजाओं को दण्डित किया और दो राजाओं को धर्म से बाहर किया। उसके समय यूरोप के सभी प्रमुख राजाओं ने अपने को पोप का सामन्त कहा। पुर्तगात, हंगरी, बुल्गारिया और कुछ प्रतिरोध के बाद इग्लैण्ड के राजा जॉन ने भी उसकी आधीनता स्वीकार और स्वयं को उनका सामन्त स्वीकार किया। इस प्रकार इन्नौसेण्ट तृतीय ने पोप के पद को सारे संतुलन भंग करते हुये सर्वोपरि बना दिया।

इस प्रकार बारहवीं शताब्दी के मध्य तक पोप तथा राजा के संघ में नयी प्रवृत्ति दिखाई दी। इस शताब्दी तक पोप की प्रभुता स्थापित हो गई। उसने सांसारिक मामलों में भी अपनी प्रभुता का दावा किया। पोप ग्रिगरी सप्तम तथा इन्नौसेण्ट तृतीय ने इसे व्यावहारिक रूप भी दिया। वे राजाओं को नियन्त्रित करने लगे इस प्रकार संतुलन पोप के पक्ष में हो गया। दर असल इन घटनाओं से पूर्व भी चर्च और उसके पदाधिकारी पूरी दृढता के साथ यह विश्वास करने लगे कि राजा भी चर्च के अधीन है। स्वयं राजा अपनी मुक्ति के लिये चर्च पर आश्रित होता है। इसलिये चर्च का राज्य पर और पोप का राजा पर प्रभुत्व दैवीय विधान है। इसका उल्लंघन नहीं किया जा सकता। चर्च के पदाधिकारी यह भी मानने और प्रचारित करने लगे कि ईसाई-राज्य में कानून को ईसाई धर्म को अनुकूल होना चाहिए। स्वयं चर्च के भीतर पोप का पद पहले से अधिक शक्तिशाली, सुव्यवस्थित और संगठित होकर राजा को चुनौती देने की स्थिति में आ गया था। इस प्रकार विवाद के प्रथम चरण में पोप राजा पर प्रमुख बनाने में सफल रहा।

2.1.5.2 द्वितीय चरण: प्रमुख घटनाएँ व परिणाम

लगभग सौ वर्षो की कृत्रिम शान्ति के बाद चैदहवीं शताब्दी में पुनः एक बार चर्च और राज्य के बीच विवाद की शुरूआत हुई। इसके पूर्व विवाद एक प्रकार से चर्च को प्राथमिकता देने अथवा उसके वर्चस्व की स्थिति पर समाप्त हुआ था। किन्तु इस बार के विवाद की परिणति भिन्न हुई। इस बीच परिस्थितियाँ परिवर्तित भी हुई थी। चैदहवीं शताब्दी आते-आते यूरोप की सामाजिक, सांस्कृतिक व राजनैतिक व्यवस्था काफी सीमा तक बदल गई थी। पहले सम्राट के शासन में विभिन्न राष्ट्रीयताओं के लोग एक साथ शासित होते थे किन्तु इस शताब्दी तक लोगों के बीच एक राष्ट्र एक राजा का विचार लोकप्रिय हो चुका था और वे एक भाषा, संस्कृति के साथ जुड़ी राजनीतिक सत्ता का समर्थन करने लगे जिससे राष्ट्रीय राजा का विचार और यथार्थ अस्तित्ववान हुआ।

तेरहवीं शताब्दी के अन्त तथा चैदहवीं शताब्दी के आरम्भिक दशक में पोप तथा फ्रांस के राजा के बीच पुनः विवाद पैदा हुआ। यह विवाद चर्च की सम्पति पर कर लगाने से हुई युद्ध के लिये फ्रांस के राजा फिलिप द फेयर को धन की आवश्यकता थी कर के मामले पर फ्रांस के पादरी वर्ग दो भागों में बंट गये। एक वर्ग की अपील पर तत्कालीन पोप बोनीफेस अष्टम (1294-1303ई0) ने एक आज्ञापत्र जारी करके कहा कि चर्च से आय में से राज्य को कर देने वाले पादरियों और राज्य के कर्मचारियों को धर्म बहिष्कृत कर दिया जायेगा। इसके बदले में फिलिप द फेयर (1285-1314ई0) ने फ्रांस से पोप को दिये जाने वाली सभी धनराशियों और चन्दे को रोक दिया।

चर्च से सम्बन्धित एक पदाधिकारी के विरूद्ध राज्य द्वारा मुकदमा चलाये जाने को लेकर पुनः विवाद पैदा हुआ और फिलिप ने रोम में ही पोप को बन्दी बना लिया। पोप बोनीफेस अष्टम की मृत्यु के बाद उसने अपने पसन्द के व्यक्ति बर्टेण्ड क्लेमैण्ट पंचम को पोप बनवाया और रोम की जगह फ्रांस के एवियान नाम जगह पर 70 वर्ष तक रखा। इसी को ईसाई धर्म इतिहास में पोप का बेबीलोनियन बन्दी काल कहा जाता है। इसका व्यापक प्रभाव हुआ। पोप की सत्ता कमजोर हुई, सांसारिक मामलों में राजा का प्रमुख स्थापित हुआ और फ्रांस के प्रभाव में रहने के कारण युरोप के अनय देशों में पोप के प्रति श्रद्धा भाव कम हुआ।

इसके बाद पोप जॉन बाईसवाँ (1316-1334 ई0) तथा जर्मन सम्राट बवेरियन लुईस चतुर्थ (1314-467) का विवाद सामने आया सन् 1314 ई0 में एक ही समय पर बवेरिया के लुईस चतुर्थ तथा आस्ट्रिया के फ्रेडरिक दोनों को अलग लोगों ने पवित्र रोमन सम्राट चुन लिया। तत्कालीन पोप ने लुईस के विरूद्ध फ्रेडरिक का समर्थन किया और उसका चर्च से बहिष्कार किया। किन्तु लुईस व्यवहार में शक्तिशाली था। उसने न केवल फ्रेडरिक को पराजित किया बल्कि पोप के विरूद्ध राजाओं के एक परिषद से निर्णय भी कराया कि सम्राट के निर्वाचन में पोप की कोई भूमिका नहीं है। सामान्यतया लोगों व चर्च से जुड़े लोगों ने भी लुईस का साथ दिया और इस प्रकार पोप की शक्ति एक बार फिर राज शक्ति की अपेक्षा कमजोर सिद्ध हुई।

इस प्रकार चैदहवीं शताब्दी में इन दोनों विवादों ने राजा की प्रभुता पोप के उपर स्थापित कर दी। इसके पीछे परिस्थितियों की भूमिका थी। सबसे बड़ी विशेषता यह कि चैदहवीं शताब्दी आते-आते सामाजिक स्तर पर ज्ञान-विज्ञान का क्षेत्र काफी व्यापक हो चुका था। लगातार फैलती राष्ट्रवादी चेतना इसके लिये जिम्मे◌ेदार थी ही साथ ही यूनान और रोम के समय के विवेकशील तथा बौद्धिक साहित्य का प्रसार एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा था। अरस्तू सहित सभी प्रसिद्ध यूनानी विचारकों की कृतियाँ सामने आई और पढ़े लिखे लोगों के बीच उनके प्रसार हुआ। अब धार्मिक साहित्य और मान्यताओं से आगे जाकर सोचने का एक ठोस आधार मिला। दूसरे राष्ट्र राजा एक दूसरे से साम्राज्य और प्रभाव विस्तार के लिये युद्ध करने लगे जो पहले सम्भव नहीं हुआ था। पहले सभी ईसाई अपने को बृहतर ईसाई समज का सदस्य मानते थे वे अब राष्ट्र के प्रति भक्ति रखने लगे। इससे पोप की सत्ता कमजोर हुई ओर जब कभी राजा ओर पोप के बीच संघर्ष पैदा हुआ। जनता ने अपने राजा का समर्थन किया। पोप की उग्रनीतियों को इस सदी में अपेक्षित समर्थन नहीं मिला। बुद्धिजीवियों का एक ऐसा वर्ग सामने आया जिसने सभी तर्को के साथ राजा का समर्थन किया। हाँलाकि चर्च के समर्थन में भी बुद्धिजीवी थे किन्तु राजा समर्थन बुद्धिजीवियों का प्रभाव तेजी से बढ़ा। इस विवाद से राजनीतिक विचारों को बहुत लाभ हुआ। दोनों के बीच संघर्ष के दौरान धार्मिक और राजनीतिक सत्ता के तथा राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी दैवीय तथा अनुबन्धात्मक सिद्धान्त लोकप्रिय हुये वही चर्च में सुधार की शुरूआत हुई। प्रतिनिधि के चुनाव के माध्यम से चर्च पर एक उपरी किस्म का लोकतांत्रिक दबाव बनाया गया। स्वयं राजा को एक निर्वाचक मण्डल द्वारा चयनित किये जाने की व्यवस्था भी अस्तित्व में आई। इससे लोगो के बीच राजनीति को लेकर रूचि बढी ओर धार्मिक सत्ता भी इससे प्रभावित हुई।

2.1.6 मध्ययुग की विशेषताएँ

मानवीय इतिहास में हर युग की अपीन मौलिक विशेषताएं होती है। इन्हीं के आधार पर कालभेद स्थापित होता है। मध्यकालीन यूरोप की राजनैतिक विशेषताओं को हम निम्नलिखित शीर्षकों में बाँट कर बता सकते है-

सार्वभौमिकता मध्यकालीन यूरोप के राजनीतिक चिन्तन और व्यवहार के निधारित करने वाली प्रमुख विशेषता थी। तत्कालीन यूरोप में सभी प्रकार की सत्ता इस अवधारणा में विश्वास करती थी। ईसाई जगत को एक मानने वाला चर्च ईसाईयों के सभी वर्गीकरणों से उपर और अलग हटकर एक साम्राज्य का सदस्य मानता थ। जिसे क्रिस्टेण्डम (Chrlstendom) कहा गया। दूसरी ओर सारे यूरोप को एक राजनीतिक सत्ता के अधीन रखने का आदर्श भी उपस्थित था। जिसमें प्रशासन द्वारा सांस्कूतिक भिन्नता, भाषायी अन्तर तथा सामाजिक विभेद को मान्यता नहीं दी जाती थी। यह आदर्श रोमन साम्राज्य के साथ जन्म लेना शुरू करता है। तथा चैदहवीं शताब्दी तक बना रहा जब तक राष्ट्र राज्य की अवधारणा सामने नहीं आ गयी।

सार्वभौमिकता का आदर्श धर्मिक और राजनीतिक दोनों प्रकार की सत्ता के लिये आदर्श बना रहा। इस आदर्श ने दोनों प्रकार की सत्ता के बीच संघर्ष को भी जन्म दिया। इन पर विश्वास के कारण सत्ताधारी विस्तार की ओर उन्मुख हुये और प्रतिद्वन्दिता को समाप्त करने के इच्छुक हुये। धार्मिक और राजनीतिक सत्ता के बीच संघर्ष को समाप्त करने के लिए ही पोप जिलेशियस प्रथम द्वारा 'दो तलवारों के सिद्धान्त'का प्रतिपादन किया गया। समय पर संतुलित करने वाले इस सिद्धान्त को भंग किया गया। जिससे पोप और राजा के बीच संघर्ष की स्थिति पैदा हुई। पोप और राजा के बीच अपनी शक्ति की सार्वभौमिकता का विचार मजबूती से स्थापित था। सार्वभौमिकता के महत्व को रेखांकित करते हुए प्रो0 अनेस्ट बार्कर ने लिखा है कि 'समस्त मध्ययुगीन विचारों की शान है उसकी सार्वभौमिकता यानी उसका विश्ववाद। यह एक ही सार्वभौमिक समाज को मानकर चलता है।

2.1.6.1 चर्च का महत्वपूर्ण स्थानः-

मध्ययुग की शुरूआत होने तक ईसाई धर्म पूरी तरह यूरोप में स्थापित हो चुका था। आगामी कुछ शताब्दियों ने ईसाई धर्म ने प्राचीन रोमन तथा अन्य धर्मो को पूरी तरह यूरोप से समाप्त कर दिया। ईसाई धर्म की मान्यता है कि एक ईसाई केवल ईश्वर और उनके पुत्र ईसा मसीह की पूजा कर सकता है। ईसाई धर्म ने अपने अनुयायी के सम्पूर्ण समर्पण की माँग की। जैसे-जैसे यूरोप में ईसाई धर्म प्रतिष्ठित होता गया वैसे-वैसे उसकी मान्यताएं कठोर होती गई। उसने लौकिक जीवन के उपर नैतिक और धार्मिक जीवन को वरीयता दी और अपने अनुयायियों से यह अपेक्षा की कि वह राज्य की जगह चर्च के अधीन अपना सार्वजनिक जीवन रखें। चर्च ने धार्मिक जीवन के साथ-साथ सामाजिक जीवन पर भी नियन्त्रण का दावा किया। अपनी वैकल्पिक प्रशासनिक और न्यायिक व्यवस्था विकसित की। इससे आगे बढ़कर वे राजनीतिक सत्ता पर भी प्रभुत्व का दावा करने लगे। जिसका परिणाम चर्च राज्य संघर्ष के रूप में सामने आया। इसमें कई उतार-चढाव और किन्तु मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन में चर्च का महत्व अन्त तक बना रहा। अपन प्रभुत्व के काल में उसने सामान्य ईसाई हीन ही राजाओं को भी मोक्ष के लिये स्वयं पर आश्रित होने का सिद्धान्त देकर अपनी प्रभुता स्थापित की। उसका संघर्ष राजनीतिक सत्ता से हुई अपनी पराजय के पूर्व वह पूरे आठ वर्षो तक प्रभावशाली संस्था बना रहा।

2.1.6.2 राजसत्ता की उपस्थिति

यूरोप के मध्य काल को अन्धकार युग कहा जाता है। यह युग ईसाई धर्म क वर्चस्व का युग था। रोमन सम्राट कॉन्सटेन्टीन (307-337ई0) द्वारा ईसाई धर्म राजकीय धर्म के रूप में स्वीकार करने तथा उसके बाद थीयोडोसियस द्वारा एक मात्र धर्म घोषित करने के बाद यूरोप में राज्य सत्ता के समान्तर केवल धार्मिक सत्ता बन गई। राज्य सत्ता सदैव से उपस्थित रही और प्रभावशाली रही। अपनी शक्ति की चरम अवस्था में चर्च ने राज्य की ही शक्ति को कम करने, उसे हस्तगत करने की कोशिश की। चर्च के साथ अपने विवादों के पहले चरण में राज्य कमजोर सिद्ध हुआ। किन्तु अन्ततः राज्य ने अपने राष्ट्रीय स्वरूप में चर्च को पराजित किया ओर उसे न केवल धार्मिक कृत्यों तक सीमित किया साथ ही स्वयं चर्च में सुधार करने के लिये अनुयायियों को मजबूर किया।

वास्तव में, मध्ययुग के लम्बे समय में राज्य का महत्व कभी कम नहीं हुआ। स्वयं कई-कई अवसरों पर राजाओं ने पोप पद पर नियुक्त होने वाले व्यक्तियों को निर्धारित किया। हाँलाकि इस संघर्ष में राज सत्ता को मूलभूत चरित्र और स्वरूप भी बदल गया। मध्ययुग के अन्त होते-होते राज्य शक्तिशली बनकर उभरा। चर्च राज्य संघर्ष के समय राज्य समर्थकों ने राज्य सत्ता के समर्थन के लिये विभिन्न प्रकार तर्क प्रतिपादित किया जो मुख्यत दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त या सामाजिक समझौते के सिद्धान्त से ही सम्बन्धित रहे।

2.1.6.3 राजतंत्रीय शासन

पूरे मध्ययुग में शासन का स्वरूप राजतंत्रीय ही रहा अर्थात राज्य राजाओं के द्वारा ही प्रशासित रहे। शासन के अन्य स्वरूप की कल्पना इस युग में नहीं की जा सकती थी। राजतंत्र को सर्वोच्च ओर धर्म सम्मत समझा गया। स्वयं ईसाई विचारकों ने इसे ईश्वर स्वीकृति माना। दो तलवारों के सिद्धान्त'राजतंत्र में ही प्रासंगिक बन सकता था। मध्ययुग में इस विचार को मान्यता मिली थी कि सामाजिक और राजनैतिक जीवन में सावयवी एकता होनी चाहिये और यह सत्ता किसी एक व्यक्ति में ही निहित होनी चाहिये।

हाँलाकि राजतंत्र को पूरी तरह निरंकुश शक्ति देने का सैद्धान्तिक रूप से समर्थन नहीं किया गया। राजतंत्र को भी कानून के अन्तर्गत माना गया। सामन्तवाद के प्रभाव में यह स्वीकार किया गया कि राजा को सभी कार्य कानून और परिषद की सहायता से करने चाहिए। राजा स्वेच्छाचारी नहीं हो सकता। उसके उपर तीसरा प्रतिबन्ध रीति-रिवाजों अर्थात परम्परा का था। इस प्रकार सैद्धान्तिक रूप से शक्तिशाली मानते हुए भी राजा को सीमित रूप से ही सम्प्रभु माना जाता था।

2.1.6.4 प्रतिनिधि शासन तथा लोकप्रिय सम्प्रभुता का सिद्धान्त

कुछ लोकप्रिय विवाद इस मान्यता को स्थापित करते दिखते है कि मध्यकालीन यूरोप में धार्मिक सत्ता के प्रतिनिधि के रूप में पोप तथा राजनीतिक सत्ता के प्रतिनिधि के रूप में राजा सर्वोच्च और निरंकुश थे। किन्तु व्यावहारिक स्तर पर स्थिति भिन्न थी। दोनों ही संस्थाएँ प्रतिनिधि मूलक संस्थाएं थी। शुरूआत से ही चर्च में चुनाव के माध्यम से परिषद चुनी जाती थी। वे शक्तिशाली पोप के समय यह निष्प्रभावी हो जाती। किन्तु पोप के स्वेच्छाचारी कार्यो के विरूद्ध आंदोलन में परिषद को पुनः महत्व मिलने लगा।

केन्द्रीय सत्ता के चुनाव की परम्परा यूरोप में सैनिक रूप से प्रभुत्वशाली ट्यूटन जाति से आई। वहाँ मुखिया का चुनाव एक प्रतिनिधि सभा के माध्यम से किया जाता था जर्मनी में यह निर्वाचन सिद्धांत

सदियों तक बना रहा। मध्ययुग में राजा से सम्न्धित तीन परिस्थितियाँ थी जिसने प्रतिनिधि शासन की परम्परा को स्थापित किया। यह परम्परा व्यापक रूप से मान्य थी कि राजा को सिंहासन उत्तराधिकर में मिलता था। साथ ही शासितों की स्वीकृति भी उसे प्राप्त करनी होती थी। तीसरा परम्परा यह विश्वास करना था कि ईश्वर की अनुकम्पा से राजा शासन करता था। इस प्रकार राजा को लौकिक समर्थन मिलना स्वाभाविक था। उत्तराधिकार, जनस्वीकृति और ईश्वर की अनुकम्पा का विचार तीनों अवधारणा एक दूसरे से घुली मिली थी और इनमें से किसी एक के भी अभाव में राजा प्रशासन नहीं कर सकता था। कुछ बड़े महत्वपूर्ण देशों उदाहणार्थ फ्रांस और इंग्लैण्ड में यह नाम मात्र में उपस्थित रहा किन्तु इन्हें छोड़कर सभी यूरोप में इसका व्यावहारिक रूप में प्रयोग होता रहा।

प्राचीन ट्यूटोनिक जाति की एक और महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। उन्होंने अपने प्रतिनिधियों से एक राष्ट्रीय सभा विकसित की। इसमें कबीले के सभी व्यक्ति शामिल होते थे। यही सभा कबीले के सरदार को चुनती थी और आवश्यकता पड़ने पर न्यायालय का भी कार्य करता था। इसके अलावा ट्यूटोनिको ने स्थानीय स्वशासन की संस्था विकसित की। इन्हीं संस्थाओं की आधारशिला पर यूरोप के सभी देशों में प्रतिनिधि संस्थाओं का विकास हुआ। स्थानीय और राष्ट्रीय संस्था का विकास इसी के गर्भ से हुआ मध्यकालीन यूरोप की यह एक विशिष्ट राजनीतिक विशेषता बन गई।

लोकप्रिय सम्प्र भुता के अन्तर्गत यह माना गया कि राजसत्ता का अन्तिम स्रोत जनता होती है। जनता के पास ही राजा को निर्वाचित करने की अन्तिम शक्ति होती है। हाँलाकि व्यावहारिक रूप से इसका कम प्रयोग हुआ लेकिन पूरे मध्ययुग में यह एक मान्य राजनीतिक सिद्धान्त के रूप में उपस्थित रहा।

2.1.6.5 सामन्तवादी व्यवस्था

मध्य्युग की राजनीतिक विशेषता और स्थिति को सामन्तवाद के अभाव में नहीं समझा जा सकता। सामन्तवाद इस काल में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था का आधार बना। वास्तव में यह भूमि व्यवस्था थी जिससे मध्ययुग के प्रत्येक व्यक्ति का जीवन प्रभावित होता था। साधारण किसान से लेकर राजा तक सामन्तवादी व्यवस्था के अंग रहे। कई अवसरों पर चर्च के पोप तथा राजा के बीच भूमि के स्वामित्व और हस्तान्तरण को लेकर ही विवाद उत्पन्न भी हुआ। इस सामन्तवादी व्यवस्था का उदय मध्ययुग में शार्लीमन साम्राज्य के विघटन के बाद हुआ। केन्द्रीय व्यवस्था टूट जाने के बाद यूरोप में क्षेत्रीय स्तर पर सामन्तों की सत्ता अस्तित्व में आई। सामन्त भू-स्वामी होते थे और उन्होंने एक श्रेणीबद्ध समाज को जन्म दिया। स्वयं सैद्धान्तिक रूप से वे राजा से भूमि पर अधिकार प्राप्त करते बदले में उसे सैनिक मदद देने का वादा करते। ये सामन्त इसी प्रकार की प्रतिबद्धता की माँग उन उप सामन्तों या जमीदारों से करते जिनके बीच वे अपने स्वामित्व वाली जमीन को बाँटते थे। इस प्रकार सामन्तवाद ने भूमि के वितरण और सैनिक सेवा पर आधारित एक श्रेणीबद्ध व्यवस्था को जन्म दिया।

सामन्तवादी व्यवस्था के शीर्ष पर राजा अवस्थित होता था। राजा भूमिका स्वामित्व कुछ शर्तो के साथ सामन्त और उप सामन्त को बाँटता था। ड्यूक का ऊन्ट, मार्गेन, आर्कबिशप, बिशप आदि सामन्तों में गिने जाते थे। वे नीचे काउन्ट और वाई काउन्ट को भूमि और उत्तरदायित्व को बाँट देते थे। इसके बाद वे अन्तिम रूप नाइट्स कहे जाने वाले छोटे सामन्तों में भूमि बाँट दी जाती थी। नाइट्स किसानों और अर्द्धदासों से जमीनी स्तर पर कार्य लेते थे।

सामन्तवाद ने अपने से जुड़ी राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्था पैदा की। राजनीतिक रूप से इस व्यवस्था ने लोगों की सुरक्षा दी। न्याय व्यवस्था की स्थापना की। इस व्यवस्था में राजनीतिक शक्ति का विकेन्द्रिकरण किया गया। इस व्यवस्था में सभी तरह की चीजे स्थानीय और व्यक्तिगत होती थी।

आर्थिक उत्तरदायित्व ओर अधिकार सामन्तवाद का एक अन्य पक्ष थी। सारी भूमि का स्वामी राजा को माना जाता था। यह राजा और अन्य लोगों के बीच स्वामी और सेवक का सम्बन्ध विकसित करता था। प्रत्येक सेवक अपने स्वामी के लिए बाध्य था विशेषकर भूमि प्रदान करने के बदले सैनिक सेवा की माँग की जाती थी।

सबसे निचले स्तर पर बैरन सामाजिक व्यवस्था संचालित करने वाला प्रमुख व्यक्ति होता था। वह व्यक्तियों की स्वतंत्रता, अधिकारों की रक्षा करता था। कार्य के बदले सुरक्षा और व्यवस्था का एक संविदात्मक विचार सामन्तवाद की प्रमुख विशेषता थी। सामन्तवाद ने संकट के समय रक्षा कवच का काम किया। उसने न केवल सामान्य प्रशासनिक व्यवस्था को बनाये रखा बल्कि बाहरी आक्रमण के समय अपने विभिन्न स्तरों अथवा श्रेणियों से सहायता लेकर संघर्ष करते थे। राष्ट्र राज्य के उदय और शक्तिशाली राजा के अस्तित्व में आने के बाद ही सामन्तवाद का पतन हो सका।

2.1.6.6 प्रकृति

पूरे मध्ययुग (पाँचवा शताब्दील से पंद्रहवीं शताब्दी तक) पर एक विंहगम दृष्टि डालने के बाद यह पता चलता है कि इस काल की अपीन मौलिक व विशिष्ट विशेषता थी। यह काल अपने पूर्ववर्ती यूनानी-रोमन चिन्तन से कई मायनों में भिन्न था। इसकी विशिष्टता के आधार तत्व पूर्व या पश्चात किसी समय काल में नहीं पाये गये। राजनीतिक गतिविधियों, क्षेत्र को लगातार धार्मिक सत्ता के साथ संघर्ष करना पड़ा। अपनी वास्तविक जगह को प्राप्त करने के लिये राजनीति और उनके अन्तर्गत कार्यकर्ताओं को गैर राजनीतिक क्षेत्र से लड़ाई लड़नी पड़ी। इतना ही नहीं मध्ययुग के अधिकांश हिस्से में धार्मिक सत्ता राजनीतिक सत्ता पर प्रभावी भी रही। जिसके कारण अधिकांश विद्वान यह दावा करते है मध्ययुग का चरित्र अराजनीतिक रहा। हाँलाकि एक संगठित समाज में ऐसा माना जाना सम्भव नहीं की है। किन्तु इतना अवश्य है कि धार्मिक सत्ता ने कई बार राजनीतिक शक्ति का प्रयोग किया अथवा राजनीतिक युग सिद्ध करने के लिये आलोचक कई तर्क देते है। सर्वप्रथम इस समय में राजनीति को स्वतंत्र कार्यक्षेत्र नहीं मिला। राजनीतिक समस्याओं के उपर किसी प्रकार का स्वतंत्र विचार-विमर्श अथवा चिन्तन सामने नही आया। उस समय के लेखकों ने अपने राजनीतिक विचारों को भी उस समय के लेखकों ने अपने राजनीतिक विचारों को भी बाइबिल या अन्य धार्मिक किताबों की संगति के व्यक्त करते थे। राजनीतिक चिन्तन या विचार उतने ही सामने आ जाते थे जिसने की स्वीकृति चर्च या धार्मिक सत्ता से मिलती थी।

इस कारण जो थोड़े राजनीतिक विचार सामने आये वे अनिश्चित, अपूर्ण और वैज्ञानिक निष्कर्षों से कट रहे। चर्च समर्थकों की पूरी हर कोशिश रही कि चर्च को हर तरीके से सर्वश्रेष्ठ घोषित किया जाये। इसक सर्वश्रेष्ठ उदाहरण थामस एक्वीनास के विचारों मं मिलता है। उन्होंने अरस्तू के राज्य सम्बन्धी चिन्तन को मान्यता देते हुये भी उसे धर्म के अधीन रखा। न केवल विषय वस्तु बल्कि अध्ययन भी पिछड़ी, व्यक्ति परक और अवैज्ञानिक थी। राजनीतिक विषयों पर अपनी मान्यताओं के अनुसार लिखा गया। जिसकी जमीनी यथार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसलिये इन विचारकों के निष्कर्ष भी राजनीति विज्ञान के अध्ययन को लाभ नहीं पहुंचा सके ओर न ही तत्कालीन समय की राजनीतिक स्थिति का वास्तविक चित्र प्रस्तुत कर सके।

पूरे मध्ययुग को निर्देशित करने का कार्य दो संस्थाएं चर्च और राज्य करती रहीं। दोनों संस्थायें सुव्यवस्थित थी और अपने भीतर श्रेठीक्रम शक्ति और उत्तराधिकार के आधार पर विकसित कर चुकी थी। सामाजिक स्तर पर सामन्तवाद, धार्मिक स्तर पर चर्च और राजनीतिक स्तर पर राज्य ने लोगों पर प्रशासन किया। किन्तु, मध्ययुग की प्रवृत्ति यह भी थी कि संस्थायें अपने क्षेत्र का अति व्यापन (वअमतसंचचपदह) करती थी। चर्च और राज्य दोनों में यह प्रवृत्ति लगातार बनी रही कि वे एक दूसरे के क्षेत्र को हस्तगत करें। एक ही संस्था तथा पदाधिकारी में विभिन्न प्रकार की भूमिका निभाने की प्रवृत्ति पाई जाती थी। एक प्रवृत्ति और दिखाई देती है। मध्ययुग में व्यक्ति की भूमिका पूर्व निर्धारित थी। एक किसान के रूप में अथवा ईसाई के रूप में उसके कार्य और स्थिति पूर्व निर्धारित थी। सामाजिक गतिशीलता का पूरी तरह अभाव था। राजनीतिक सत्ता में व्यक्ति की भागीदारी नगण्य थी। हाँलाकि सैद्धान्तिक रूप से इसका दावा किया गया था।

साधारणतः मध्ययुग आधुनिक युग के आरम्भ से पहले राजनीतिक व्यवस्था को विशेष मूल्यों तथा तरीके से संचालित करता रहा। उस व्यवस्था में अनुशासन बनाये रखने और सामाजिक जीवन को दिशा प्रदान की। लगभग हजार वर्षो तक इस व्यवस्था ने मानव जीवन को एक दिशा दी और सामाजिक विघटन से बचाये रखा हाँलाकि उसके बौद्धिकता और प्रगति शीतलता अपने पूर्ववर्ती रोमन और यूनानी चिन्तन व सभ्यता के सापेक्ष कम ही थी।

2.1.7 पाठसार/सारांश

मध्ययुग की धार्मिक और राजनीतिक सत्ता को उपस्थिति, संघर्ष तथा समन्वय ने मानव जीवन को एक दिशा दी। यह दिशा जनोन्मुखी ने होकर शासन ओर प्राधिकार के उपरी कर्ताओं पर केन्द्रित थी। चर्च और राज्य का सम्बन्ध इसी मध्ययुग में साम्यावस्था प्राप्त करने क लगातार कोशिश करते रहे। दोनों पक्षों का दावा अन्ततः जनसमर्थन पर आधारित था किन्तु प्रत्यक्षतः वह शक्ति आधारित राजनीति का प्रतीक बना। प्रारम्भिक चरण में चर्च ने राज सत्ता के साथ समन्यव, सहयोग की नीति अपनाई जो पोप जिलेशियस प्रथम द्वारा 'दो तलवारों सिद्धान्त' के रूप में प्रकट हुआ। किन्तु पोप के शक्तिशाली होने के साथ साथ यह मान्यता स्थापित होने लगी कि राजा को भी मोक्ष के लिये चर्च के प्रसाद अथवा संरक्षण की आवश्यकता होती है इसलिये राजा पोप के अधीन है। पोप ग्रेगरी सप्तम ने अपने 'जस्टीहशिया' सिद्धान्त के द्वारा पोप तथा चर्च की शक्ति व स्थिति को और अधिक स्पष्ट करने की कोशिश की। जिसमें वह काफी सीमा तक सफल भी रहा। किन्तु ग्यारहवीं शताब्दी से पंद्रहवी शताब्दी के बीच धरातल पर हुये परिवर्तनों नयी वैज्ञानिक खोजों, राष्ट्रीय राज्य के उदय, सामन्तवाद के पतन से राजाकीशक्ति मजबूत हुई। आखिरकार राजा ने पोप को विभिन्न मुद्दों पर पराजित करते हुये अपने अधिकार क्षेत्र में सार्वभौमिक प्रभुत्वत की संकल्पना को स्थापित किया। इस युग में भी आधुनिक समय की अपरिहार्य विशेषता बनने वाली जनप्रतिधित्व के विचार ने लोगों के बीच बीज रूप में जमना शुरू किया। पोप और चर्च की अलोतंत्रिक और कुछ सीमा तक अमानवीय व्यवस्था के विरूद्ध विद्रोह हुआ और उसके सदस्य आन्तरिक सुधार के प्रति प्रतिबद्ध हुये। दूसरी ओर राजनीतिक सत्ता को भी जनता की सहमति और वैधता प्राप्त करने के लिए तर्क निर्मित करने के रूप में लोकप्रिय हुआ। अपनी नकारात्मकता के बावजूद मध्ययुग की राजनीतिक संस्थाओं ने लोगों के जीवन को सभ्य तथा गतिशील बनाये रखने में पूरा योगदान दिया।

2.1.8 अभ्यास/बोध प्रश्न (बहुविकल्पीय, लघुउत्तरी तथा दीर्घउत्तरी)

2.1.8.1 बहुविकल्पीय प्रश्न

1. रोमन लोगों ने कितने प्रकार के कानूनों को प्रस्तुत किया?
   (A) एक (B) दो (C) तीन(D) चार
2. इनमें से कौन रोमन विचारक नहीं है?
   (A) अरस्तू (B) पॉलिबियस (C) सिसरो (D) सेनेका
3. किस रोमन सम्राट ने सबसे पहले ईसाई धर्म अपनाया?
   (A) थिरीयोडोसियस (B) कॉन्सटैन्टीन (C) नीरो (D) डायोक्लेशियन
4. 'दो तलवारों का सिद्धान्त' किसने प्रतिपादित किया?
   (A) पोप ग्रिगेरी सप्तम (B) पोप बोनाफेस अष्टम
   (C) लियो तृतीय (D) पोप जिलेशियस प्रथम
5. फ्रांसीसी राजा फिलिप द फेयर का विवाद किससे हुआ?
   (A) पोप बेनीफेस अष्टम (B) पोप जिलेशियस प्रथम
   (C) लियो तृतीय (D) इन्नौसेण्ट तृतीय

2.1.8.2 लघुउत्तरीय प्रश्न

1. दो तलवारों का सिद्धान्त क्या है?
2. ईसाई धर्म की उत्पत्ति के समय रोम की क्या परिस्थिति थी?
3. प्रमुख रोमन विचारक कौन थे? उनकी क्या मान्यताएँ थी?
4. पोप ग्रिगेरी सप्तम तथा हेनरी चतुर्थ के बीच विवाद का क्या कारण था?
5. चर्च की शक्ति के पक्ष में प्रमुख तर्क क्या थे?

2.1.8.3 दीर्घउत्तरीय प्रश्न

1. रोमन साम्राज्य की राजनीतिक स्थिति कैसी थी? ईसाई धर्म के उदय के साथ उसकी स्थिति कैसे परिवर्तित हुई? विवेचना कीजिए?
2. चर्च-राज्य विवाद की पृष्ठभूमि और उससे सम्बन्धित घटनाओं की सविस्तार समीक्षा कजिए?

2.1.9 कठिन शब्दावली

1. क्रिस्टेन्डम: ऐसी अवधारणा जिसके अन्तर्गत यह माना जाता है कि सम्पूर्ण ईसाई समाज एक ही राज्य के सदस्य होते है। इसके लिये एक ही राज्य का निवासी होना जरूरी नहीं है। इसका प्रमुख पोप का माना जाता था। यह राज्यातीत राज्य है।
2. न्यू टेण्टामेंट: यह ईसाईयों का धर्मग्रन्थ है। यह यहूदियों के धर्मग्रन्थ 'टेण्टामेंट'से अलग है। इसे ईसामसीह की शिक्षाओं का संग्रहित करके प्रस्तुत किया गया।
3. मानाभिषेक: इस संस्कार के अन्तर्गत राजा अपने क्षेत्राधिकार में आने वाले चर्च क्षेत्र के सर्वोच्च अधिकारी अथवा बिशप की नियुक्ति करता था। इसके अन्तर्गत वह सांकेतिक रूप से बिशप या धर्मगुरू को मिट्टी का टुकड़ा या लकड़ी का टुकड़ा उसके मस्तक पर लगाता था। धर्मगुरू को भूमि पर वास्तविक रूप से प्रभावी घोषित करता था।

2.1.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. आर0डब्ल्यू0 कार्लाइल तथा ए0जे0 कार्लाइल (1974) पाश्चात्य मध्ययुगीन राजनीतिक सिद्धान्तों का इतिहास, भाग-एक, जयपुर, राजस्थान, हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर।
2. आर0डब्ल्यू0 कार्लाइल तथा ए0जे0 कार्लाइल (1974) पाश्चात्य मध्ययुगीन राजनीतिक सिद्धान्तों का इतिहास, भाग-दो, जयपुर, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर।
3. गुप्ता, पार्थसारथि, (2004), आधुनिक पश्चिम का उदय, दिल्ली, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
4. वर्मा, लाल बहादुर (1999) आधुनिक विश्व इतिहास की झलक, भाग-एक, इलाहाबाद अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद।
5. सूद ज्योति प्रसाद सूद (2002) आधुनिक राजनीतिक विचारों का इतिहास भाग दो, मेरठ, के0 नाथ एण्ड कम्पनी, मेरठ।

इकाई-2: टामस एक्वीनास के राजनीतिक विचार

इकाई की रूपरेखा

2.2.1 उद्देश्य कथन
2.2.2 प्रस्तावना
2.2.3 जीवन परिचय
2.2.4 पद्धति व कृतियाँ
2.2.5 वैचारिक पृष्ठभूमि
2.2.6 राजनीतिक विचार
2.2.6.1 राज्य सिद्धांत
2.2.6.2 शासन संबंधी विचार
2.2.6.3 चर्च-राज्य सबंध
2.2.7 विधि संबंधी विचार
2.2.7.1 शाश्वत कानून
2.2.7.2 प्राकृतिक कानून
2.2.7.3 दैविक कानून
2.2.7.4 मानवीय कानून
2.2.7.5 विश्लेषण
2.2.8 अन्य विचार
2.2.8.1 सम्पत्ति
2.2.8.2 दास प्रथा पर विचार
2.2.9 मध्ययुग का अरस्तू
2.2.9.1 विसंगतियाँ
2.2.10 योगदान
2.2.11 पाठसार/सारांश
2.2.12 अभ्यास प्रश्न/बोध प्रश्न (बहुविकल्पीय, लघुउत्तरीय तथा दीघउत्तरीय प्रश्न)
2.2.12.1 बहुविकल्पीय प्रश्न
2.2.12.2 लघुउत्तरीय प्रश्न
2.2.12.3 दीर्घउत्तरीय प्रश्न
2.2.13 कठिन शब्दावली
2.2.14 संदर्भ ग्रन्थ सूची

2.2.1 उद्देश्य कथन

1. टॉमस एक्वीनास के राजनीतिक विचारों द्वारा धार्मिक सत्ता के प्रतिनिधि के रूप में चर्च का समर्थन किया गया। इस पाठ का उद्देश्य एक्वीनास के चर्च के पक्ष में तर्कों को स्पष्ट करना है।
2. राज्य, चर्च-राज्य सम्बन्ध विशेषकर कानून के विषय में थामस एक्वीनस के विचार को समझकर समकालीन विधि संकल्पना से उसकी तुलना की जा सकेगी।
3. मध्ययुगीन समय में राजनीतिक विचारों और धार्मिक सत्ता की मान्यताओं में होने वाले बहस और विमर्श की संकल्पनात्मक समझ विकसित कर सकेंगे।

2.2.2 प्रस्तावना

थामस एक्वीनास मध्ययुगीन यूरोप की राजनीतिक चिन्तन धारा का महत्वपूर्ण विचारक है वह मूलतः धार्मिक विद्वान और चर्च की सर्वोपरि सत्ता का समर्थक था किन्तु उसने चर्च की सर्वोपरिता का तार्किक रूप से स्थापित करने के क्रम में राज्य के साथ चर्च के सम्बन्ध और इन दोनों संस्थाओं के सापेक्ष व्यक्ति की भूमिका के विषय में मौलिक विचार प्रस्तुत किए। थामस एक्वीनास का महत्व चर्च की शक्ति और महत्व को तर्क द्वारा प्रतिष्ठित करके चर्च के भीतर और बाहर से मिल रही चुनौतियों का जवाब दिया। विशेषकर राज्य शक्ति की सर्वोपरिता के समर्थक और इस्लाम के विद्वानों की ओर से की जा रही ईसाई मान्यताओं की आलोचना का प्रति उत्तर एक्वीनास ने दिया। इसी के क्रम में एक्वीनास के विचार विकसित हुये।

2.2.3 जीवन परिचय

सन्त टॉमस एक्वीनस तेरहवीं शताब्दी का महत्वपूर्ण विचारक था। एक्वीनास का जन्म नेपल्स वर्तमान इटली के एक्वीनो शहर में हुआ था। उसके परिवार का सम्बन्ध नेपल्स के राज परिवार से था। उसे बचपन से शैक्षणिक उपलब्धि हासिल करने के लिए प्रोत्साहित किया गया। हॉलाकि एक्वीनास की रूचि धर्म और उसके ग्रन्थों के अध्ययन की ओर हो गयी। जो परिवारको पसन्द नहीं था। उसने पेरिस में आध्यात्मिक नेता अल्बर्ट महान के निर्देशनमें धर्मशास्त्र, राजनीति और तर्कशास्त्र का अध्ययन किया। 1257 ई0 में उसे डाक्टर ऑफ थियोलोजी की उपाधि मिली। मृत्यु तक उसने विभिन्न धार्मिक विषयों पर ग्रथ लिखे। पोप सहित सभी धर्मगुरू एक्वीनस को ईसाई धर्म शास्त्र का उच्च कोटि का विद्वान मानते थे और विभिन्न मुद्दों पर उसकी सलाह लेते थे। एक्वीनास की मृत्यु भी तत्कालीन पोप ग्रिगरी द्वारा लियोस में आयोजित चर्च की सामान्य परिषद की बैठक में जाते हुये हुई। उसकी मृत्यु 45 वर्ष की अवस्था में 1274 ई0 में हुई।

2.2.4 पद्धति कृतियाँ

एक्वीनास धर्मशास्त्र का प्रतिष्ठित विद्वान रहा। वह ईसाई धर्म ग्रन्थों को सही मानकर अपने विचारों को प्रस्तुत करता रहा। उसकी पद्धति समन्वयात्मक थी। उसने निगमनात्मक पद्धति को भी अपनाया। एक्वीनास ने लगभग 30 ग्रन्थों की रचना की। उसका प्रमुख ग्रन्थ 'सम्मा थीयोलॉजिका (Somma Theologlca) विज्ञान, तर्क, दर्शन और धर्मशास्त्र को समन्वित करने के उद्देश्यव से लिखी गई और एक्वीनास के विचारो को सर्वश्रेष्ठ तरीके से प्रस्तुत करता है। इसके अलावा 'दि रूल ऑफ प्रिंसेज (The rool of prlnces) तथा सुम्मा कोन्ड्राजेंटाइल्सव (Summa contra Gentlles) भी उस के द्वारा

लिखी पुस्तक है। लेकिन सम्मा थियोलौजिका की तुलना में अन्यं ग्रंथ कमतर लगते है। यह पुस्तक विस्तृत विषयों को अपने में समेटता है।

2.2.5 वैचारिक पृष्ठभूमि

टॉमस एक्वीनास का प्रमुख योगदान राजनीतिक चिन्तन को ईसाई धर्म मान्यताओं के तर्क संगत क्रम में प्रस्तुत करना था। अपने अध्यापक अल्बर्ईट महान के साथ मिलकर उन्हों ने अरस्तू के विचारों को ईसाई धर्म की मान्यताओं के अनुकूल करने का कार्य किया। उसने स्कोन लैस्टिसिज्म एवं हेनीलिज्म का अरस्तू व सेण्टक ऑगास्टाइन के विचारों के साथ समन्वजय किया। वह ज्ञान और व्यवहार के क्षेत्र में एकता (Harmony) और अनुसार व्यवहार के स्तर पर ज्ञान के विशेषीकृत रूप में दिखाई देते है और दूसरे विषय से पर्यान्त भिन्नता रखते है किन्तु पूरे संसार में ज्ञान का स्वरूप मुख्यतः पिरामिड रूप में होता है और अपनी उच्चता और गम्भीरता में सारे ज्ञान दर्शन की शाखा मात्र सिद्ध होते है। यह पिरामिड अनेक विशिष्ट विषयों के मिलने से बना होता है। पिरामिड के सबसे ऊपर विवेक सम्मत दर्शन है। एक्वीनास अरस्तू की शिक्षाओं के साथ ईसाई धर्म की मान्यताओं का समन्वय करने के क्रम में विवेक से भी उपर धर्म तत्व की उपस्थिति मानता है। जिसका मूल तत्व श्रद्धा होता है। इस प्रकार वह विवेक और श्रद्धा के बीच संघर्ष का समाधान प्रस्तुत करता है। वह मनुष्यो के ज्ञान प्राप्ति को विवेक से शुरू करके श्रद्धा तत्व में पूर्ण हुआ मानता है। 'विज्ञान ओर दर्शन जिसकों शुरू करते है उसे धर्मशास्त्र पूर्ण करता है। लेकिन वह निरन्तरता को भंग नहीं करता है। श्रद्धा विवेक की सिद्धि है। वे दोनों मिलकर ज्ञान के मंदिर का निर्माण करते है। परन्तु कहीं भी आपस में संघर्ष नहीं करते और न ही एक दूसरे के विरूद्ध कार्य करते है।

मानव जीवन के अन्तिम उद्देश्य को निर्धारित करते हुये भी एक्वीनास उस समन्वयात्मक दृष्टि से ही कार्य करते है अरस्तू के अन्तिम लक्ष्य सम्बन्धी सिद्धांत को स्वीकार करते हुये वह लक्ष्य की विषय वस्तु का संशोधन करते है। एक्वीनास के अनुसार सांसारिक उपलब्धि और प्रगति हासिल करना मानव के लिये स्वाभाविक और स्वीकार्य है किन्तु उसका अन्तिम लक्ष्य सदैव आत्मा की मुक्ति होनी चाहिए। यह मनुष्य का सर्वोपरि लक्ष्य होना चाहिये जिसे धार्मिक जीवन व्यतीत करके ही प्राप्त किया जा सकता है। मनुष्य की मुक्ति विवेक परक चिन्तन तक सीमित रहकर नहीं हो सकती। ईश्वर की अनुकम्पा श्रद्धा तत्व की उपस्थिति से ही सम्भव है। यही मानव का अन्तिम उद्देश्य है। एक्वीनास का सम्पूर्ण राजनीतिक दर्शन इन्ही दोनों मान्यताओं के इर्द-गिर्द विकसित और प्रतिष्ठित हुआ।

2.2.6 राजनीतिक विचार:

एक्वीनास उद्देश्यता के सिद्धान्त में विश्वास करता था। यह उसके चिन्तन पर अरस्तू का प्रभाव जिसके अनुसार प्रकृति और मानवीय जगत की समस्त वस्तुए एक निश्चित उद्देश्य की ओर विकास करती है। उस पूर्ण निर्धारित उद्देश्य को प्राप्त करना ही उनके अस्तित्व का कारण होता है। अपने दर्शन को इस आधार भूत मान्यता के क्रम में एक्वीनास ने अपने राज्ये सम्बन्धी विचार प्रस्तुत किये।

2.2.6.1 राज्य सिद्धान्त

एक्वीनास का राज्य सम्बन्धी सिद्धान्त अरस्तू से प्रभावित है। साथ ही ईसाई मान्यता के अनुसार वह राज्य सिद्धान्त को अन्तिम परिणति देता है। एक्वीनास अरस्तू की यह बात स्वीकार करता है कि राज्य मानव स्वभाव का विस्तार है। वह मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्ति के कारण अस्तित्व में आता है। वह

इस ईसाई मान्यता को स्वीकार नहीं करता कि राज्य मनुष्य के पापों का प्रतिफल है। वह मानता था कि राज्य एक सकारात्मक संस्था है। इस प्रकार वह अरस्तू की मान्याताओं को स्वीकार करते हुये राज्य सम्बन्धी अपनी प्रस्थापना की शुरूआत करता है। वह यह भी स्वीकार करता है कि राज्य का अन्तिम उद्देश्य अच्छे जीवन की प्राप्ति है। किन्तु अच्छे जीवन की परिभाषा अरस्तू से भिन्न तरीके से वह कहता है। उसके अनुसार अच्छा जीवन केवल सांसारिक उपलब्धि को लक्ष्य बनाकर या उसे प्राप्त करके नहीं उपलब्ध हो सकता। मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य अपने आत्मा की मुक्ति है। यह मुक्ति ईसाई धर्म निर्देशो के अनुसार जीवन जीकर ही प्राप्त किया जा सकता है। अच्छे जीवन की परिभाषा वह ईसाई धर्म के अनुरूप करते हुये वह कहता है अच्छा जीवन अनुकम्पा से ही मिल सकता है। राज्य का कार्य भौतिक आवश्यकताओं से आगे बढकर आध्यामत्मिक जरूरतों को पूरा करना है। राज्य मात्र साधन है वह मनुष्य की भौतिक और आध्यात्मिक आवश्यकता की पूर्ति करता है। राज्य के भीतर रहकर व्यक्ति अपना सर्वागीण विकास कर सकता है। आध्यात्मिक विकास के बिना पूर्ण विकास सम्भव नहीं हो सकता। राज्य एक साधन की तरह इसमें मदद करता है। राज्य सकारात्मक संस्था है।

स्वयं राज्य का लक्य मनुष्य के जीवन को सफल बनाने में सहायता देना है। मनुष्य की आर्थिक गतिविधियों को नियमित करना, व्यवसाय का नियन्त्रण करना और एकांत और शान्ति बनाये रखना राज्य का कार्य होता है। राज्य अपने प्रजाजन के लिए अनुकूल परिस्थिति तैयार करने तथा उसकी निरन्तरता बनाये रखने के लिये जिम्मेदार होता है उसी के सहायता से से भौतिक और आध्यात्मिक उद्देश्य प्राप्त हो सकते है। वास्तव में एक्वीनास ने अपने राज्य संबंधी विचारों को यूनानी, रोमन और ईसाई धर्म की मान्यताओं को संश्लेषित करके प्रस्तुत किया।

2.2.6.2 शासन सम्बन्धी विचार

एक्वीनास ने शासन के विषय में विस्तृत रूप से अपना विचार व्यक्त किया वह शासक को शासन न्यासी मानता था। इसका प्रमुख कर्तव्य सारे समाज के हित में काम करना है। सामान्यतः हित की दृष्टि से शासन करना है। यह न्यासी शासन नैतिक मान दण्ड के अनुरूप शासन करके नागरिकों को उच्चतर उद्देश्यय प्राप्त करने में सहायता देता है। शासक नैतिक नियमों के अनुकूल शासन करके अच्छा शासक जो जनहित में शासन करने वाला बनता है जबकि इसके विपरीत आचरण करने वाला शासक निरंकुश कहा जा सकता है।

अरस्तू के निष्कंर्षो का समर्थन करते हुये एक्वीनास ने कहा कि सबके हित में शासन करने वाला अच्छा और स्वयं के हित के लिये कार्य करने वाला बुरा शासक होता है। अरस्तू के वर्गीकरण को भी एक्वीनास स्वीकार करता है राजतंत्र को सर्वश्रेष्ठ शासन प्रणाली मानता था। उसका तर्क था कि राजतंत्र के अन्तर्गत ही समाज को वांछनीय एकता की प्राप्ति हो सकती है। किन्तु राजा को सदैव थोडे से बुद्धिमान लोगों की सलाह के अनुसार ही शासन करना चाहिये। साथ ही उसे बहुसंख्यक लोगों की इच्छा और आवश्यकता को भी ध्यान में रखना चाहिए। एक प्रकार से उसने भी अरस्तू की भॉति मिश्रित संविधान का समर्थन किया। मिश्रित तरीके से राजा के नेतृत्व के किया गया शासन स्थायी और सभी के लिए कल्याणकारी होता है। राजतंत्र में ही राज्य में एकता, अनुशासन होता है और विकास सम्भव होता है। उसके अनुसार राजतंत्र में दोष भी उत्पंन्न, हो सकते है। इसके अन्तर्गत राजा या शासक सार्वजनिक हित में शासन न करके व्यक्तिगत में शासन करता है। एक्वीनास ने अत्याचारी शासक के विरोध विद्रोह का

समर्थन किया। एक्वीनास राजद्रोह (Sedltlon) का समर्थन नहीं करता है। किन्तु अत्याचारी शासक का विरोध किया जाना उचित मानता है।

2.2.6.3 चर्च-राज्य सम्बन्ध

चर्च और राज्या के बीच संतुलित सम्बन्ध का समर्थन करते हुये एक्वीनास कहता है कि मनुष्य के दो उद्देश्य पहला सांसारिक और दूसरा आध्यात्मिक होते है। दोनों परस्पर विरोधी नहीं है बल्कि एक दूसरे से सम्बन्ध और श्रेणीक्रम में होते है। मानव जीवन में प्रत्येक अपने जीवन को साधनों से सुखी बनाना चाहता है। दैनिक जीवन में प्रत्येक व्यक्ति सुख और सम्पन्नता चाहता है। राज्य इसमें सहायता करता है किन्तु राज्य का कार्य केवल दैनिक जीवन में सुविधा से सम्बन्धित नहीं है। राज्य की भूमिका आध्यात्मिक मुक्ति के सन्दर्भ में भी बनती है। वह ऐसी परिस्थिति बन सकता है जिसमें लोग मोक्ष प्राप्ति कर सके। किन्तु मोक्ष को सम्भव बनाना चर्च का कार्य है इसलिये राज्य को चर्च के निर्देशन में कार्य करना चाहिये।

हॉलाकि चर्च के निर्देशन में रहना राज्य के महत्व और भूमिका को कम करना नही है। दोनों प्रकार की शक्तियां को एक्वीनास महत्व प्रदान करता है। चर्च को राज्य के महत्व को स्वीकार करते हुये उसका निर्देशन करना चाहिए। हॉलाकि चर्च राज्य सम्बन्धों की व्याख्या करते हुये एक्वीनास कहता है कि राज्य शक्ति किसी की दशा में चर्च की उपेक्षा नहीं कर सकता। ऐसा करने पर चर्च को राजा हटा देना चाहिये। किन्तु समान परिस्थिति में वह राज्य के कार्य में चर्च के हस्तक्षेप का समर्थन नहीं था। वह मानता था कि राजा को अपनी शक्ति ईश्वर से प्राप्त होती है। यूरोप में राज्य शक्ति की उपस्थिति आवश्यक है क्यो कि इसक अभाव में पूरे यूरोप में अराजकता उत्पंन्न हो जायेगी।

सन्त टॉमस एक्वीनास अपने चिन्तन में कानून को महत्वपूर्ण स्थान देता था। उसके अनुसार शासक को दैव कानून के अनुकूल कार्य करना चाहिए। शासक कानून के प्रति नैतिक रूप से जिम्मेदार होता है। कानून के अनुसार कार्य करने वाला शासक अच्छा होता जबकि उसके विपरीत कार्य करने वाला शासक न्यायपूर्ण नहीं होता है ऐसे शासक को अन्यायी मानना चाहिये। अन्यायी शासक न केवल कानून का उल्लघंन शक्तियों के उपयोग में करता है बल्कि कभी-कभी वह राज शक्ति को भी अवैध तरीके से अर्जित करता है।

> विधि विरूद्ध शासन करने वाले शासक के विरूद्ध जनता को एकजुट होना चाहिये और उसे हटा देना चाहिए। जहाँ कानूनी व्यवस्था विद्यमान हो वहाँ अन्याय शाक को उसका प्रयोग करके और जहाँ इस प्रकार के प्रावधान न हो वहाँ जनता की सामूहिक कार्यवाही से हटाया जाना चाहिये। टॉमस एक्वीनास ने समाज को अन्यायी शासक हटाने का अधिकार देकर मध्ययुग में एक विशिष्ट विचार प्रस्तुत किया। ऐसी व्यवस्था संवैधानिक लोकतंत्र की विशेषता मानी जाती है। कानून सम्मत शासक को हटाने का विचार व्यक्त करने तथा जनता को इस सन्दर्भ में महत्वपूर्ण भूमिका देने के कारण लार्ड एक्टन ने सन्त थामस एक्वीनास को 'राजनीति का पहला व्हिग (The flrst whlg of polltlcs) घोषित किया था।

2.2.7 विधि सम्बन्धी विचार

एक्वीनास के चिन्तन में विधि सम्बन्धी विचार को महत्वपूर्ण माना जाता है। उसके विधि सम्बन्धी विचार पर यूनानी रोमन और ईसाई मान्यताओं का पर्याप्त प्रभाव दिखाई देता है। उसके कानून

सम्बन्धी विचार में मौलिकता के भी दर्शन होते है वह कानून की परिभाषा राजा अथवा उत्तरदायी व्यक्तित्व द्वारा लागू किया गया अध्यादेश मानता है जो सदैव लोकहित में होता है। एक्वीनास मानता है कि कानून में तीन विशेषताएँ होनी चाहिए। पहला उसे विवेक सम्मत होना चाहिये। दूसरा उसे सामान्य हित के लिए होना चाहिए तथा तीसरा उसे राजा या शासक द्वारा विधेयात्मक तरीके से लागू किया जाना चाहिए। वह कानून की सार्वभौमिक में विश्वास करता है। कानून ही व्यवस्था के लिये उत्तर दायी होता है। एक्वीनास ने कानून के चार स्तर या प्रकार बताए है।

2.2.7.1 शाश्वत कानून

शाश्वत कानून का प्रत्यक्ष सम्बन्ध ईश्वरीय विधान या विवेक से है। यह हर उस चीज से सम्बन्धित है जिसका निर्माण ईश्वर ने किया है। प्रत्येक सांसारिक वस्तु शाश्वत कानून के अधीन होता है। ईश्वरीय शक्ति एक नियमबद्ध योजना के अन्तर्गत के अधीन होता है। ईश्वरीय शक्ति एक नियमबद्ध योजना के अन्तर्गत में रहता है। उसी के अनुरूप जीवन जगत, जड़ और चेतन के विभिन्न स्तर और प्रकार संचालित होते है। मनुष्य इसको प्रत्यक्ष रूप से जॉन नहीं सकता। मनुष्य उसका सीमित रूप से आभास कर सकता है। यह आभास भी उसमें उपस्थित विवेक के कारण होता है। शाश्वत कानून विवेक की पूर्ण अभिव्यक्ति होने के कारण ही विवेकपूर्ण मनुष्य द्वारा आभाषित होती है किन्तु यह आभास भी पूर्ण नहीं हो सकता क्योंकि मनुष्यो की क्षमता सीमित है। इस कानून को पूर्ण रूप से ज्ञान केवल ईश्वर को होता। शाश्वत कानून प्राकृतिक कानून के माध्यम से व्यक्त होता है। प्राकृतिक कानून को समझा कर ही मनुष्य दैवीय कानून का अनुमान कर सकता है। अपने मूल स्वरूप में वह मनुष्य के लिये दुर्बोध है।

2.2.7.2. प्राकृतिक कानून

प्राकृतिक कानून को एक्वीनास दैवीय कानून का प्रकट रूप मानता है। शाश्वत कानून की समझा मानवीय बुद्धि की सीमा के बाहर होती है किन्तु जब वे प्राकृतिक कानून के माध्यम से व्यक्त होती है तब मनुष्य उसे आसानी से समझ सकते है। प्राकृतिक कानून को मनुष्य व अन्य प्राणी अपने सामान्य बुद्धि की सहायता से जॉन सकते है। यह वैश्विक होते है तथा सभी प्राणियों पर एक समान रूप से लोगू होते है। प्राकृतिक कानून को शाश्वत कानून के भीतर विवेक की सहायता से नैतिक नियमों के रूप में पहचाना जाता है। समय के अनुसार प्राकृतिक कानून की बदल सकते है। लेकिन उसके मूल प्रवृति में परिवर्तन नहीं होता है।

प्राकृतिक कानून प्राणियों के जीवन की आधारभूत तरीके से निर्धारित करते है। आत्मरक्षा की प्रवृति, परिवार बनाने, सामाजिकता, सत्य जॉनने की प्रवृति बुराई का त्याग, अच्छे बुरे का ज्ञान रखना और उसके प्रति सचेत रहना इत्यादि प्राकृतिक कानून के अंश होते है। इन्हीं के माध्यम से ईश्वर प्राणी जगत को नियन्त्रित करता है। इसको मानवीय बुद्धि विवेक द्वारा जाना जा सकता है।

2.2.7.3 दैविक कानून

प्राकृतिक कानून और दैवीय कानून में अन्तर करते हुये एक्वीनास कहते है कि दैवीय कानून का विशेष परिस्थिति और विशेषज्ञ व्यक्तियों द्वारा बोध किया जाता है। यह कानून मानव बुद्धि कोई ईश्वरीय सत्ता प्रदान करती है यह पूरा स्पष्ट और मानवीय समझ की सीमा में होता है। विभिन्न धर्म ग्रन्थों में दैविक कानून ही उद्धृत होता है। इसे पढकर या जॉनकर व्यक्ति अपने आचरण को नियमित करता था और ईश्वरीय इच्छा के अनुसार बनाता है। टामस एक्वीनास यह मानता है कि प्राकृतिक कानून मानव जीवन के

लिये मूलभूत सिद्धान्त या नियम सृजित करते है किन्तु मानवीय जीवन के लिये वही पर्याप्त नहीं होता। मानव मोक्ष के लिये दैवी कानून बहुत आवश्यक होता है। इस कानून को ईश्वरीय कृपा से ही प्राप्त किया जा सकता है। ईसाई इस्लाम या हिन्दू धर्म के विभिन्न धर्म ग्रन्थ और उसमें वर्णित नियम दैवीय कानून का ही उदाहरण है।

यह दैविक कानून मनुष्य के जीवन के अन्तिम उद्देश्य और उसके क्रम में आन्तरिक अनुशासन को निर्धारित करता है। इसका सम्बन्धी मनुष्य के आन्तरिक जगत थे है ओर श्रद्धा का विषय है। इसमें तथ्यात्मकता नहीं होती है। दैविक कानून वाध्य तथा आन्तरिक आचरण के निर्देश है जिसका पालन व्यक्ति उनके प्रति श्रद्धा के कारण करता है। इनके उल्लंघन पर दण्ड देना दैवीय इच्छा का विषय होता है।

2.2.7.4 मानवीय कानून

कानूनों के वर्गीकरण में यह सबसे नीचे आता है। मानवीय कानून का विषय मनुष्यों के सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था को नियमित करता है। इस प्रकार के कानून को मनुष्य अपने स्वयं के विवेक द्वारा नकारात्मक प्रवृतियों को रोकने और समाप्त करने के लिये बनाता है। इस प्रकार के कानून अन्य कानूनों से अलग केवल मानव के लिये बनते है इस प्रकार के कानून दार्शनिक स्तर पर प्राकृतिक कानून से निकलते है किन्तु लागू तभी होते है जब राज्य की बाध्यकारी शक्ति का समर्थन इसके पीछे होता है। मानवीय कानूनों को विवेक सम्मत भी होना होता है।

कानून बनाने और लागू करने वाला शासक मनमर्जी से इसे बना नहीं सकता। उसे विवेक सम्मत तरीके से तथा प्राकृतिक कानून की संगति देकर ही मानवीय कानून बनाने चाहिए। लेकिन यह कानून केवल मानव के दैनिक जीवन से सम्बन्धित होता है। राज्य माध्यमिक विषय में कानून को न्यायसंगत होना चाहिए। उस सत्ता को भी न्याय संगत होना चाहिये जो कानून को बनाता है। कानून आधार पर न्यायपूर्ण तथा अन्यायी शासक का भेद किया जा सकता है। अन्यायपूर्ण कानून मनुष्य के लिये बाध्यकारी नहीं होते।

एक्वीनास ने मानवीय कानून का 'विवेक का अध्यादेश' कहकर उसे प्रतिष्ठा प्रदान की है किन्तु उसकी सीमा मानवीय क्रिया-कलाप तक सीमित कर दी है।

2.2.7.5 विश्लेषण:

एक्वीनास ने कानून के विषय में विस्तृत रूप से अपने विचार व्यक्त किये। इसमें अपने समकालीन ओर पूर्ववर्ती कानून सम्बन्धी धारणाओं का कई धारणाओं का समन्वय किया। किन्तु ईसाई मान्यताओं को तार्किक रूप से स्थापित करने की उसकी इच्छा इस विश्लेषण पर हावी रही। रोमन के अनुसार कानून को शासक द्वारा घोषित किया जाना आवश्यक है। एक्वीनास ने इस विचार को स्वीकार किया। स्टोइकों के अनुसार उसने माना कि कानून का आधार विवेक है और कानून को प्राकृतिक विधि के अनुरूप मानना अरस्तूवादियों के अनुसार ही है। इस प्रकार कानून के विषय में अलग अलग अवधारणाओं को समन्वित करके प्रस्तुत करने के कारण एक्वीनास को कानून के विषय में समन्वयवादी कहा जाता है। किन्तु यह भी यथार्थ है कि एक्वीनास ने विधि सम्बन्धी पूर्ववर्ती और समकालीन विचारों को बिल्कुल नई व्याख्या के साथ मौलिक रूप से व्याख्यायित कर प्रस्तुत किया।

2.2.8 अन्य विचार

सन्त थामस एक्वीनास का राजनीतिक विचारों के क्षेत्रों में महत्वपूर्ण विचार राज्य शासक ओर उसके कार्यक्षेत्र की व्याख्या तथा कानून के वर्गीकरण के क्षेत्र में है किन्तु इसके साथ ही उसने तत्कालीन समय के महत्वपूर्ण विषयों पर भी अपने विचार व्यक्त किये।

2.2.8.1 सम्पत्ति

एक्वीनास के अनुसार सम्पति में सामूहिकता का गुण अन्तर्निहित मानता है। मनुष्य उपलब्ध संसाधन का विवेकपूर्ण प्रयोग करके इसे निजी सम्पत्ति का रूप देता है। एक सभा समाज में विधि व्यवस्था का अनिवार्य सम्बन्धी सम्पत्ति के साथ स्थापित किया जाता है। मानवीय कानून इसे साथ सम्बन्धित होता है। सम्पत्ति की स्वीकृति प्राकृतिक कानून से प्राप्त है।

सम्पत्ति को लेकर एक्वीनास एक दुविधा का सामना भी करता है। ईसाई मान्यता सम्पत्ति के लिये नकारात्मक होती थी किन्तु अरस्तू के विचार से प्रभावित होकर वह सम्पति के सार्वजनिक हित में प्रयोग का समर्थक था। इसलिये उसने विचार दिया कि चर्च या पोप के स्वामित्व में रहकर सम्पति का उद्देश्य निजी हित न होकर सार्वजनिक हित होता है इसलिये सम्पति अच्छी है क्योंकि इसके माध्यम से चर्च सार्वजनिक हित करता है। हॉलाकि सम्पति की अधिकतम पाप विचार पैदा करती है। सीमित अर्थो में ही उसने सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार का समर्थन भी किया।

2.2.8.2 दास प्रथा पर विचार

एक्वीनास दासता का समर्थन अरस्तू की विभिन्न तर्क दिये। वह दासता को दैवीय विधान के अनुरूप मानता था और उन्होंने विचार दिया कि दासता मनुष्य के पाप के कारण होती है। पूर्व जन्म में किये गये पापों के कारण व्यक्ति दास के रूप में जन्म लेता है। अरस्तू के तर्क को आगे बढाते हुये वह दासता को प्राकृतिक की जगह दैवीय मानने का तर्क प्रस्तुत करता है। उसके अनुसार दास प्रथा से कुछ लाभ भी होते है। दास बनने के भय से सैनिक अपने कर्तव्य को अच्छी तरह निभाते है। इस प्रकार एक्वीनास के दासता सम्बन्धी विचार ईसाई धर्म विचारकों और अरस्तू के विचार के समन्वय के रूप में सामने आते है।

2.2.9 मध्ययुग का अरस्तू

फास्टर का कहना है कि मध्ययुग के सम्पूर्ण विचार का प्रतिनिधित्व करता है। फास्टर का यह कहना उचित भी है क्योंकि उसके राजनीतिक विचारों में उस युग में अस्तित्ववान सभी राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक धाराओं का प्रतिनिधित्व देखा जाता हैं एक्वीनास ने सम्पूर्ण ज्ञान की तुलना एक पिरामिड के रूप में की, जिसमें दर्शन को शीर्ष पर स्थान दिया गया है। उसका मानना था कि धर्म और दर्शन, बुद्धि और विवेक तथा श्रद्धा और विश्वास में कोई विरोध नहीं पाया जाता है। विज्ञान और दर्शन द्वारा अपनाई पद्धति को पूर्णता धर्म द्वारा प्राप्त होती है। यह एक्वीनास की मौलिक विशेषता थी कि उसने अपने विचार में यूनानी, रोमन और मध्ययुगीन धार्मिक विचारों का समन्वय किया।

मैक्सी ने एक्वीनास को मध्ययुग का अरस्तू कहा है। एक्वीनास का दर्शन काफी सीमा तक अरस्तू से प्रभावित था। उसने अरस्तू से अपने दर्शन की मूल प्रस्थापनाएं थी। अरस्तू के समान एक्वीनास मानव समाज के महत्व को स्वीकार करता है। वह कहता है कि मानव समाज सभी के लाभ के लिए

अस्तित्व में आता है और बना रहता है। किन्तु ईसाई धर्म की शिक्षाओं के अनुरूप वह यह भी मानता है कि मानव समाज से उपर दैवीय समाज होता है ठीक उसी प्रकार मानव के सत्य की सीमा है और मानव ज्ञान से उपर ईश्वरीय ज्ञान है। एक्वीनास का यह विचार अरस्तू के विचवार के अनुरूप ही है क्योंकि उसका भी यही मानना था कि सर्वोच्च ज्ञान ईश्वरीय ज्ञान है।

एक्वीनास अरस्तू की भाँति यह मानता है कि राज्य प्राकृतिक संस्था है और यह मानवीय स्वभाव के अनुरूप है। वह ईसाई धर्म की इस बात से सहमत नहीं है कि राज्य पापमय संस्था है और मनुष्य को राज्य के कार्यों में न्यूनतम भाग लेना चाहिए। इसके विपरीत वह राज्य को आवश्यक और अनिवार्य मानते उसे उस मोक्ष में सहायक संस्था के रूप में स्वीकार करता है। हाँलाकि उसका सारा जोर चर्च के महत्व को राज्य से अधिक सिद्ध करने पर है। यह एक्वीनास की आलोचना है कि वह राज्य के महतव को तटस्थ रूप से नहीं सिद्ध कर सका। अरस्तू ने अपने राज्य संबंधी विचार में धार्मिक संस्थाओं को महत्व नहीं दिया। एक्वीनास ने दोनों को महत्वपूर्ण मानते हुए राज्य पर चर्च को महत्ता दी है।

इसके अतिरिक्त अरस्तू की भाँति एक्वीनास ने राज्य और सरकार का वर्गीकरण भी किया है। एक्वीनास भी शासन को अच्छे और बुरे को स्वार्थ और पदार्थ के आधार पर बांटता है। वह मिरित शासन व्यवस्था का भी समर्थन अरस्तू की भाँति ही करता है। एक्वीनास द्वारा प्रस्तुत नैतिकता संबंधी विचार भी अरस्तू से प्रभावित है।

2.2.9.1 विसंगतियाँ

अरस्तू से प्रभावित होने के बाद भी एक्वीनास कई मायनों में अरस्तू से भिन्न है। सर्वप्रथम वह धर्म की महत्ता को मानवीय ज्ञान, विवेक और तर्क से उपर स्थान देता है। एक्वीनास अरस्तू की आलोचना इस बिन्दु पर करता है कि वह मानव का समिति लक्ष्य निर्धारित करता है जबकि मानव का अंतिम लक्ष्य आत्मा का मोक्ष है। यह केवल ईसाई धर्म के अनुकूल आचरण और ईश्वर के प्रसाद से ही सम्भव है। जिसकी चर्चा अरस्तू द्वारा नहीं की गई है। उसका मानना है कि अरस्तू के विचारों की सीमा है। वह मानव जीवन के लक्ष्य को उसकी सम्पूर्णता में देखने में असफल रहा। धर्म मानवीय जीवन को सम्पूर्णता प्रदान करता है। ईसाई धर्म मानव जीवन को सम्पूर्णता प्रदान करता है।

जबकि अरस्तू सामाजिकता में मनुष्य की सम्पूर्णता देखता है। उसका राजनीतिक चिन्तन धर्म विरत है और मानव केन्द्रित है। इसकी संगति एक्वीनास के ईसाई धर्म प्रधान चिन्तन से नहीं बैठती है। ईसाई धर्म में राज्य एक पापमय संस्था के रूप में वर्णित है। हाँलाकि एक्वीनास राज्य को एक आवश्यक संस्था मानता था किन्तु अन्ततः उसे धर्म के नीचे से स्थान देता है। अरस्तू के दर्शन में यह सम्भव नहीं है। अरस्तू राज्य को सम्मानित संस्था मानता है। उसका मानना है कि सभी मनुष्यों के लिए राज्य की सदस्यता अनिवार्य है और राज्य के भीतर ही मनुष्य अपना सम्पूर्ण भौतिक और आध्यात्मिक विकास कर सकता है। अरस्तू राज्य को सर्वोच्च संस्था मानता है जबकि एक्वीनास के लिए चर्च की सदस्यता सर्वश्रेष्ठ है और राज्य चर्च के भीतर है इस प्रकार एक्वीनास पर अरस्तू का प्रभाव माना जा सकता है लेकिन एक्वीनास को अरस्तू के समकक्ष नहीं कहा जा सकता है।

2.2.10 योगदान

थामस एक्वीनास मध्य युग का महत्वपूर्ण विचारक है। उनका महत्व मध्ययुगीन विचारों और प्रवृतियों को विवेकपूर्ण तर्क से सशक्त करने के लिये है। जहाँ अन्य मध्ययुगीन विचारक श्रद्धा को प्रधानता देते हुये बाईबिल और अन्य ईसाई धर्म ग्रन्थों की मान्यताओं को परिवर्तन स्वीकार करते थे वही

एक्वीनास ने ईसाई धर्मदर्शन का समन्वय अरस्तू को विवेक परक परम्परा से कराने का प्रयास किया। वास्तव में एक्वीनास युग की मॉग के अनुरूप अपने विचार व्यक्त कर रहा था तेरहवीं शताब्दी तक अरस्तू की तमाम रचनाए प्रकाश में आ चुकी थी जो रोमन सभ्यता के शुरूआती काल से ही विलुप्त हो चुकी थी इन रचनाओं के प्रकाश में आने के बाद लोगों में विवेकवान ओर यथार्थ चिन्तन के प्रति आकर्षण पैदा हुआ। अपने विचारों से उन्होंने उस आलोचना का उत्तर भी दिया जो लगातार विवेक सम्पन्न हो रहे इस्लामिक धर्मशास्त्रियों की ओर से आ रही थी। इस्लाम और ईसाई धर्म प्रचारकों के बीच दार्शनिक स्तर पर भी संघर्ष हो रहा था। इसका प्रत्युत्तर ईसाई मान्यताओं को तर्क और विवेक सम्पन्न बना कर दिया गया।

केवल ईसाई कानून व्यवस्था मान कर स्थान पर एक्वीनास ने उसको विवेक सम्मत करने का प्रयास किया यह मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन में एक्वीनास को महत्वपूर्ण बना देती है। इसके साथ ही ज्ञान की विभिन्न विधाओं और अनुशासनों को संश्लेषित कर अपने विचार प्रस्तुत करने के कारण एक्वीनास को विद्वत्तावाद का महत्वपूर्ण विचारक समझा जाता है। दूसरी और एक्वीनास ने कानून सम्बन्धी विचारों को प्रस्तुत करते हुये न केवल ईसाई मान्यताओं बल्कि पूर्ववर्ती अरस्तु, स्टॉइक्स और मेनन अवधारणाओ का भी समन्वय किया। राज्य की व्याख्या एक स्वीकार्य संस्था के रूप में करते हुये उसने शासक को सम्पूर्ण समाज के न्यायी के रूप में प्रस्तुत किया। यह महत्वपूर्ण विचार था जिसने साधारण स्तर पर राज्य और राजा की प्रतिष्ठा को स्थापित किया। जनता को परिवर्तन की शक्ति देते हुये वह प्रजातांत्रिक व भावना व कानून शासन के अनुसार आगमन को संकेत देता है इसलिये लार्ड एक्टन ने उसे पहला ह्विग कहा। कानून की सर्वोच्चता स्थापित करते हुये एक्वीनास ने सीमित लोकतंत्र के उत्तरदायी पूर्ण शासन का विचार दिया। लोक कल्याण तथा स्थानीय प्रतिबद्धता को उसके चिन्तन में महत्व दिया गया हॉलाकि इन विचारों को व्यक्त करते हुये उसने ईसाई धर्म की सर्वोच्चता का विचार कभी नहीं छोड़ा। इसी कारण उसे ईसाई कृत अरस्तू (Chr|st|on|sed Ar|stotle) कहा जाता है।

2.2.11 पाठसार/सारांश

संत थॉमस एक्वीनास मध्ययुग का महत्वपूर्ण राजनीतिक विचारक है। एक्वीनास ने चर्च के पक्ष में समकालीन माँग के अनुरूप तर्क गढ़े और ये तर्क अरस्तू के राजनीतिक दर्शन और तर्क पद्धति का अनुसरण करते हुए प्रस्तुत किए गये थे। धर्मसत्ता और चर्च की सर्वोपरिता स्थापित करने के क्रम में एक्वीनास ने तर्क और विवेक को पर्याप्त महत्व दिया जो उसे विशिष्ट राजनीतिक चिंतक के रूप में स्थापित करता है। एक्वीनास ने मध्ययुग के सामान्य प्रचलित धारणा के विपरित राज्य के मध्यम से स्वीकार किया। अरस्तू की भाँति एक्वीनास भी राज्य को मानव स्वभाव का विस्तार मानता था। वह राज्य को एक सकारात्मक संस्था मानता है। वह अरस्तू की भाँति ही अच्छे जीवन के लिए राज्य को जरूरी संस्था मानता है। हाँलाकि वह पर्याप्त संस्था नहीं है। इसके लिए चर्च की सदस्यता अनिवार्य है। शासन को राज्य या शासन का न्यासी मानना एक्वीनास का दूसरा महत्वपूर्ण विचार था। जिसने मध्ययुग के विपरीत अपनी मौलिकता प्रदर्शित की। एक ईसाई विचारक के रूप में उसके यह विचार पूर्ववर्ती और समकालीन ईसाई विद्वानों से अलग थे। वह चर्च-राज्य संबंधों में संतुलन का हिमायती था किन्तु व्यवस्था के अन्तर्गत वह श्रेणीक्रम मानता था जिसमें वह राज्य को चर्च के नीचे स्थान देता था। वह मानता था कि राज्य की भूमिका केवल सांसारिक सुखों की व्यवस्था करना ही नहीं हैं बल्कि आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति में सहायता भी करना है।

एक्वीनास की मौलिकता उसके विधि संबंधी विचारों में स्पष्ट होती है। कानून का शाश्वत कानून, दैविक कानून, प्राकृतिक और मानवीय कानून में विभाजित किया। कानून का यह विभाजन सुनिश्चित और स्पष्ट अवधारणा के आधार पर किया गया। बाद में कानून की व्याख्या एक्वीनास की इस व्याख्या से प्रभावित रही है। हाँलाकि वह मध्ययुगीन प्रभावों से मुक्त नहीं हुआ किन्तु राज्य की महत्वपूर्ण भूमिका को रेखांकित किया। एक्वीनास के राजनीतिक चिंतन को समझे बिना हम मध्ययुग की स्थिर राजनीतिक प्रकृति और चर्च राज्य संबंध को उसमें निहित राजनीतिक मूल्यों के सन्दर्भ में नहीं समझ सकते। उसने ईसाई धर्म की शिक्षाओं का अरस्तू के राजनीतक चिन्तन के साथ सुन्दर समन्वय किया इसलिए उसे 'ईसाई कृत अरस्तू' और उसके राजनीतिक चिंतन को 'ईसाई अरस्तूवाद'भी कहा जाता है।

2.2.12 अभ्यास प्रश्न/बोध प्रश्न (बहुविकल्पीय, लघुउत्तरीय तथा दीर्घउत्तरीय प्रश्न)

2.2.12.1 बहुविकल्पीय प्रश्न

1. 'सुम्मा थियोलॉजिका'किसकी रचना है??
   (A) अरस्तू (B) थामस एक्वीनास
   (C) सेंट आगस्टान (D) मार्सिलियो ऑफ पडुआ
2. थामस एक्वीनास किसने प्रभावित थे?
   (A) प्लेटो (B) सिसरो (C) अरस्तू (D) स्टोइकवादियो से
3. एक्वीनास ने कानून को कितने भाग में बांटा?
   (A) एक (B) दो (C) तीन (D) चार
4. लार्ड एक्टन ने राजनीतिक का पहला व्हिग किसे कहा?
   (A) मार्सिलियो ऑफ पडुआ (B) सिसरो
   (C) अरस्तू (D) सेनेका
5. एक्वीनास कहाँ का रहने वाला था?
   (A) फ्रांस (B) इटली (C) ब्रिटेन (D) पोलैण्ड

2.2.12. लघुउत्तरी प्रश्न

1. एक्वीनास की तीन पुस्तकों के नाम बताइये?
2. धर्म राज्य के सम्बन्ध मे एक्वीनास के क्या विचार थे?
3. एक्वीनास को पहला व्हिग क्यों कहा जाता है?
4. सम्पत्ति के विषय में एक्वीनास के क्या विचार है?
5. दासता के सम्बन्ध में एक्वीनास क्या विचार रखता है?

2.2.12.3 दीर्घउत्तरीय प्रश्न

1. थामस एक्वीनास का जीवन परिचय देते हुए प्रमुख राजनीतिक विचार बताइये?
2. थामस एक्वीनास की विधि संबंधी अवधारणा क्या थी?
3. चर्च-राज्य सम्बन्धों के विषय में एक्वीनास के विचारों की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए?
4. 'एक्वीनास को मध्ययुग का अरस्तू क्यों कहा जाता है? इसकी समीक्षा कीजिए?

5. राजनीतिक चिंतन में थामस एक्वीनास के योगदान का वर्णन कीजिए?

2.2.13 कठिन शब्दावली

1. व्हिग - ब्रिटैन में अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में राजनीतिक दल से जुड़े ऐसे लोग व्हिग कहे जाते थे। जो राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन के पक्ष में होते थे। अमेरिकी संदर्भ में ऐसे लोगों को व्हिग कहा गया जो ब्रिटेन के विरूद्ध अमेरिकी क्रांति के समर्थक थे।
2. अध्यादेश - जब कानून बनाने वाली संस्था अस्तित्व में न हो, तब राज्याध्यक्ष द्वारा अपने आदेश से कानून का निर्माण अध्यादेश कहलाता है। इसकी प्रामणिकता और प्रभाव नियमित रूप से पारित कानून की भाँति ही होती है।

2.2.14 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. आर0डब्ल्यू0 कार्लाइल तथा ए0जे0 कार्लाइल (1974) पाश्चात्य मध्ययुगीन राजनीतिक सिद्धान्तों का इतिहास, भाग-एक, जयपुर, राजस्थान, हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर।
2. आर0डब्ल्यू0 कार्लाइल तथा ए0जे0 कार्लाइल (1974) पाश्चात्य मध्ययुगीन राजनीतिक सिद्धान्तों का इतिहास, भाग-दो, जयपुर, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर।
3. गुप्ता, पार्थसारथि, (2004), आधुनिक पश्चिम का उदय, दिल्ली, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
4. वर्मा, लाल बहादुर (1999) आधुनिक विश्व इतिहास की झलक, भाग-एक, इलाहाबाद अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद।
5. सूद ज्योति प्रसाद सूद (2002) आधुनिक राजनीतिक विचारों का इतिहास भाग दो के. नाथ एण्ड कम्पनी, मेरठ।

इकाई-4: मार्सीलियों ऑफ पेडुआ के राजनीतिक विचार

इकाई की रूपरेखा

2.3.1 उद्देश्य कथन
2.3.2 प्रस्तावना
2.3.3 जीवन परिचय
2.3.4 राज्य संबंधी विचार
2.3.5 राज्य में पादरी
2.3.6 चर्च-राज्य संबंध
2.3.7 विधि और विधायक संबंधी विचार
2.3.7.1 ईश्वरीय कानून
2.3.7.2 मानवीय कानून
2.3.7.3 विधि निर्माता की अवधारणा
2.3.8 चर्च और उसमें सुधार संबंधी विचार
2.3.9 कार्यपालिका संबंधी विचार
2.3.10 विवेचना
2.3.11 पाठसार/सारांश
2.3.12 अभ्यास प्रश्न/बोध प्रश्न (बहुविकल्पीय, लघुउत्तरीय तथा दीघउत्तरीय प्रश्न)
2.3.12.1 बहुविकल्पीय प्रश्न
2.3.12.2 लघुउत्तरीय प्रश्न
2.3.12.3 दीर्घउत्तरीय प्रश्न
2.3.13 संदर्भ ग्रन्थ सूची

2.3.1 उद्देश्य कथन

1. मध्ययुगीन यूरोप में चर्च और राज्य का संघर्ष सम्पूर्ण राजनीतिक चिन्तन के विकास की धुरी बना। राज्य की शानित के समर्थक के रूप में मार्सिलियों ऑफ पेडुआ के राजनीतिक विचार के तार्किक धरातल और ऐतिहासिक धरातल को जाना जा सकेगा।
2. मार्सिलियों के कानून, राज्य-चर्च सम्बन्ध तथा कार्यपालिका सम्बन्धी विचार की आधुनिक राज्य के विचार में योगदान व सीमाओं को जॉन सकेगा।
3. मार्सिलियों के विचार का राजनीतिक विचार परम्परा में योगदान को मूल्यांकित किया जा सकेगा।
4. जन सम्प्रभुता के विकास में मार्सिलियों के योगदान और प्रभाव को ऐतिहासिक सन्दर्भों में विश्लेषित किया जा सकेगा।

2.3.2 प्रस्तावना

मार्सिलियो ऑफ पडुआ मध्यकालीन यूरोप का महत्वपूर्ण राजनीतिक विचारक था। उसने तेरहवीं और चैदहवीं शताब्दी में चर्च और राज्य के बीच चले संघर्ष में राज्य और राजा का पक्ष लिया। राज्य के पक्ष में उसने चर्च और उसके संगठन की दुर्बलताओं को पहचाना और उस पर प्रहार किया। पोप जॉन बाईसवे के साथ के साथ संघर्ष में उसने लुईस ऑफ बवेरिया नामक शासक का समर्थन करते हुये अपने राजनीतिक विचार प्रस्तुत किये। उसने कहा कि राज्य को शक्तिशाली होना चाहिये। वह चर्च को राज्य के अधीन किये जाने का समर्थक था। अपने ग्रन्थ 'डिफेंसर पेसिस (Defensor Pacls) में उसने राज्य का स्वरूप, संगठन और लक्ष्य का विशद रूप से विवेचन किया। उसका चिन्तन अरस्तू से प्रभावित था। तार्किक रूप से उसने चर्च के भ्रष्ट और अराजक व्यवहार की निन्दा की और शान्ति अनुशासन का मूल एक सशक्त राज्य में माना। उसकी अन्य कृति में डिफेंसर माइनर (Defemcer Mlner) थी जिसे पर्वूवर्ती मुख्य कृति का ही विस्तार माना जा सकता है।

मार्सीलियों ऑफ पेडुआ ने मध्यकालीन प्रसिद्ध विवाद में चर्च के विरूद्ध राज्य का पक्ष लिया उसने अपने सिद्धांत का दार्शनिक आधार अरस्तू से ग्रहण किया। मार्सीलियो के विचार मध्ययुगीन राजनीति को समझने में महत्वपूर्ण अवदान देते है।

2.3.3 जीवन परिचय

मध्यकालीन यूरोप में समर्थक बुद्धिजीवियों में मार्सिलियों ऑफ पडुआ की प्रसिद्धि अन्य की अपेक्षा कही अधिक है। उसे मौलिक विचारक माना जाता है। मार्सिलियों का जन्म इटली के उत्तर पूर्व में स्थित पेडुआ नामक जगह में 1270 ई0 को हुआ था। सन् 1313 ई0 में उसे डाक्टर की उपाधि मिली। उसेन अपने सार्वजनिक जीवन में बहुत सी भूमिकाएं निभायी। विलियम ऑफ ओकम के साथ मित्रता के दौरान उसे राज्य और चर्च के सम्बन्ध में अपने विचार प्रस्तुत किये। वह अरस्तु के दार्शनिक चिन्तन से बहुत प्रभावित था और उसी की शैली और तरीके से अपने राजनीतिक विचार प्रस्तुत किए। मार्सिलियों का विचार था कि पोप को राजा के अधीन काम करना चाहिए। इसके विचारों को धर्म विरोधी मानकर पोप ने उन्हें धर्म से बहिष्कृत कर दिया। मार्सिलियों अपने विचारों पर आजीवन आडिग रहा। अपने समय के धर्मतन्त्र और उसके अनाचारी कार्यों से वैचारिक लड़ाई लड़ते हुए मार्सिलियों आ◌ॅफ पडुआ की मृत्यु सन् 1340 ई0 को हुई।

2.3.4 राज्य सम्बन्धी विचार

अपनी पुस्तक 'डिफेंसर पेसिस'के पहले भाग में उसने राज्य सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। वह राज्य को एक सजीव संगठन मानता था। उसने राज्य की तुलना किसी जीवित शरीर से की। जैसे शरीर विभिन्न अंगों या अवयवों का संयोजन होता है उसी प्रकार राज्य भी विभिन्न अवयवों से मिलकर बना होता है। मार्सीलियों के अनुसार राज्य का अस्तित्व किसान, शिल्पी, पादरी, अधिकारी और सैनिकों से मिलकर बनता है। ये सभी अलग-अलग काम करते है। सभी अंगों को सही तरह से कार्य करना होता है। इससे ही राज्य सफल होता है। अंगों के बीच संघर्ष बढने से राज्य में अराजकता उत्पन्न होती है। इससे राज्य अव्यवस्था की स्थिति में पहुँच जाता है।

राज्य के अंगों की अलग-अलग भूमिका है। किसान और शिल्पी भौतिक आवश्यकता की पूर्ति करते है। सैनिक रक्षा से, अधिकारी प्रशासनिक कार्यो के लिये तथा पादरी धर्म और पूजा अर्चना के लिये

होते है। मार्सीलियों ने ईसाई पादरियों की भूमिका को कानून व्यवस्था को लागू करने में सहायक माना है। वह लोगों को धर्म और सदाचार सीखा कर उन्हें संयमित रखते है। हॉलाकि उनका मुख्य कार्य आध्यात्मिक मुक्ति में सहायता करना है।

अरस्तू के दर्शन का अनुसरण करते हुये मार्सिलियो कहता है कि राज्य एक विकासशील संस्था है। वह आत्मनिर्भर संस्था भी है जहाँ व्यक्ति अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। अरस्तू के राजनीतिक दर्शन को पूरी तरह स्वीकार करते हुये वह मानता था, कि राज्य मानव आवश्यकताओं के कारण अस्तित्व में आया है और शुभ जीवन की प्राप्ति के लिये अस्तित्व वान है। हॉलाकि मार्सिलियों ने इस विचार को विकसित करते हुये कहा कि उत्तम जीवन लोक और परलोक दोनों से जुड़ा होता है। सामाजिक जीवन में ज्ञान और विवेक से तथा परलोक में मोक्ष ईश्वरीय ज्ञान से सम्भव होती है। यह ईसाई धर्म की शिक्षाओं के अनुरूप व्यवहार से ही हो सकता है।

राज्य सर्वोच्च, आत्मनिर्भर और सोदेश्य संस्था है। यह कानून की व्यवस्था करके, मानव जीवन की सामाजिक आर्थिक जरूरतों को पूरा करके प्रांसगिक बनता है। यह मानवीय जीवन को व्यवस्थित करता है और अपने अंगों के माध्यम से व्यक्ति की भौतिक, बौद्धिक धार्मिक और नैतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।

2.3.5 राज्य में पादरी वर्ग

राज्य के सावयवी संगठन में पादरी वर्ग का महत्वपूर्ण स्थान होता है। मार्सिलियों पादरी वर्ग को लेकर बहुत सतर्कता से विचार प्रस्तुत करता है। वह पादरी वर्ग के कार्यो और भूमिका का औचित्य मनुष्य के जीवन से स्थापित करता है। मनुष्य का उद्देश्य भौतिक और आध्यात्मिक जीवन में पूर्णता को प्राप्त करना है। आध्यात्मिक जीवन को पूर्णता अथवा मोक्ष पादरी वर्ग की सहायता से प्राप्त होती है। पादरियों का कार्य उन कार्यो को जॉनना तथा उनका उपदेश करना है जिनसे धर्म शास्त्रों के अनुसार नित्य मोक्ष प्राप्त करने के लिये और यातना से बचने के लिये विश्वास करना, करने योग्य अथवा वर्जित कृत्यों के बारे में बताना है। पादरियों का कार्य मनुष्य को मोक्ष के लिये तैयार करने से है। उसका जीवन विशेष कृत्य से जुड़ा हुआ। इसकी विशेषता यह है कि पादरी वर्ग का सीधा सम्बन्ध मानव के राज्य के अन्तर्गत व सामाजिक जीवन से नहीं है। इस वर्ग का सम्बन्ध भावी जीवन से मानना चाहिये।

पादरियों के उपर राज्य का नियन्त्रण होना चाहिये। मार्सिलियो पोप जिलेशियस प्रथम के दो तलवारों के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता था। वह पार्थिव जगत में दो प्रकार की समान्य शक्तियों को मान्यता देने का विरोधी था। पादरी वर्ग का राज्य के लिये महत्व इस कारण से है कि वे लोगों को गलत कार्यो की सजा का विधान बताकर और धर्मिक कार्यो के लाभ के साथ शान्तिप्रिय, अनुशासित और व्यवस्थित जीवन जीने के लिये प्रेरित कर सकते है।

2.3.6 चर्च-राज्य सम्बन्ध

मार्सिलियो की दृष्टि में चर्च राज्य के अधीन रहने वाली संस्थात है। वह चर्च को राज्य के एक विभाग की संज्ञा देता है। वह चर्च की स्वतंत्र स्थिति के लिये दिये जाने वाले तर्क के दार्शनिक आधारों पर प्रहार का अपने विचारों की प्रस्थापना करता है। वह पोप जिलेशियस प्रथम द्वारा प्रतिपादित दो तलवारों के सिद्धान्त का खण्ड न करता है जिसके अन्त्रगत यह माना जाता था कि ईश्वर ने पृथ्वी पर दो प्रकार की शक्तियों भौतिक और आध्यात्मिक के लिये दो संस्थाओं क्रमशः राजा और चर्च को नियुक्त किया है

स्वयं राजा को मुक्ति के लिये चर्च पर आश्रित होना बताया गया। मार्सिलियों ऑफ पडुआ इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता है। इस तर्क पर उसका दृष्टिकोण व्यावहारिक और विवेकपूर्ण था मार्सिलियों कहता है किसी समय एक दूसरे स्वतंत्र और सम्प्रभु दो भिन्न शक्तियों का एक साथ उपस्थित रहना समाज और राज्य में अराजकता अत्पन्न करता है। पूरे मध्य कालीन यूरोप का चर्च-राज्य संघर्ष हमें इसी प्रकार की शिक्षा देता है। चर्च का कार्य है धार्मिक मामले में अपने कर्तव्य का निर्वहन करना उसे सांसारिक विषय में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये।

चर्च को राज्ये के अधीन ही रहना चाहिए। चर्च को राज्य के अधीन ही रहना चाहिये। परस्पर वर्चस्व का दावा करने वाले संगठन अराजकता उत्पन्न करते है। मार्सिलियों इसके लिये इटली का उदाहरण प्रस्तुत करता है जहाँ चर्च और राज्य परस्पर संघर्षरत थे और अराजकता पैदा कर रहे थे। उसका स्पष्ट मानना था कि पोप को नियन्त्रित किया जाना चाहिये। वह चर्च का प्रधान अधिकारी पोप को मानते हुये भी अन्तिम रूप से चर्च की सामान्य सभा (General Councll) को निर्णायक संस्था बताया। उसके अनुसार इसी परिषद को धार्मिक क्रिया-कलाप और विनयिम से सम्बन्धी निर्णय करने का अन्तिम अधिकार प्राप्त है। पोप का निर्णायन सामान्य सभा द्वारा ही किया जाना चाहिये और पोप को उसके प्रति उत्तरदायी होना चाहिये।

स्वयं सामान्य सभा भी एक तरीके के जनोन्मुखी संस्था है जिसमें ईसाई धर्माचार्य और जनसाधारण दोनों शामिल होने चाहिये। इसका कार्य चर्च के भीतर का प्रशासन ईसाई धर्म निर्देशों और उसकी भावना के अनुसार चलाना है। किन्तु सांसारिक मामलों में यह संस्था स्वयं राज्य के अधीन होनी चाहिए।

वह सम्पति से भी चर्च को वंचित अथवा नियन्त्रित करना चाहता था। उसके अनुसार चर्च की अपनी कोई मौलिक सम्पति नहीं होती वह किसी भी प्रकार की सम्पति राज्य से ही प्राप्त करता है। चर्च और पादरियों को उतनी ही सम्पति मिलनी चाहिए जितने में उनका जीवन सादगी से व्यतीत हो सके। चर्च की सम्पति पर राज्य के अधिकारियों का नियन्त्रण होना चाहिए।

इस प्रकार मार्सिलियों चर्च राज्य सम्बन्धों में चर्च को द्वितीयक स्थान देता है। वह संसार में राज्य में प्राथमिक संस्था मानते हुये अपराध की स्थिति में राजा द्वारा चर्च के पदाधिकारियों और पोप को हटाया जा सकता है। चर्च को राज्य के अधीन होना ही चाहिये। दो प्रकार के कानूनों संसार में लागू मानवीय कानून तथा परलोक में लोग ईश्वरीय कानून के भीतर पोप की विशेष भूमिका नहीं बनती है। इस प्रकार मार्सिलियो ने अपने समय में राज्य के पक्ष में चर्च को अधीन बनाकर क्रान्तिकारी विचार प्रस्तुत किया। इसका दूरगामी प्रभाव पड़ा। सेबाइन के अनुसार मार्सिलियों ने आध्यात्मिक और धार्मिक शक्ति को विधिक शक्ति से अलग करने पर जितना जोर दिया उतना मध्ययुग के अन्य किसी लेखक ने नहीं दिया है।

2.3.7 विधि और विधायक सम्बन्धी विचार

मार्सिलियों ऑफ पडुआ के राजनीतिक विचारों में महत्वपूर्ण स्थान विधि और उसको बनाने वाले विधायकों का भी है। इसके द्वारा वह अपनी मान्यताओं को और अधिक स्पष्ट करता है। उसके विधि सम्बन्धी विचार पूर्ववर्ती विचारको के अनुक्रम में है। वह प्राचीन यूनानी, रोमन और अपने पूर्ववर्ती सन्त थामस एक्वीनास के विधि सम्बन्धी विचारों से प्रभावित होते हुये भ कानून के सन्दर्भ में अपने विचार मौलिक तरीके से प्रस्तुत करता है। अपनी पुस्तक डिफेन्सर पेसिस में उसने विधि के चार प्रकार बताए है किन्तु ईश्वरीय कानून और मानवीय कानून को महत्वपूर्ण मानकर उनकी व्यापक समीक्षा की है।

2.3.7.1 ईश्वरीय कानून

मार्सिलियो के अनुसार ईश्वरीय कानून ईश्वरीय सत्ता द्वारा बनाये जाते है। व्यक्तियों के धार्मिक नैतिक को नियन्त्रित करने के लिये ईश्वरीय कानून अस्तित्व में आते है। यदि मनुष्य इन नियमो के विपरीत आचरण करता है उसका प्रतिफल परलोक में मिलता है। ईश्वर इस प्रकार के कर्म और फल के लिये नियम बनाता है। ईश्वरीय कानून के उल्लंघन पर ईश्वर दण्ड देता है। उसका दण्ड धरती पर राजा नहीं दे सकता। ईश्वरीय कानून यह निर्धारित करता है कि मनुष्य को परलोक में मोक्ष प्राप्त करने के लिये क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए।

2.3.7.2 मानवीय कानून

मनुष्यों द्वारा सांसारिक कार्यो के व्यवस्थित और सुचारू रूप से संभलने के लिये जो कानून बनाया जाता है उसे मानवीय कानून या मानव के लिये जो कानून बनाया जाता है उसे मानवीय कानून या मानव निर्मित कानून कहते है। इसका निर्माण मानव समुदाय द्वारा अथवा उसका किसी अधिकृत प्रतिनिधि द्वारा किया जाता है। मानवीय कानून की यह प्रवृति होती है कि वह मानवों पर लागू होती है मानव जीवन के किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिये बनाई जाती है। वह इस प्रकार के कानून मानव के कृत्य के लिये उसे उत्तरदायी मानते हुयेइसी संसार में विधि के अनुसार दण्ड देने का प्रावधान करता है।

सभा समाज में राज्य ही मानवीय कानून का निर्माण करता है और इसको भंग करने वाले को राज्य ही दण्ड देता है। मानवीय कानून यह निर्धारित करता है कि इस जगत में राज्य विशेष के अन्तर्गत व्यक्ति को क्या करना चाहिए और क्या नहीं चाहिए।

2.3.7.3 विधि निर्माता को अवधारणा

मार्सिलियो के अनुसार मानवीय कानून एक संस्था द्वारा कानून बनाकर लागू किया जाता है। यह संस्था सम्पूर्ण जनता या नागरिक समूह के किसी छोटे से भाग द्वारा निर्मित हो सकती है। इसी ही मार्सिलियो विधि निर्माता कहता है। सम्पूर्ण जनता या उसके एक प्रतिनिधि हिस्से से कानून निर्मित होने का विचार देकर मार्सिलियों लोक सम्प्रभुता का प्रस्तुत करने वाला विचारक बन जाता है। सम्प्रभुता समाज के निर्णायक लोगों में ही निहित होती है चाहे वह संस्था की दृष्टि से कम हो या अधिक। यहाँ मार्सिलियों का विचार स्पष्ट नहीं है। किन्तु उसके विधि निर्माता सम्बन्धी विचार में विधि निर्माता का विचार महत्वपूर्ण है। जिसमें वह सम्प्रभुता के विचार का स्पष्ट संकेत देता है और तत्कालीन परिस्थितियों में यह बहुत महत्वपूर्ण बात थी हॉलाकि संख्या के दृष्टिकोण से वह स्पष्ट नहीं है किन्तु आलोचकों का अनुमान है कि उसका झुकाव अभिजात्य वर्ग को हीं सम्प्रभु मानने की ओर था।

विधि निर्माता निकाय या व्यक्ति ही मानवीय कानून का निर्माण करता है। वह यह व्यवस्था करता है कि समाज में व्यक्ति किन चीजों का अनुसरण करें और किससे बचे। कानून के उल्लंघन करने पर दण्ड की व्यवस्था भी वहीं करता है।

मार्सिलियो की एक अन्य विशेषता शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त की ओर संकेत देने के सन्दर्भ में भी है। उसने कहा कि नागरिक ही विधायक होते है। वही कार्यपालिका और न्यायपालिका को चुनते है। कार्यपालिका बनाये गये कानून को लागू करती है और जनता के प्रति ही उत्तरदायी होती है। किन्तु वह कार्यपालिका को महत्वपूर्ण मानते हुये उसकी एकता और और स्वतंत्रता पर बल देता है। वह उसे धर्म सत्ता से पृथक रखने का भी समर्थक है। हॉलाकि मैक्ववेन जैसे विचारक यह नहीं मानते कि उसके विचार

शक्ति के पृथक्करण का पूर्व संकेत करते है किन्तु राजतंत्र को सीमित शक्ति देना, सरकार के कार्यों का बटवारा करना, जनता को सत्ता की निगरानी सौपना और चर्च को धर्मिक मामलों तक सीमित रखने का विचार मार्सिलियो को महत्वपूर्ण बना देता है। यह विधि निर्माता के विचार से गहराई से जुड़ा हुआ है।

2.3.8 चर्च तथा उसमें सुधार सम्बन्धी विचार

मार्सिलियों ने चर्च के क्षेत्राधिकार की समीक्षा भी उस मूल कसौटी के आधार पर की जिसके अन्तर्गत वह मानता था कि सभी प्रकार की शक्ति जनता से ही प्राप्त होती है। जनता ही किसी राज्य में राजनीतिक, प्रशासनिक और धार्मिक शक्ति का अन्तिम स्रोत होती है। उसके अनुसार चर्च और उसके अधिकारी पादरी किसी भी तरह बाध्यकारी शक्ति का प्रयोग नहीं करते है। चर्च समाज के लिये उपयोगी है इसलिये उसे कुछ अधिकार दिये गये है लेकिन उसके ये अधिकार ऐसे नहीं है कि वे राज्य के समकक्ष एक प्रतिद्वन्दी शक्ति बनकर रह सकें। वह राज्य की अधीनस्थ संस्था है तथा एक विशेष प्रयोजन के अस्तित्व में आई है। उद्देश्य के विरूद्ध कार्य करने के कारण और राज्य के कार्य में हस्तक्षेप करने के कारण पोप सहित उसके किसी भी पदाधिकारी को राज्य पद से हटा सकता है।

मार्सिलियो चर्च के किसी भी अधिकारी की सत्ता को दैवीय नहीं मानता था। चर्च के संगठन पर विचार करते हुये वह उसे एक किस्म का प्रशासनिक संगठन पर विचार करते हुये वह उसे एक किस्म का प्रशासनिक संगठन घोषित करता है। उसके अनुसार चर्च ईसाई धर्म के अनुयायियों और धार्मिक अधिकारियों से मिलकर बनता है। इसमें सभी एक समान महत्व रखते है, बराबर है। पोप चर्च के किसी साधारण पादरी से अधिक महत्व का दावा नहीं कर सकता। आध्यात्मिक स्तर पर पोप भी किसी अन्य विशप के समान ही स्थिति रखता है। पोप सहित सभी पदाधिकारी अपनी सत्ता साधारण ईसाई जनता से ही प्राप्त करते है। इसलिये अन्तिम रूप से उन्हे ईसाई जनता के प्रति ही उत्तरदायी रहना चाहिए।

मार्सिलियो चर्च की सामना परिषद को चर्च की सर्वोच्च सत्ता मानता था उसके अनुसार चर्च का बेहतर प्रशासन पोप की अपेक्षा परिषद की सहायता अच्छी तरह चलाया जा सकता है। वह सामान्य परिषद को सामान्य ईसाई जन क्षरा चुनी गई संस्था मानता था जो सभी ईसाईयों का प्रतिनिधित्व करती थी। मार्सिलियो ने इसी परिषद को सभी ईसाईयों की समस्याओं को सुलझाने वाली संस्था मान तथा कहा कि एक ईसाई के रूप में आने वाली समस्या का समाधान यह संस्था कर सकती थी।

वह सामान्य परिषद के सदस्यों का चुनाव प्रादेशिक आधार पर करने की सलाह के साथ वह कहता है कि सामान्य जन भी इस परिषद में चुने जा सकते है। सदस्यों को दैविक कानून का ज्ञानी तथा व्यक्तिगत जीवन में सचरित्र होना चाहिए। शासक अपने अधिकार क्षेत्र से इस परिषद में चुने जाने वाले सदस्यों को चुनने का तरीका निर्धारित करना चाहिये।

मार्सिलियो ने चर्च की सम्पति के विषय में भी महत्वपूर्ण विचार व्यक्त किया है। उसके अनुसार चर्च को सम्पति रखने का अधिकार नहीं है। उसके पास की सारी सम्पति अन्ततः राज्य की सम्पति है। राज्य सहायता देता है और चर्च उसका उपयोग धर्म के लिये करता है। धार्मिक पदाधिकारियों को धन के विषय में संयम रहना चाहिये। स्वयं चर्च की सम्पति का नियमन राज्य के पदाधिकारी कर सकते है। चर्च को उन करों को देना चाहिये जो कर राज्य द्वारा चर्च पर लगाये जाते है।

2.3.9 कार्यपालिका सम्बन्धी विचार

मार्सिलियो के अनुसार विधि निर्माता समूह अपने द्वारा बनाये गये कानून को कार्यरूप देने के लिये स्वयं एक कार्यपालिय का चुनती है। यह कार्यपालिका सभी पर नियन्त्रण रखती है। प्रशासनिक अधिकारियों सहित सेना पर भी उसका ही अधिकार होता है। कार्यपालिका राज्य में शासन को सुव्यस्थित रूप से चलाती है। राज्य में शान्ति और एकता के लिये वह कार्यपालिका को चर्च को विनियमित करने का अधिकार देता है।

कार्यपालिका शासन का सर्वोच्च अंग है। राज्य व समाज का प्रत्येक अंग इसके अधीन है। इन अंगों पर नियन्त्रण के द्वारा ही कार्यपालिका राज्य की एकता बनाये रखता है। एकता पर जोर देने के कारण वह जनतंत्र की अपेक्षा राजतंत्रीय तरीके के शासन पर अधिक विश्वास करता है। राजतंत्रीय तरीके के शासन पर अधिक विश्वास करता है। राज्य की कार्यपालिका शक्ति एकता के साथ-साथ अपेन नागरिकों के जीवन में शुभ को उपलब्ध कराती है। इसके लिये वह हर संभव प्रयास करता है। इससे ही राज्य और समाज में सावयवी एकता प्राप्त होती है। लोगों की आत्मनिर्भरता कार्यपालिका के नियन्त्रण में ही सम्भव हो सकती है।

मार्सिलियो कार्यपालिका की शक्ति का विस्तार चर्च के अधिकर क्षेत्र तक करता है। विशुद्ध धर्मिक क्रिया-कलाप को छोड़कर चर्च के जीवन की सामाजिक समस्याओं को कार्यपालिका विनियमित करने की व्यवस्था करता है। वह चर्च के किसी भी न्यायिक क्षेत्राधिकार से अस्वीकार करता है। इस विचार के माध्यम से उसने चर्च के सर्वाधिकार को चुनौती दी।

मार्सिलियो ने कार्यपालिका को व्यापक अधिकार सौपा। जो कामगारों की संख्या तय करने से लेकर बाजार दर तय करने तक विस्तृत की। अपने कार्यपालिका सम्बन्धी विचार से वह एक ओर राज्य में विभिन्न अवयवों की एकता प्राप्त करता है। जनता के महत्व को स्थापित किया। सबसे महत्वपूर्ण इस विचार के माध्यम से उसने चर्च के उस दावे को निस्सार घोषित किया जिसमें वह अपनी शक्ति को दैवीय मानता था और राज्य के समकक्ष एक स्वतंत्र शक्ति और संस्था के रूप में स्थापित करता था।

2.3.10 विवेचना

मार्सिलियो ऑफ पडुआ के विचारों की विशेषता रही कि उसमें स्पष्ट रूप से राज्य शक्ति समर्थन किया गया था। तत्कालीन समय में चर्च और राज्य के बीच सैद्धान्तिक और व्यावहारिक स्तर पर चल रहा था और चर्च अपनी सांसारिक शक्ति की वैधता पारलौकिक स्वीकृति के आधार पर सिद्ध कर रहा था जबकि राज्य समर्थकों का समूह चर्च को इस प्रकार की वरीयता देने के पक्ष में नहीं था। वह चर्च को भी राज्य के अधीन एक सहयोगी संस्था घोषित करते थे। मार्सिलियों ने पुरोहित वर्ग या चर्च के राज्य के समांनातर शक्ति या स्थिति को मान्यता नहीं दी। रास्ता के प्राधिकारियों को चर्च पर प्राथमिकता दी इसके साथ ही वह चर्च में सुधार का भी पक्ष धर था। उसके अनुसार पोप की सत्ता को एक धर्म सत्ता के प्रधान के रूप में तभी मान्य करना चाहिये जब उसका चुनाव ईसाई धर्म की अनुयायियों द्वारा विधिवत किया जाये। इस प्रकार उसने प्रतिनिधित्व के विचारको धार्मिक संसथाओं के लिये जरूरी बताया। जनरल कांउसिल के लिये भी उसने चुनाव कराने की संस्तुति दी।

इसके अतिरिक्त उसने कानून और उसकों बनाने वाले विधायकों के विषय में भी विचार व्यक्त किये। जिसमें कानून के पीछे जनता की शक्ति और स्वीकृति के विचार का समर्थन किया। इस प्रकार मध्ययुग में मार्सिलियों ऐसे विचारक के रूप स्थापित होता है जो गणतंत्र वाद और लोकप्रिय सम्प्रभुता को जोरदार तर्को से स्थापित करता है। ऐतिहासिक रूप से मार्सिलियों का चिन्तन एक प्रकार से आधुनिक

चिन्तन और दृष्टिकोण के संकेत के रूप में दिखाई देते है। राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में मार्सिलियों के विचारों का महत्व इसी रूप में स्थापित होता होता है।

2.3.11 पाठसार/सारांश

मार्सिलियो का महत्व यह विचार देने में है कि धर्म सत्ता को सदैव राज्य के अधीन होना चाहिए। उसने न केवल वैचारिक रूप से इसका समर्थन किया बल्कि व्यावहारिक जीवन में इसके लिए कष्ट भी उठाया। किन्तु अपने विचारों से विचलित नहीं हुआ। मार्सिलियो के विचारों में आगे लाने वाले यूरोपीय समाज की एक पूर्व समझ थी। वह राज्य को सजीव संगठन मानता है। राज्य में उपस्थित सभी नागरिक, चाहे वह कोई भी कार्य कर रहे हो, राज्य के अतिस्तत्व के लिये आवश्यक होते है। एक अच्छे राज्य की निशानी यह होती है कि उसके सभी अंग बिना दूसरे के कार्य में हस्तक्षेप किए अपना-अपना कार्य करते है। राज्य एक आत्मनिर्भर इकाई है और स्वाभाविक रूप से इसका विकास हुआ है। राज्य सम्बन्धी विचारों को प्रस्तुत करते हुए मार्सिलियो अरस्तू से प्रभावित है।

वह चर्च को राज्य का एक विभाग मानता है। उसके अनुसार चर्च पर राज्य को उसी प्रकार का प्रभुत्व और नियंत्रण रखना चाहिए। जिस प्रकार वह किसी अन्य नागरिक संगठन पर रखता है। मार्सिलियो ने चर्च में सुधार का प्रस्ताव भी दिया। उसने पोप को निर्वाचित करने तथा दण्ड देने, नियुक्त करने का अधिकार सामान्य सभा को देने का समर्थन किया और बहुमत से निर्णय करने की बात की। यह चर्च में व्याप्त भ्रष्टाचार तथा पोप के प्रभुत्व के विरूद्ध प्रभावशाली विचार था। उसने पोप की शक्ति के पीछे ईश्वरीय विधान होने के विचार का खण्डन किया और उसे अधिक से अधिक एक मुख्य अधिकारी माना। मार्सिलियो के विचार लोकप्रिय एक मुख्य अधिकारी माना। मार्सिलियो के विचार लोकप्रिय होने के बाद चर्च और पोप की स्थिति के प्रति असंतोष बढ़ा। जिसने परिषदीय आन्दोलन के जन्म और विकास में मदद की।

इसके अतिरिक्त मार्सिलियो ने कानून और उसे बनाने वाले विधायकों के सम्बन्ध में भी महत्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किए। जहाँ वह ईश्वरीय विधि को सीधे ईश्वर का आदेश मानता है वही वह मानवीय कानून को सम्पूर्ण समुदाय अथवा उसके प्रबुद्ध भाग का आदेश मानता है। मार्सिलियो का प्रु्िद्ध भाग से तात्पर्य नागरिकों के उस हिस्से से है जो गुणवत्ता की दृष्टि से अन्य की अपेक्षा श्रेष्ठ होते है। नागरिक ही कार्यपालिका एवं न्यायपालिका को निर्वाचित करते है। जनता चाहे तो वह इन्हें बदल सकती है। मार्सिलियो का लगाव निर्वाचित राजतंत्र के प्रति है। उसके सारे विचार नगर-राज्य की पृष्ठभूमि में रचे गये है।

मार्सिलियो आधुनिक युग की शुरूआत पर उसकी घोषणा करने वाला तथा चर्च के साथ राज्य के अन्तर्विरोध को रेखांकित करने वाला महत्वपूर्ण विचारक है। उसने चर्च की अपेक्षा राज्य को महत्वपूर्ण और श्रेष्ठ संगठन घोषित किया। केवल मध्ययुग की राजनीतिक प्रवृत्ति बल्कि आधुनिक युग के प्रारम्भ को समझने के लिए हमे मार्सिलियो के विचार को महत्व देना होगा।

2.3.12 अभ्यास प्रश्न/बोध प्रश्न (बहुविकल्पीय, लघुउत्तरीय और दीर्घउत्तरीय प्रश्न)

2.3.12.1 बहुविकल्पीय प्रश्न

1. अपने ग्रंथों में मार्सिलियो ऑफ पडुआ ने किस शासक का समर्थन किया?

(A) (B) (C) (D)

2. मार्सिलियो ने दो तलवारों के सिद्धान्त का समर्थन किया?
   (A) नहीं किया (B) किया
   (C) कोई विचार नहीं दिए (D) अस्पष्ट विचार दिये
3. 'डिफेंसर पेरिस'किसकी रचना है?
   (A) अरस्तू (B) संत आगस्टाइन
   (C) मार्सिलियो ऑफ पडुआ (D) एक्वीनास
4. चर्च राज्य संघर्ष में मार्सिलियो ने किसका पक्ष लिया?
   (A) राज्य का (B) चर्च का
   (C) दोनों का समन्वय किया (D) किसी का नहीं
5. मार्सिलियो के अनुसार चर्च के पास सम्पत्ति -
   (A) होनी चाहिए (B) नहीं होनी चाहिए
   (C) आवश्यकता अनुसार रख सकता है (D) राज्य के अनुमति जितनी रख सकता है

2.3.12.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. मार्सिलियो ने किन तर्कों के आधार पर राजा का पक्ष लिया?
2. मार्सिलियो ने चर्च के विरूद्ध तर्क क्या दिया?
3. पादरियो के विरूद्ध वह प्रमुख प्रतिबंध क्या लगाता है?
4. मार्सिलियो ने कानून का विभाजन कितने भाग में किया?
5. मार्सिलियो के अनुसार विधि निर्माता कौन है?

2.3.12.3 दीर्घउत्तरीय प्रश्न

1. मार्सिलियो का संक्षिप्त जीवन परिचय देते हुए तत्कालीन यूरोप की परिस्थिति बताइये?
2. मार्सिलियो के राज्य सम्बन्धी विचारों को आलोचना करते हुए उसकी मौलिकता रेखांकित कीजिए?
3. चर्च-राज्य सम्बन्धों के विषय में मार्सिलियो के विचार क्या थे?
4. पादरियो के सम्बन्ध में उसने क्या सुझाव दिये?

2.3.13 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. आर0डब्ल्यू0 कार्लाइल तथा ए0जे0 कार्लाइल (1974) पाश्चात्य मध्ययुगीन राजनीतिक सिद्धान्तों का इतिहास, भाग-एक, जयपुर, राजस्थान, हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर।
2. आर0डब्ल्यू0 कार्लाइल तथा ए0जे0 कार्लाइल (1974) पाश्चात्य मध्ययुगीन राजनीतिक सिद्धान्तों का इतिहास, भाग-दो, जयपुर, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर।
3. गुप्ता, पार्थसारथि, (2004), आधुनिक पश्चिम का उदय, दिल्ली, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
4. वर्मा, लाल बहादुर (1999) आधुनिक विश्व इतिहास की झलक, भाग-एक, इलाहाबाद अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद।
5. सूद ज्योति प्रसाद सूद (2002) आधुनिक राजनीतिक विचारों का इतिहास भाग दो, के. नाथ एण्ड कम्पनी, मेरठ।

इकाई-4: परिषदीय आंदोलन एवं चर्च राज्य संघर्ष

इकाई की रूपरेखा

2.4.1 उद्देश्य कथन
2.4.2 प्रस्तावना
2.4.3 पृष्ठभूमि
2.4.4 महान फूट
2.4.5 बुद्धिजीवियों तथा प्रबुद्ध धर्माधिकारियों की भूमिका
2.4.6 अन्य कारण
2.4.7 आंदोलन का उद्देश्य
2.4.8 एकता के लिए परिषदें
2.4.8.1 पीसा की परिषद
2.4.8.2 कॉन्सटैंस की परिषद
2.4.8.3 बेसल की परिषद
2.4.9 आंदोलन का पतन
2.4.10 मूल्यांकन
2.4.11 आंदोलन का महत्व
2.4.12 चर्च-राज्य संघर्ष
2.4.13 धर्म राज्य संबंध
2.4.13.1 दो तलवारों का सिद्धांत
2.4.13.2 प्रभाव
2.4.14 प्रमुख विवाद
2.4.14.1 मानाभिषेक संस्कार
2.4.14.2 ग्रेगरी-हेनरी विवाद
2.4.14.3 पोप बोनीफेस अष्टम व फिलिप द फेयर का विवाद
2.4.14.4 पोप जॉन बाइसवाँ तथा लुईस चतुर्थ विवाद
2.4.15 परस्पर दावें और विवाद की विशेषता
2.4.16 विशेषताएँ
2.4.17 सारांश/पाठसार
2.4.18 अभ्यास/बोध प्रश्न (बहुविकल्पीय, लघुउत्तरी तथा दीर्घउत्तरी प्रश्न
2.4.18.1 बहुविकल्पीय प्रश्न
2.4.18.2 लघु उत्तरीय प्रश्न
2.4.18.3 दीर्घ उत्तरी प्रश्न
2.4.19 कठिन शब्दावली
2.4.20 संदर्भ ग्रन्थ सूची

2.4.1 उद्देश्य कथन

1. परिषदीय आन्दोलन जैसी महत्वपूर्ण परिघटना के उत्पत्ति, विकास और अवसान को तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परिप्रेक्ष्य में समझ सकेंगे तथा उसकी विशेषताओं की पृष्ठभूमि को स्पष्ट कर सकेंगे।
2. चर्च-राज्य संघर्ष की वास्तविकता को ऐतिहासिक सन्दर्भ में स्पष्ट करते हुए उसके सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक पक्ष को धार्मिक पृष्ठभूमि में समझा जा सकेगा। बदलती परिस्थिति में नवोदित राज्य शक्ति और पुरानी धर्म शक्ति (चर्च) का संघर्ष किन परिस्थितियों में हुई और इस संघर्ष में कितनी विजय हुई। यह अध्ययन के अन्तर्गत जाना जा सकेगा। साथ ही साथ उसके प्रभावों को भी बतलाया जा सकेगा।
3. चर्च-राज्य सम्बन्ध और परिषदीय आन्दोलन के दौरान विकसित प्रतिनिधिमूलक संस्थाओं की भूमिकाओं और आगे चलकर इनका लोकतांत्रिक भावना और शासन के विकास पर प्रभाव को जाना जा सकता है।
4. इस अध्याय में चर्च-राज्य संघर्ष के दौरान तथा परिषदीय आन्दोलन के नेतृत्वकत्र्ता व्यक्तित्वों को उसकी भूमिकाओं तथा विचारों की पृष्ठभूमि में समझकर विचार के विकास की पृष्ठभूमि को मूल्यांकित किया जा सकेगा।

2.4.2 प्रस्तावना

चैदहवीं और पंद्रहवीं शताब्दी में न केवल राज्य और चर्च के बीच प्रभावी भूमिका को लेकर संघर्ष चल रहा था बल्कि स्वयं चर्च के भीतर पोप और उनके कृपापात्रों की अनियंत्रित और स्वेच्छाचारी भूमिका को लेकर विरोध के स्वर उठने शुरू हो गये थे। पोप ईसाई समाज के सामने सर्वोच्च शक्ति सम्पन्न होने का दावा करते थे। उनका यह दावा धर्मार्थ कार्य से जुड़े और चर्च के संगठन के भीतर संक्रिय धर्माचार्यों के उपर भी था। जबकि कुछ लोगों का मानना था कि चर्च के संगठन में पोप सर्वोच्च न होकर परिषद सर्वोच्च है जो सभी ईसाईयों के प्रतिनिधि संस्था के रूप में कार्य कररती है। परिषद का अस्तित्व हमेशा से था किन्तु शक्तिशाली पापों के समय परिषद अप्रभावशाली रही। किन्तु इन शताब्दियों में उत्पन्न परिस्थितियों ने सभी का ध्यान परिषद की ओर आकर्षित किया। राजाओं द्वारा पोप के चुनाव में हस्तक्षेप और उनके फलस्वरूप कुछ समय के लिये दो पोपों की उपस्थिति ईसाई समाज में 'महान फूट' ने नाम से जानी गई। जिससे एकता के लिये खतरा उत्पन्न हुआ। ऐसी परिस्थितियों में परिषद सक्रिय हुई। उसने चर्च में तथा ईसाई समाज में एकता स्थापित करने के लिये व्यापक प्रयास किए। परिषद ने चर्च, धर्मग्रन्थों तथा धार्मिक परम्पराओं का विरोध करने वाले लोगों के विरूद्ध कार्यवाही की। उन्हें 'हेरेसी' (धर्मद्रोही) घोषित कर मृत्युदण्ड दिया गया। परिषद की बैठक सन् 1409 ई0 से 1449 ई0 के बीच तीन बार आयोजित की गई। पीसा (इटली) का ॅन्सटेन्स (जर्मनी) तथा बेसल (स्विट्जरलैण्ड) में बुलाई गई परिषद की तीन क्रमशः बैठकों में कई महत्वपूर्ण निर्णय किये गये। इसका चर्च, ईसाई समाज और राजनीतिक सत्ता के साथ उसके संबंधों पर निर्णायक प्रभाव पड़ा। हाँलाकि परिषद सभी विषयों पर प्रभावशाली निर्णय करने और प्रभावशाली भूमिका निभाने में असफल रहा किन्तु उसने पोप नामक संस्था को पुनः व्यवस्थित स्वरूप देने में सामान्यतया सफल रहा। व्यावहारिक रूप से इस आन्दोलन के फलस्वरूप पोप पहले से अधिक शक्तिशाली बन गया। उससे प्रेरित होकर यूरोपीय राज्यों के निरंकुश राजाओं ने अपने पद के लिये दैवीय उत्पत्ति के सिद्धांत का समर्थन करना प्रारम्भ कर दिया।

राजनीतिक विज्ञान के क्षेत्र में यह आन्दोलन निरकुंषता के समक्ष नियम कानून के अनुसार शासन प्रारंभ करने की बहस शुरू करने वाला माना जाता है। इस बहस में समाज, संविधान, सहमति और आलोचना के अधिकार को मान्यता मिली।

2.4.3 पृष्ठभूमि

परिषदीय आन्दोलन की पृष्ठभूमि चैदहवीं और पंद्रहवी शताब्दी में निर्मित हुई। इसकी परिणति भी इन्हीं शताब्दियों में हुई। परिषदीय आन्दोलन का उद्देश्य सामान्य सा था। परिषदीय आन्दोलन चर्च का आन्तरिक संगठन, पोप की स्थिति और अधिकार, ईसाई समाज की भूमिका और राजनीतिक शक्ति के साथ सम्बन्धों के इर्द-इर्द विकसित हुआ। इसके मूल में ईसाई धर्म की एकता का मूल उद्देश्य था। ईसाई धर्म के विरूद्ध चुनौतियॉ आन्तरिक और बाह्य दोनों पक्षों से आ रही थी। किन्तु आन्तरिक चुनौतियाँ नयी और प्रभावशाली थी। ईसाई धर्म में एकता को बनाये रखने तथा उसके भीतरी संगठन में जनस्वीकृत प्राधिकार के सिद्धान्त को मान्यता दिलाने में जनस्वीकृत प्राधिकार के सिद्धात को मान्यता दिलाने में परिषदीय आन्दोलन का महत्वपूर्ण योगदान थी। परिषदीय आन्दोलन की पृष्ठभूमि में महान फूट के साथ-साथ उन विचारकों का भी योगदान था जो चर्च की अन्तिम सत्ता पोप में निहित न मानकर सामान्य परिषद में निहित मानते थे। यह वह दौर था जब धार्मिक आस्था का प्रभाव बौद्धिक तर्क ओर चिन्तन के प्रभाव से कमजोर हो रहा था। चर्च का संगठन भी उससे अछूत नहीं रहा। चर्च के भीतर पोप की निरंकुश सत्ता की जगह प्रतिनिधि मूलक नियन्त्रक संस्था की मांग इसी का परिणाम था। परिषदीय आन्दोलन अपने इस उद्देश्य में एक सीमा तक सफल भी रहा।

परिषदीय आन्दोलन के पीछे ऐतिहासिक कारण थे जिनकी प्रवृति राजनैतिक थी। व्यापक सामाजिक-आर्थिक सन्दर्भों से पैदा यह राजनीति कारण चर्च के प्रमुख के रूप में पोप तथा राज्य के प्रमुख के रूप में राजा से सम्बन्धित थे। दोनों एक-दूसरे के विरूद्ध श्रेष्ठयता का दावा कर रहे थे। जिसके पक्ष में अपने-अपने तर्क थे। किन्तु इसका प्रभाव एक संगठन के रूप में चर्च पर भी पड़ रहा था। पोप जितना अधिक निरंकुश सत्ता का प्रयोग कर रहा था जितना अधिक नकारात्मक प्रभाव आम ईसाई के जीवन पर तथा स्वयं चर्च के आन्तरिक संगठन पर पड़ रहा था। बाध्य रूप से राजा की ओर से लगातार इस संस्था को चुनौती मिल रही थी। अन्तिम निर्णायक सत्ता होने का संघर्ष पोप और राजा के बीच तीव्र या मन्द रूप में हमेशा से चला आ रहा था लेकिन चैदहवीं शताब्दी के बाद यह प्रत्यक्ष और निर्णायक हो गया। इस दौर में राजा की बढती शक्ति ने पोप को अपने पक्ष में प्रभावित करना शुरू किया। दोनों शक्तियों में संघर्ष शुरू हुआ। इसमें राष्ट्रवादी और भावना तथा बौद्धिक प्रवृत्ति के झुकाव के कारण तत्कालीन बुद्धिजीवियों के बड़े वर्ग ने राजा और राजशक्ति का पक्ष लिया। यह अभूतपूर्व स्थिति थी। इन बौद्धिक लोगों ने न केवल राज्य शक्ति के पक्ष में तर्क प्रस्तुत किये बल्कि एक सामान्य ईसाई की बौद्धिक मांग को भी प्रस्तुत किया। उन्होंने यह प्रस्थापना दी कि चर्च का प्रशासन प्रतिनिधित्व पर आधारित एक आन्तिरक परिषद द्वारा किया जाना चाहिए। स्वयं पोप को भी इसी के अधीन होना चाहिए। बाद में परिषदीय आन्दोलन का यही प्रमुख उद्देश्य बन गया। मार्सिलियो ऑफ पडुआ ने सैद्धान्तिक स्तर पर इस बात को सबसे पहली बार उठाया। इसके अलावा जॉन ऑफ पेरिस तथा विलियम ऑफ ओकम ने इसी बात का समर्थन किया। कि चर्च की शक्ति को पूरी तरह साधारण परिषद में निहित होना चाहिये। यह परिषदीय आन्दोलन का सैद्धान्तिक पक्ष बना। व्यावहारिक रूप से चर्च की फूट, के बाद गर्सन पियरी डेअरी तथा निकोलस ऑफ

क्यूहसा के नेतृत्व में चर्च में आ रही कमजोरी तथा गिरते महत्व को रोकने के लिये प्रयास किया गया। पूरे ईसाई समाज को सम्बोधित तीन बैठके इस सन्दर्भ में अलग-अलग जगहों पर बुलाई गयी।

2.4.4 महान फूट

इस आन्दोलन का एक बड़ा प्रभावशाली कारण वह घटना थी जिसमें 1378 ई0 से लेकर 1417 ई0 तक पोप की स्थिति पूरी तरह दुविधापूर्ण बनी रही। पोप ग्रेगरी ग्यारहवाँ (चवचम ळतमहंतल 11) की मृत्यु 1378 ई0 में हुई। उसके बाद इटली निवासी अर्बन छठे को पोप चुना गया जिससे फ्रांस के राजा फिलिप सहमत नहीं हुये। उसने फ्रांस के निवासी क्लीमेण्ट सप्तम को पोप निर्वाचित कराया। फ्रांसीसी सम्राट के प्रभाव से चुना जाने वाला पोप उसके ही अधिकार क्षेत्र 'एवेन्याँ' में रहने लगा। इससे एक ही समय दो पोप अस्तित्व में आ गये। पहला रोम में रहने वाला दूसरा एवेन्याँ का पोप । यह ईसाई समाज के इतिहास में अभूतपूर्व घटना थी।

इस घटना के पीछे आर्थिक कारण छिपा था। साथ ही साथ बदलती परिस्थिति में राष्ट्रवादी चेतना के प्रसार का भी योगदान था। पोप बोनीफेस आठवें तथा फ्रांस के राजा फिलिप चैथे में चर्च की सम्पत्ति और पादरियों पर लगाये गये कर को लेकर विवाद उत्पन्न हो गया। पोप बोनीफेस आठवें ने कर वसूली रोकने के साथ-साथ इंग्लैण्ड के साथ युद्ध को रोकने का आदेश जारी किया, और घोषित किया कि राजा पोप की आज्ञा मानने के लिये बाध्य है। फिलिप ने इसे मानने से इन्कार किया तथा पोप के द्वारा पारी अधिकारिक घोषणा-पत्र जिसे बुल कहा जाता था, राजा के उपर अप्रभावी बताया। तथा पोप के विरूद्ध युद्ध छेड़ दिया। संयोगवश रोम तक सेना पहँुचने के पूर्व ही पोप बोनीफेस आठवें की मृत्यु हो गया और प्रत्यक्ष संघर्ष रूक गया किन्तु फिलिप चैथे ने इसका बदला अपने देश से अपनी पसंद का पोप चुनवा कर लिया। जिसे चर्च में फूट की शुरूआत हुई। इस मतभेद या घटना को 'महान फूट' के नाम से जाना जाता है।

दोनों पोपों ने एक जैसे दावे करने शुरू कर दिये। इसकी प्रतिक्रिया हुई। लोगों की मांग थी कि पोप को पुनः रोम में प्रतिष्ठित किया जाये। रोम तथा एवेन्या दोनों जगह अपने अपने पोप निर्वाचित हो रहे थे। रोम में अरबन छठे के बाद बोनीफेसनवें, इन्नोसैण्टा सावतें, ग्रिगरी बारहवें पोप हुये जबकि क्लेमैण्ट सातवें के बाद बनैडिक्स एवेन्या में पोप हुये जबकि क्लेमैण्ट सातवें के बाद बेनेडिक्स एवेन्या में पोप बने। ईसाईयों और पोप के धर्माधिकारियों के लिये यह बड़ा संकट था। स्वयं चर्च के भीतर आदेश देने के दो केन्द्र हो गये। चर्च का भी विभाजन राजनीतिक आधार पर हो गया। इटली के मित्र राष्ट्र तथा फ्रांस के शत्रु देश रोम के पोप को मान्यता देने लगे जिसमें जर्मन, स्पेन, पुर्तगाल आदि एवेन्या के पोप का समर्थन करने लगे। दोनों पोपो ने एक दूसरे को ईसाई धर्म और चर्च के संगठन से बहिष्कृत कर दिया और अलग-अलग कार्डिनल बिशप और अन्य अधिकारी नियुक्त करना प्रारम्भ कर दिये।

कुछ ही समय पश्चात ईसाई धर्म के अनुयायियों तथा हितैषियों के बीच इस अराजक स्थिति को लेकर प्रतिक्रिया हुई। पूर्व स्थिति बहाल करने अर्थात एक पोप के अधीन सारे चर्च संगठन को लाने का प्रयास शुरू हुआ। इसके लिये दोनों पक्षों के लोगों ने पहल की और कुछ कार्डिनलों ने एक परिषद बुलाई।

2.4.5 बुद्धिजीवियों तथा प्रबुद्ध धर्माधिकारियों की भूमिका

चर्च ओर पोप के गलत और भ्रष्टाचार पूर्ण आचरण के विरूद्ध असन्तोष सारे ईसाई समाज में विद्यमान था। इसके विरूद्ध प्रतिक्रिया सबसे पहले तत्कालीन यूरोप के बुद्धिजीवियों की ओर से आई। हम इन बुद्धिजीवियों में चर्च के उन प्रबुद्ध धर्माधिकारियों को भी शामिल कर सकते है जो चर्च के संगठन

तथा पोप की निरंकुश शक्ति में तार्किक आधार पर सुधार के समर्थक थे। धर्माधिकारी बाइक्लिफ (ूलबसपिि) तथा हस (ीनेे) ने इसक नेतृत्व किया। अंग्रेज पादरी बाइक्लिफ और उसके बाद बाहिमिया के जॉन हस ने लोगों के बीच यह प्रचार किया कि चर्च का संगठन, उसके संस्कार आदि सब मनुष्यों द्वारा बनाये गये है। सामान्य ईकाई के लिये बाइबिल की शिक्षाएँ ही पर्याप्त है। बाइक्लिफ स्वयं आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में प्रोफेसर था। उसने बाइबिल का अंग्रेजी में अनुवाद कर के सामान्यजन की भाषा में उसे उपलब्ध कराया जिससे बिना किसी अध्यस्थ के नेता स्वयं बाईबिल को पढ़ सके। यह बड़ी बात थी इससे जनता पादरियों की मनमानी व्याख्या से बच गयी।

वही जॉन हस बोहेमिया का निवासी होने के साथ प्राग विश्वविद्यालय में प्रोफेसर था। उसने गिरजाधर और पादरी की मध्यस्थता का विरोध किया। उसे नास्तिकता के आरोप में उसे जलाकर मार दिया गया। लेकिन इन दोनों विचारकों ने अपने समय में ईसाई धर्म में सुधार के लिये इच्छुंक लोगों को बहुत प्रभावित किया। उसके लेखों से तर्क प्राप्त हुये जिसे परिषदीय आन्दोलन के लोगों ने ग्रहण किये।

बुद्धिजीवियों का एक ऐसा वर्ग भी था जो चर्च से सीधे तौर पर सम्बन्धित नहीं था। मार्सीलियों ऑफ पडुआ, विलियम ओकम, दाँते, जॉनगर्जन आदि ने भी अलग-अलग तर्कों से पोप की आलोचना की। पोप की आलोचना करते थे। जिसके आधार पर अपने कृत्यों के लिये उन्मुक्तियाँ प्राप्त करता था। और किसी भी प्रकार की जवाबदेही के लिये स्वयं को उत्तरदायी नहीं मानता था।

2.4.6 अन्य कारण

पोप और उसके कृपापात्रों की निरंकुश शक्तियाँ आम जनता के लिये बहुत हानिकारक बन चुकी थी। सारे यूरोप अथवा 'क्रिस्टेण्डम' में रहने वाले लोगों के लिये पोप और उसके गुट की अत्याचार पूर्ण नीतियाँ ओर आदेश असह्य हो चुके थे। लोगों में इसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया हुई। उन्होेंने परिषदीय आन्दोलन को समर्थन दिया। पोप ने दान में प्राप्त अपार सम्पत्ति का अपने और कृपापात्रों की सुख-सुविधा में खर्च करना शुरू किया और लम्बे समय इस जारी रखा गया। पोप के किसी कृत्य का विरोध करना धर्म का विरोध करना माना गया। इस विरोध को ईश्वर के विरोध के साथ जोड़ा गया। धार्मिक पद होते हुए भी पोप ने सांसारिक सुख-सुविधाओं का खुब उपभोग किया। आम जनता जो दैनिक जीवन में कष्ट का सामना कर रही थी इस स्थिति से रूष्ट थी किन्तू विषय धार्मिक सत्ता से सम्बन्धित होने के कारण वह विरोध की स्थिति में नही थी। जब समाज के सचेत बुद्धिजीवियों ने पोप की सत्ता तथा उसकी विलासिता के विरूद्ध आवाज उठानी शुरू की तब आम जन के भीतर भी उत्साह का संचार हुआ। आम जन ने इन्ही कारणों और परिस्थितियों में परिषदीय आन्दोनल का समर्थन किया।

इसके अतिरिक्त चर्च के सापेक्ष राजसत्ता का महत्व बढने लगा था। राष्ट्रीयता की भावना का प्रसार होने के साथ राष्ट्र राज्य को महत्व मिलने लगा। लोग अपनी स्थानीय पहचान, संस्कृति और अस्मिता की पहचान के प्रति सचेत हुये। राज सत्ता का महत्व बढ़ा और यह राजसत्ता निरंकुशता की जगह प्रतिनिधित्व परक व्यवस्था को महत्व देने लगी थी। सबसे पहले इंग्लैण्ड में संसद के गठन में आम जन, विशेष कर सामन्तों के विभिन्न समूहों का स्थान दिया जाने लगा। लार्ड सभा इसी सामन्ती सभा के प्रतिनिधियों से मिलकर बना फ्रांस में भी स्ट्रेट्स जनरल का निर्माण इसी तरह के प्रबन्धन पर भी पड़ा। लोगों ने यह कल्पना की, कि धार्मिक क्षेत्र को भी प्रतिनिधि मूलक बनाया जाये जिस से पोप तथा उसे अधीनस्थ अधिकारियों की निरंकुशता पर प्रतिबन्ध लगाया जा सके। राज्यसत्ता ने इसमें सहयोग किया।

2.4.7 आन्दोलन का उद्देश्य

इस आन्दोलन का सर्वप्रमुख उद्देश्य पोप की स्थिति को स्पष्ट करते हुये चर्च में पोप, उसके अधीनस्थ अधिकारियों की शक्ति को सीमित करते हुये चर्च में एकता स्थापित करना था। इसका सबसे अधिक असर पोप की शक्तियों पर पड़ना था। पोप और चर्च की समस्त बुराईयों को दूर करने के लिये ही परिषदीय आन्दोनलन शुरू किया गया था। दूसरे इसका प्रत्यक्ष उद्देश्य चर्च की 'महान फूट' के कारणों और परिस्थितियों को समाप्त करना था। यह अभूतपूर्व परिस्थिति थी जिसमें एक ही समय दो पोप निर्वाचित हो गये। राजनीतिक शक्तियों ने धार्मिक सत्ता पर प्रभाव दिखाया। इससे चर्च की एकता प्रभावित हुई। ईसाई समाज की निष्ठा राजनीतिक प्रभाव के कारण बंट गयी। परिषदीय आन्दोलन का उद्देश्य इसी एकता की स्थापित करना था।

चर्च की फूट के पीछे आर्थिक और राजनीतिक कारण थे। आर्थिक भ्रष्टाचार के कारण चर्च अपनी नैतिक बल खो चुका था। लोगों के मन में धर्म के प्रति आस्था थी लेकिन पोप तथा चर्च के अन्य पदाधिकारियों के प्रति निष्ठा लगातार घट रही थी। इसको एक ही तरीके से दूर किया सकता था। चर्च में व्याप्त भ्रष्ठाचार को दूर करके ही लोगों का विश्वास चर्च और पोप के प्रतिहाल किया जा सकता था। परिषदीय आन्दोलन को तीसरी प्रमुख उद्देश्य चर्च में व्याप्त भ्रष्टाचार को समाप्त करके उसके प्रति ईसाई अनुयायियों में श्रद्धा को बहाल करना था।

इसी के अन्तर्गत एक उद्देश्य अन्तर्निहित था कि चर्च में प्रतिनिधिपरक व्यवस्था विकसित करते हुये पोप की शक्ति पर संस्थागत नियंत्रण बढ़ाया जाये। इससे भ्रष्टाचार को रोका जा सकता था और लोगों के चर्च के प्रति विश्वास को पुनः प्राप्त किया जा सकता था। परिषदीय आन्दोलन का अन्तिम उद्देश्य ऐसे लोगों और विचारों पर नियंत्रण लगाना था। इसके अगुवा लोग धर्म के विद्रोही लोगों को समाप्त करना चाहते थे। जो ईसाई धर्म के लिये खतरनाक थे। वे ईसाई धर्म की एकता के लिये खतरा बन रहे थे।

2.4.8 एकता के लिए परिषदें

अपने उद्देश्य के पूरा करने के लिए तथा दो पोपों में सही का चुनाव करने के लिये परिषद के समर्थकों ने विचार-विमर्श करना जरूरी समझा और विभिन्न परिषदें आयोजित की। इसके लिये तीन परिषदों का आयोजन किया गया। जो निम्नवत् थी -

2.4.8.1 पीसा की परिषद

इटली के पीसा नामक नगर में 1409 ई0 में रोमन कैथोलिक चर्च की फूट को समाप्त करने के लिए एक सभा बुलाई गई। इस सम्मेलन में दोनों पोपो अर्थात ग्रिगरी सप्तम और फ्रांस के एवेन्याँ में रहने वाले बैनेडिक्ट तेरहवाँ के समर्थक कार्डिनल्स शामिल हुये। इन कार्ठिनलों ने चर्च में दो पोप होने को ईसाई समाज के लिए गैर जरूरी और खतरनाक माना। स्वयं को चर्च की परिषद घोषित करते हुये इन क्राउन लोगों ने सभा को पोप के ऊपर उत्तराधिकारी घोषित किया। हंगरी, स्पेन, नेपल्स, स्केन्डिविया तथा स्कॉटलैण्ड, यूनान और रूस का छोडकर सारे यूरोप से छोटे-बड़े सैकड़ो धर्माधिकारी इस परिषद में इकट्ठा हुये।

इस परिषद में यह निर्णय हुआ हुआ कि दोनों पोपो को पेाप पर से च्युत माना जाये और उसके स्थान पर एलेक्जैडर पंचम को पोप चुना गया। परिषद के आदेश को पहले के दोनों पोप ने नहीं माना अैर अब इस परिस्थिति में ती पोप हो गये। इस प्रकार स्थिति और पेचीदा हो गयी। पीसा की परिषद का कुल लाभ केवल यह हुआ चर्च के सांगठनिक ढाँचे में पोप की जगह परिषद को सर्वोच्च संस्था माना जाने

लगा। इस बैठक में यह भी निर्णय किया गया कि परिषद की अगली बैठक 1412 ई0 मे बुलाई जायेगी। पोप के विषय पर अनिर्णित रह गई इस सभा का महत्व केवल इतना था कि इसने एक ऐसी परम्परा शुरू की जिसका क्रांतिकारी प्रभाव आगे चलकर चर्च, पोप और ईसाई समाज पर पड़ा।

2.4.8.2 कॉन्सटैंस की परिषद

परिषद की अगली बैठक जर्मनी के कॉन्सटैंस में बुलाई गयी हाँलाकि 1414 ई0 तक पूर्व की पीसा की परिषद द्वारा चुने गये पोप एलेक्जैडर पंचम की मृत्यु हो चुकी थी। किन्तु फिर भी तीन जगहों पर पोप के पद निरन्तर चल रहे थे। यह स्थिति ईसाई समाज के लिये दुविधापूर्ण थी। ईसाई सिद्धान्त वेत्ता जॉन गर्सन की प्रेरणा से जर्मनी के एक सम्राट सिगिसमन्डर ने कान्सटेंस में परिषद की बैठक बुलाने का दबाव डाला जिसे मान लिया गया। इस परिषद के समक्ष तीन प्रमुख मुद्दे थे पहला, चर्च में एक पोप की परम्पपरा को पुनःस्थापित करना दूसरा, चर्च और पादरियों में सुधार करना तथा तीसरा, हेरेसी अथवा धर्मद्रोह की समस्या का समाधान करना।

यह परिषद बहुत ही रोचक और परिवर्तनकारी थी। इस सम्मेलन में तीनों स्थानों के पोपो ने सहभागिता की। परिषद इस सम्मेलन में पोप के सम्बन्ध में सहमति प्राप्त करना चाहती थी और इस सम्बन्ध में सारे विवाद दूर करना चाहती थी। इस सम्मेलन को एक प्रकार से जन समर्थन भी हासिल था। इसमें न केवल हजारों धर्माधिकारी बल्कि पूरे यूरोप से राजा, जमींदार, विद्वान व्यक्तियों के साथ-साथ भारी संख्या में आमजन भी उपस्थित थे।

परिषद की बैठक में विभिन्न घटना क्रमों के अन्तर्गत सदस्यों ने पोप जॉन तेईसवे को अपने आदेश द्वारा अपदस्थ कर दिया। बाकी दो पोपो में से एक ग्रिगरी सप्तम ने स्वेच्छा से अपना पद छोड़ दिया, और बेनेडिक्ट तेरहवाँ ने दबाव पड़ने के बाद अपना पद छोडा। सभी पोपो के पद छोडने के बाद परिषद ने अपने निर्णय द्वारा मार्टिन पंचम को नया पोप चुना।

चर्च में सुधार के मुद्दे पर अपेक्षित सफलता नही मिली क्योंकि परिषद में इस विषय पर आम सहमति नहीं बन पाई थी। तीसरी उद्देश्य धर्मद्रोह की समस्या को दूर करना था। इस उद्देश्य में कॉन्सटैन्स की परिषद को सफलता मिली। जॉन हस तथा जीरोम नामक व्यक्तियों को जीवित जलाने का दण्ड दिया। प्रसिद्ध धर्मशास्त्री जॉन वाइक्लिफ को भी धर्मद्रोही करार दिया गया।

2.4.8.3 बेसल की परिषद

सन् 1531 ई0 में परिषद की तीसरी बैठक स्विटजरलैण्ड के बेसल नामक शहर में पोप यूजीन चतुर्थ के कार्यकाल में बुलाया गया। सन् 1931 ई0 में शुरू यह सम्मेलन लगभग 17 वर्ष तक सन् 1448 ई0 तक चलती रही। चर्च में वित्तीय सुधार के लिये परिषद ने पोप को जिम्मेदार बनाने का प्रयास किया जिसको लेकर पोप और परिषद के बीच मतभेद उभरकर सामने आ गया। परिषद ने अपनी शक्ति सिद्ध करते हुये तत्कालीन पोप यूजीन चतुर्थ को हटाकर फैलिक्स पंचम को पोप बनाया।

परिषद ने इस सम्मेलन के दौरान यह स्थापित करने की कोशिश की कि परिषद ईसाई समाज की सर्वोच्च संस्था है, और परिषद को अपनी शक्ति सीधे ईश्वरीय से प्राप्त होती है। परिषद पोप, अन्य धर्माधिकारी तथा अन्य सामान्य ईसाई सभी को अपने अधीन मानता था। सन् 1432 ई0 तक परिषद की सत्ता चरम पर पहँुच चुकी थी। उसने पूरे चर्च में अनेक परिवर्तन और सुधार किये। पोप के अधिकार को सीमित करने का प्रयास विवादास्पद हो गया। बदलती आर्थिक राजनीतिक परिस्थितियों का भी परिषदीय

आन्दोलन पर प्रभाव पड़ा। पोप फेलिक्स ने सन् 1449 में त्याग पत्र दे दिया और माना जाता है कि इसी के साथ परिषदीय आन्दोलन समाप्त हो गया।

2.4.9 आन्दोलन का पतन

बेसल में आयोजित अपनी अन्तिम बैठक में ही परिषदीय आन्दोलन के पतन की शुरूआत हो चुकी थी। इस अन्तिम सम्मेलन में परिषद के लोगों ने जिसे पोप निर्वाचित किया था उस यूरोप के अधिकांश राजाओं ने पोप स्वीकार नहीं किया। यूरोप की तत्कालीन सामाजिक और राजनैतिक परिस्थिति में राजा नामक संस्था शक्तिशाली हो चुकी थी। स्वयं इस परिषद की संरचना में परिवर्तन किया गया था। तीन वर्गो में बांटकर पहले में बिशप और कार्डिनल, दूसरे में राजनीतिक सत्ता व शक्ति सम्पन्न लोग और विद्वान तथा तीसरे में पिलेट और एबट रखे गये थे। किसी भी निर्णय के लिये किन्हीं दो वर्गो को सहमत होना जरूरी था यानि निर्णय बहुमत से किया जाना था। इस प्रकार परिषद की एकता नष्ट हुई तथा प्रभाव में कमी हुई। नये पोप के चुनाव के बाद परिषद और यूरोप की राजनीतिक सत्ता के बीच मतभेद सामने आया और अन्ततः परिषद का समर्थन कम होने से उसका प्रभाव समाप्त होने लगा। पोप धीरे-धीरे शक्तिशाली होने लगा और उसने ईसाई समाज में पुनः वैधता प्राप्त कर ली।

2.4.10 मूल्याँकन

परिषदीय आन्दोलन ईसाई समाज और चर्च के इतिहास में विशिष्ट घटना थी। यह परिघटना 1409 ई0 से 1449 ई0 तक चला। इस आन्दोलन का एकमात्र उद्देश्य चर्च में फूट को समाप्त करना था। यह ईसाई धर्म समाज के लिये बड़ी घटना थी जिसमें एक साथ दो पोप निर्वाचित हो चुके थे। और राजनीतिक संरक्षण में कार्य कर रहे थे। परिषदीय आन्दोलन पुनः पोप पद की प्रतिष्ठा स्थापित करने, पोप को प्रतिनिधि संस्था के प्रति उत्तरदायी बनाने में असफल रहा। बदलती सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों ने परिषदीय आन्दोलन पर दबाव डाला और वह असमय समाप्ति हो गयी। हाँलाकि इसके बहुत से कारण थे जिसने परिषदीय आन्दोलन को निष्प्रभावी बनाने में योगदान दिया।

परिषदीय आन्दोलन का जन्म पोप के पद को विनियमित और सुव्यवस्थित करने के लिये हुआ जो जो ईसाई धर्म की शुरूआत के समय से बनी हुई थी। पोप ईसाई संगठन में सर्वोच्चता का दावा करता था। फ्रांस के राजा फिलिप द फेयर द्वारा अपने मनपसंद व्यक्ति को पोप चुनावकर उसे एवेन्या नामक जगह पर रखना ईसाई धर्मतंत्र में फूट का कारण बना क्योंकि इसके कारण एक ही समय में दो पोपो की उपस्थिति हो गयी। परिषदीय आन्दोलन इस कारण पोप की पद प्रतिष्ठा के पुनः बहाली का प्रयास था किन्तु इसी बहाने उसने पोप और उसकी संस्था को विनियमित करने का प्रयास किया। विवादों के बावजूद पोप के पद की प्रतिष्ठा बनी रही। जिसके कारण परिषदीय आन्दोलन और उसके नेतृत्व कत्र्ताओं को अपेक्षित सफलता नहीं मिली। ईसाई लोगों में तमाम विवादों के बाद भी पोप के प्रति सम्मान बना रहा। पोप के पद पर आसीन व्यक्तियों के व्यक्तित्व भी ऐसे रहे जिससे लोग प्रभावित रहे। पोप को चुनौती देने वाले व्यक्तियों का व्यक्तित्व इतना प्रभावी नहीं हुआ जिससे वे आम जनता में प्रसिद्ध हो सके। आम जन भी परिषदीय आन्दोलन के प्रति आकर्षित नहीं हुये। जैसे ही पोप के पद को लेकर अनियमितता खत्म हो गयी परिषदीय आन्दोलन के प्रति जनता का आकर्षण समाप्त हो गया।

परिषदीय आन्दोलन आरम्भ से ही पढ़े-लिखे लोगों की संस्था थी जिसके सदस्यों में आन्तरिक एकता का अभाव था। उनका उद्देश्य बड़ा था लेकिन इसके लिये वे आपस में सहमति बनाने में असफल

रहे। ये सदस्य विभिन्न राष्ट्रों तथा क्षेत्र से आये थे। राष्ट्रों के बीच मतभेद का असर परिषद के कार्य करने पर भी पड़ा। परिषद के सदस्य उसके उद्देश्यों के विषय में भी एक मत नहीं थे। सदस्यों के बीच आपसी संघर्ष था। इसी का लोभ पोप ने उठाकर पुनः अपने पद की प्रतिष्ठा हासिल कर ली। बंसल की परिषद समाप्त होने के साथ ही चर्च में सुधार के लिये किये जा रहे प्रयासों का भी विरोध शुरू हो गया। सदस्यों की आपसी फूट का फायदा उनके विरोधियों को मिला और पचास से कम वर्षों में पोप की प्रतिष्ठा पुनःस्थापित हो गयी।

बदलती परिस्थिति में यूरोपीय लोगों में अपनी राष्ट्रीय पहचान के प्रति आकर्षण पैदा हुआ। पंद्रहवी शताब्दी में लोगों को पृथक-पृथक राजनीतिक शक्ति के अधीन अपनी भाषा, संस्कृति और भौगोलिक क्षेत्र के प्रति सचेत हुये। राष्ट्रीय राज्य का उदय हुआ और इस प्रकार 'क्रिस्टेण्डम' की अवधारणा पर प्रहार हुआ। जिसमें सभी ईसाईयों को एक ही राज्य का सदस्य माना जाता था। लेकिन पंद्रहवी शताब्दी ई0 तक अलग-अलग राज्यों में ईसाईयों की निष्ठा बंट गयी। इनके राजनीतिक हित अलग-अलग थे जिसके प्रभाव परिषद थे जिसके प्रभाव परिषद में शामिल होने वाले सदस्यों पर भी पड़ा। वे अपने-अपने राष्ट्रींय हितों के अनुसार परिषद की बैठकों में अपने मत व्यक्त किये। जिससे उस उद्देश्य पर प्रभाव पड़ा जिसके लिये परिषद का गठन किया गया था।

परिषद लोगों के सामने अपने उद्देश्य को पूरा करके नहीं दिखा सका। उसका एक प्राथमिक उद्देश्य को पूरा करके नहीं दिखा उसका एक प्राथमिक उद्देश्य चर्च को एक प्रतिनिधि संस्थान द्वारा संचालित कराना था। जिससे एक ओर पोप पर अंकुश लगाया जा सके दूसरी ओर चर्च में प्रतिनिधियों पर बनी संस्था को स्थापित किया जा सके। यह दोनों कार्य सम्भव नहीं हो सका। चर्च की शक्ति का विकेन्द्री कारण नहीं किया जा सकता। यह आन्दोलन लोगों में आशा जगानें में सफल रहा किन्तु अन्ततः अपने कार्य को पूर्ण नहीं कर सका। यह आन्दोलन कुछ नेताओं के इर्दगिर्द संगठित रहा और इन नेताओं के पक्ष बदलते ही आन्दोलन कमजोर पड़कर समाप्त हो गया। बडे नेता निकोलस बाद में पोप के पक्ष में शामिल हो गये। ऐसा बड़ी संख्या में हुआ इससे इस संस्था की प्रतिष्ठान को धक्का पहुँचा। इसके अतिरिक्त परिषद के नेताओं में करिश्माई व्यक्तित्व का अभाव था। वे बौद्धिकता अपनाते हुये परिषद का संचालन कर रहे थे जो धीमा और बोझिल था इसलिये जनता को आकर्षित करने, समर्थन हासिल करने तथा नये नेताओं को जोड़ने में असफल रहा और समाप्त हो गया।

2.4.11 आन्दोलन का महत्व

आलोचकों के साथ परिषदीय आन्दोलन के प्रति सहानुभूति रखने वाले अध्येता भी स्वीकार करते है कि परिषदीय आन्दोलन अपने उद्देश्य को पूरा करने में असफल रहा। किन्तु इस आन्दोलन का प्रभाव राजनीतिक सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था पर पड़ा। विशेषकर इसने राजनीतिक व्यवस्था, उसके सिद्धान्तों और प्रतिस्पर्धी पक्षों को प्रभावित किया। उनके लिये तर्क उपलब्ध कराया। इस आन्दोलन ने इस तर्क को स्थापित किया कि ईसाई समाज में सर्वोच्च सत्ता निहित है। राजनीतिक क्षेत्र में इसका प्रभाव यह हुआ कि राजनीतिक सत्ता का आधार आमजन को स्वीकार किया जाने लगा। शासन करने वालों को उत्तरदायी बनाने की प्रवृत्ति इस आन्दोलन के कारण आई। विशेषकर प्रतिनिधित्व के माध्यम से सर्वोच्च सत्ता में भागीदारी परिषदीय आन्दोलन से प्रभावित होकर आई। निरंकुशता के विरूद्ध विद्रोह सीधा-सीधा परिषदीय आन्दोलन से जुड़ा था। सन् 1699 ई0 ग्रेट ब्रिटेन की गौरवपूर्ण क्रांति एवं 1789 ई0 की फ्रैंच राज्य क्रांति इससे सैद्धान्तिक स्तर पर प्रभावित रही।

परिषदीय आन्दोलन ने राजनीतिक क्षेत्र में संविधानवाद और निरंकुशता के बीच चलने वाली बहस को स्पष्ट किया। इसका असर आगे के राजनीतिक विचारकों पर भी पड़ा। समाज राजनीतिक चिन्तन का प्रमुख पक्ष बन गया। बाद के प्रत्येक विचारक नये समाज को अनिवार्य पक्ष के रूप में परिभाषित करने का प्रयास किया। लॉक और रूसों इसमें सबसे प्रमुखता से स्थापित हुये।

आधुनिक युग के साथ शुरू उदारवादी मूल्यो और विचारधारा पर भी इसका गहरा प्रभाव पड़ा। जनता कामहत्व, प्रतिनिधि प्रणाली, कानून का शासन, उत्तरदायित्व आदि सभी उदारवादी मूल्य सीधे रूप से परिषदीय आन्दोलन से सम्बन्धित होते है। यह विचार के रूप में मध्ययुग की समाप्ति का सूचक था।

एक दूसरा प्रभाव भी महत्वपूर्ण है। यह आन्दोलन धार्मिक सत्ता के प्रमुख के रूप में पोप की निरंकुश शक्तियों को चुनौती देने के लिए अस्तित्व में आया था हाँलाकि अपने इस उद्देश्य किन्तु पोप की शक्ति पहले जैसी नहीं रही। पोप पुनः प्रभावी हो गया। किन्तु पोप की शक्ति पहले जैसी नही रही। हाँलाकि इसके पीछे बदलती हुई सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियो की बड़ी भूमिका थी फिर भी परिषदीय आन्दोलन ने पोप की शक्ति को नियंत्रित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। अप्रत्यक्ष रूप से पोप के दैवीय स्थिति के दावे को हानि पहँची। हाँलाकि इसी से प्रभावित होकर राजाओं ने दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त को प्रस्तुत करना शुरू किया। सार रूप में कहा जा सकता है परिषदीय आन्दोलन ने मध्य युग से आधुनिक युग में संक्रमित होने राजनीतिक समाज को गहराई से प्रभावित किया।

2.4.12 चर्च-राज्य संधर्ष

मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन और इतिहास में चर्च और पोप की महत्वपूर्ण स्थिति थी। राजनीतिक सत्ता अर्थात राजय और राजा सीमित अर्थों में प्रभावशाली थे। दोनों सत्ताओं ने एक-दूसरे के विरूद्ध दावेदारी की और एक-दूसरे को आधीनता में लाने की कोशिश की। पोप को धार्मिक या आध्यात्मिक सत्ता का प्रमुख था जबकि राजा को पार्थिव या सांसारिक शक्ति का स्वामी माना गया। चर्च राज्य सम्बन्धों में समय के साथ बहुत उतार-चढ़ाव आये।

चर्च राज्य सम्बन्धों की शुरूआत मानव इतिहास के विशेष कालखण्ड में हुई। यूरोप में ईसाई धर्म के प्रवेश ने तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक व्यवस्था का उनके मूल स्वरूप में प्रभावित और परिवर्तित करना शुरू किया। रोमन साम्राज्य क्षेत्र में प्रचलित परम्पराओं रोमन और अन्य क्षेत्रीय धर्म ईसाईयत के सामने टिक नहीं सकके। ईसाईयत में मानवता, भातृत्व और समानता का आदर्श था। इन आदर्शों ने समाज के पद दलित वर्गों को आकर्षित किया। समाज में दास और गरीब लोग कष्टकारी स्थिति में थे और सामान्य मनुष्यता के व्यवहार से वंचित थे। रोमन सम्राट का दावा था कि वह स्वयं ईश्वर के समकक्ष है और लोगों को विशेषकर सैनिकों को उसके प्रति निष्ठा रखनी चाहिए। यह निष्ठा ठीक वैसी होनी चाहिए जैसे भक्त ईश्वर के प्रति रखता है। ईसाई धर्म के बराबरी और एक ईश्वर के सन्तान होने का विचार लोगों के सामन रखा। यह विचार आरम्भ में गरीबों के बीच लोकप्रिय हुआ। ईसाई धर्म की मान्यताओं में यह विचार भी प्रधान है कि पृथ्वी पर उपस्थित कोई सत्ता पूजनीय नहीं है। स्वयं राजा भी अन्य के समान ही है और उसे भी अपनी आत्मा की मुक्ति के लिये प्रयास करना होता है। क्योंकि आत्मा की मुक्ति ही सबसे बड़ा और एकमात्र आदर्श है। यह बाइबिल, चर्च और ईसामसीह के प्रति निष्ठा रखकर प्राप्त की जा सकती है।

इन विचारों के राजनीतिक प्रभाव हुए। वह रोमन राजा जो अपनी प्रजा विशेषकर सैनिकों की सभी प्रकार की निष्ठाओं आ एकमात्र केन्द्र हुआ करता था वह एकमात्र राजनीतिक सत्ता बन गया। सामाजिक व धार्मिक स्तर पर वह अपनी प्रजा के समकक्ष आकर मुक्ति के लिए ईसाई धर्मत्रयी के प्रति समर्पित होने के लिए बाध्य हो गया।

रोमन साम्राज्य में ईसाई धर्म के प्रवेश के आरम्भिक डेढ़-दो सौ वर्षों तक धर्म ने राजसत्ता के समक्ष कोई समस्या पैदा नहीं हुई। किन्तु जैसे-जैसे सैनिकों के बीच ईसाई धर्म लोकप्रिय हुआ रोमन सम्राटों ने उसे साम्राज्य के लिए खतरे के रूप में चिन्हित करना शुरू कर दिया। रोमन सम्राट नीरो, थीयोडोसियस तथा डायोक्लेशियन ने ईसाई धर्म के अनुयायियों का उत्पीड़न शुरू कर दिया। यह संघर्ष ईसाई धर्म के पक्ष में गया। सैनिकों के बीच लगातार लोकप्रिय ईसाई धर्म ने रोमन सम्राट कॉन्सटेन्टी को बाध्य वह ईसाई धर्म अपनाएं। उसके बाद थीयोडोसियस ने ईसाई धर्म को राजधर्म बनाया और चर्च और राज्य संघर्ष को टाल दिया। चैथी शताब्दी के अन्त में ईसाई धर्म सम्पूर्ण रोमन साम्राज्य का एकमात्र मान्य और स्वीकार्य धर्म बन गया। जिसे पूरी तरह से राजकी संरक्षण प्राप्त था। इस प्रकार ईसाई धर्म यूरोपीय समाज में, राजनीति और संस्कृति में स्थापित होकर नेतृत्वकारी भूमिका में आ गए।

2.4.13 धर्म-राज्य संबंध

आरम्भिक ईसाई धर्म राज्य के साथ सहयोग और समन्वय का समर्थक था। ईसामसीह का मानना था कि जो चीजें राजा से सम्बन्धित है उसमें राजा की आज्ञा का पालन करना चाहिए और जो चीजें ईश्वर से संबंधित है उसमें ईश्वर की आज्ञा का पालन करें। यह दृष्टिकोण ईसाई धर्म का राज्य के प्रति सह अस्तित्व और सम्मानभाव दिखलाता है। उनके बाद प्रमुख धर्म प्रचारकों ने इसी परिप्रेक्ष्य में चर्च और उसके पदाधिकारियों के अधिकार और कर्तव्य की व्याख्या की। साथ ही साथ नागरिकों अथवा ईसाई प्रजा का राज्य और राजा के साथ संबंध भी स्पष्ट किया गया। ईसाईयों के 'बारह चर्च फादर्स' में शामिल और सम्मानित संत पाल ने 'न्यू टेस्टामेण्ट में राज्य के' साथ प्रजा के सम्बन्धों की व्याख्या करते हुए कहा है कि सभी को राजा की आज्ञा का पालन करना चाहिए। उच्चतर द्वारा निम्नतर पर शासन स्वाभाविक और ईश्वरीय इच्छा के अनुकूल है। स्वयं राजा ईश्वर की इच्छा के अनुसार ही अस्तित्व में है और प्रजा पर शासन करता है। राजा की आज्ञाओं तथा आदेशों का पालन करना लोगों के लिए जरूरी है। राजा ईश्वरीय इच्छा के अनुरूप ही दण्ड देता है। सन्तपाल के अनुसार अच्छे ईसाई का कर्तव्य कर का भुगतान करना, राजा की सेवा करना और दिये गये दायित्व को पूरा करना है।

राजा ईश्वरीय सत्ता से स्वीकृत संस्था है इसीकारण राज्य भी दैवीय है। इसी कारण राज्य राजा और नागरिक के आपसी संबंध मूलतः दैवीय प्रकृति के होते है। इस संतुलन को भंग करना ईश्वरीय विधान में हस्तक्षेप करना है। इसलिए एक अच्छे ईसाई को सदैव राज्य की इच्छाओं का पालन करना चाहिए। किन्तु राज्य की इच्छाओं दूसरे शब्दों में राज्य के शक्ति की एक सीमा होती है। वह सीमा है चर्च का क्षेत्रधिकार। ईसाई धर्म के आरम्भिक प्रसिद्ध धर्मगुरू यह मान्यता स्थापित करते आए थे कि जगत दो भागों में विभक्त है। पहला आध्यात्मिक क्षेत्र और सांसारिक क्षेत्र। आध्यात्मिक क्षेत्र उच्च है और सांसारिक क्षेत्र उसके अधीन है। सांसारिक क्षेत्र में कार्यरत सभी लोगों को अपनी आत्मा की मुक्ति के लिये आध्यात्मिक क्षेत्र की शरण में आना पड़ता है। अर्थात् राजा भी अपनी मुक्ति के लिए चर्च पर आश्रित होता है।

ईसाई धर्म की इस मान्यता ने चर्च राज्य सम्बन्धों को एक नई दिशा दी। लोगों द्वारा निर्बाध राज्य के आदेशों के पालन का समर्थन करने वाला चर्च राज्य के साथ द्विपक्षीय सम्बन्धों में एक दैवीय किस्म की श्रेष्ठता का दावा करने लगा। इसका तर्क उसने बाईबिल में दिये गये मुक्ति के सिद्धान्त' में ढूंढ निकाला। सांसारिक क्षेत्र को द्वितीयक और मुक्ति के लिए चर्च पर आश्रित मानने का राजनीतिक प्रभाव भी पड़ा। चर्च द्वारा राज्य पर श्रेष्ठता का दावा कालान्तर में विवाद की जड़ बना और दोनों के बीच संघर्ष तब तक शान्त नहीं हुआ जब तक आधुनिक युग की शुरूआत में राज्य ने निर्णायक रूप से चर्च को पराजित नहीं कर दिया।

ईसाईयों द्वारा परिवार और उससे जुड़ी सम्पत्ति को मान्यता देने, उसका समर्थन करने के कारण जहाँ एक तरफ राज्य का इन संस्थाओं से सीधा सम्बन्ध भिन्न रूप से स्थापित हुआ वहीं ईसाई धर्म के अन्तर्गत इन संस्थाओं के महत्वपूर्ण होने की व्यवस्था का प्रभाव भी राज्य पर पड़ा। अब राज्य, रोमन साम्राज्य के युग के कानूनों की तरह परिवार और पैतृक सम्पत्ति को नियन्त्रित करने की स्थिति में नहीं था। ईसाई धर्म ने इन संस्थाओं को प्राकृतिक मानते हुए उसे दैवीय विधान से सम्बन्धिता किया। जिसका परिणाम यह हुआ कि राज्य को इन संस्थाओं का अस्तित्व स्वीकार करना पड़ा और यह राज्य के असीमित अधिकार क्षेत्र पर एक नियन्त्रणकारी संस्था की तरह मान्य हुये।

2.4.13.1 दो तलवारों का सिद्धान्त

मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन और उसमें राज्य व चर्च के संबंध को निर्धारित करने उसका स्वरूप ढ़ालने में तथा उनके बीच विवादों को आकार देने में दो तलवारों के सिद्धांत की महत्वपूर्ण भूमिका रही। यह सिद्धांत सामान्य सी प्रतिस्थापना रखता है। जिसे पाँचवीं शताब्दी में पोप जिलेशियस प्रथम (492-496) ने प्रतिपादित किया था। उनका मानना था कि मनुष्य दो शक्तियों के अधीन है। सांकेतिक रूप से उन्होंने शक्तियों को तलवार कहा। पोप जिलेशियस प्रथम के अनुसार इसमें से एक तलवार सांसारिक तलवार को राज्य धारण करता है जबकि आध्यात्मिक तलवार को चर्च धारण करता है। दोनों के अपने-अपने कार्यक्षेत्र है और दोनों अपने क्षेत्र में सर्वोपरि है। एक अच्छी और संतुलनकारी स्थिति यह है कि दोनों शक्तियाँ अपने-अपने क्षेत्र में सक्रिय रहते हुए दूसरे का सम्मान करें और परस्पर हस्तक्षेप न करें। यह व्यवस्था ईश्वरीय विधान है। इसलिए अटल है और इसका उल्लंघन ईश्वरीय इच्छा के विरूद्ध कार्य करने के समान है।

यह सिद्धान्त इस विचार को स्थापित करता है कि राजा और चर्च दोनों स्वतंत्र, पृथक और समान सत्ता है। राजा को पोप के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। बल्कि अपनी आध्यात्मिक मुक्ति कके लिए पोप या चर्च के आदेशानुसार आचरण करना चाहिए। राजा को एक प्राणी के रूप में मुक्ति चाहिए। यह मुक्ति चर्च के बताए नियमों के अनुसार आचरण करने से ही मिल सकती है। दूसरी ओर चर्च के पदाधिकारी विशप और पादरी सांसारिक जीवन में राजा के आदेशों के अधीन है। राजा संसार में व्यवस्था कायम रखता है। यह अनुशासन सभी के हित में है। इसलिए चर्च के पदाधिकारियों सहित सभी को उसकी आज्ञाओं का पालन करना चाहिए।

2.4.13.2 प्रभाव

सेबाइन ने दो तलवारों के सिद्धान्त की उत्पत्ति को सेंट आगस्टाइन के उस विचार के साथ जोड़ा है। जिसमें उन्होंने आध्यात्मिक जगत और सांसारिक जगत को अलग-अलग मानने का विचार दिया है। उनका मानना था कि प्रत्येक ईसाई को इसमें विश्वास रखना चाहिए कि दोनों जगत पृथक-पृथक है। सेंट आगस्टाइन का यह विचार ईसाई समाज और ईसाई द्वारा संचालित राज्य के लिए एक आदर्श बन गया। सेबाइन के अनुसार ईसाई धर्मगुरू यह मानते है कि दोनों को एक करना शैतान का कार्य है। ईसाई धर्म एक व्यक्ति का एक ही समय में राजा और पादरी होना उचित नहीं मानता। हाँलाकि दोनों शक्तियों को एक दूसरे की जरूरत होती है। पोप जिलेशियस प्रथम ने इसी पृष्ठभूमि में अपने 'दो तलवारों के सिद्धान्त' को प्रतिपादित किया। इस सिद्धान्त के प्रतिपादित होने के बाद लम्बे समय तक यूरोपीय राजनीतिक और धर्मतंत्र में इसका हवाला देने की जरूरत नहीं पड़ी। इस सिद्धांत की प्रासंगिकता तब सामने आई जब राजा और पोप के बीच संतुलन भंग हुआ। राजा के विरूद्ध पोप व्यावहारिक मामलों में निर्णायक होने के दावा करने लगे। ग्यारहवीं शताब्दी के रोमन सम्राट हेनरी चतुर्थ और पोप ग्रेगरी सप्तम के बीच मतभेद तीव्र और गम्भीर हो गये। यह विवाद विषयों की नियुक्ति को लेकर शुरू हुआ और इसका चरम राजाओं को पोप के अधीन घोषित करने तथा राज्य के लिए आरक्षित क्षेत्र पर चर्च और पोप द्वारा दावा करने में सामने आया।

ग्रेगरी सप्तम का यह मानना था कि चर्च राज्य से स्वतंत्र सत्ता है। चर्च के कार्याे, बिशपों की नियुक्ति और ईसाई लोगों के साथ सम्बन्धों को लेकर राजा कोई भी आदेश चर्च या उसके पदाधिकारियों को नहीं दे सकता। एक स्थानीय घटना से उत्पन्न मतभेद ने सैद्धान्तिक विवाद को जन्म दे दिया। दो तलवारों के सिद्धांत के परिप्रेक्ष्य में ही पोप ग्रेगरी सप्तम ने यह व्याख्या की कि सांसारिक तलवार आध्यात्मिक तलवार से कम महत्वपूर्ण है और स्वयं राजा को मुक्ति के लिए चर्च पर आश्रित रहना होता है। इसलिए वरीयता चर्च को दी जानी चाहिए। पोप ग्रेगरी सप्तम ने हेनरी चतुर्थ को धर्म बहिष्कृत किया और कहा कि अब ईसाई सैनिक उसकी आज्ञा माने के लिए बाध्य नहीं है।

चर्च और राज्य के बीच उठने वाले विवाद का मूल सम्पत्ति और उससे जुड़ी कर व्यवस्था थी। 'दो तलवारों के सिद्धांत' में अन्तर्निहित सन्तुलन को भंग करते हुए चर्च समर्थकों ने कहा कि यथार्थ में सम्पत्ति पर राज्य का अधिकार नहीं है। राजा द्वारा शासन चर्च की स्वीकृति पर किया जाता है। यह स्वीकृति चर्च वापस भी ले सकता है। चर्च की सम्पत्ति पर राज्य कोई कर नहीं लगा सकता। इस प्रकार शुरूआती समय का संतुलन भंग होकर ग्यारहवीं शदी के अंत तक चर्च के पक्ष में चरम तक पहुँच गया। इससे जमीनी स्तर पर संघर्षों का नया दौर शुरू हुआ। इस युग तथा 'दो तलवारों के सिद्धांत' के महत्व की व्याख्या करते हुए सेबाइन ने कहा है कि ''मध्ययुग में मुख्य प्रश्न दोनों सत्ताओं (चर्च और राज्य) के आपसी संबंधों से जुड़ा था। किन्तु इसका प्रभाव दूरगामी हुआ। आध्यात्मिक स्वतंत्रता में विश्वास और आध्यात्मिक स्वतंत्रता के अधिकार ने ही आधुनिक काल के व्यक्ति अधिकार और व्यक्ति स्वतंत्रता के विचारों को जन्म दिया।''

2.4.14 प्रमुख विवाद

जब तक दो तलवारों का सिद्धांत प्रभावी रहा तब तक चर्च राज्य संबंध प्रभावी रहे इसे दूसरे शब्दों में ऐस समझा जा सकता है कि जब तक यूरोप की परिस्थितियाँ (सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक) स्थिर रही, चर्च और राज्य के बीच पूर्व की भाँति सामान्य रहे किन्तु जब इन कारकों में

परिवर्तन होना शुरू हुआ तब चर्च और राज्य संबंध भी पहले की भाँति नहीं रहे। विवादों का एक दौर शुरू हुआ जो चर्च की व्यवस्था मंे परिवर्तन से होते हुए राज्य के प्रभावी होने तक जारी रहा।

2.4.14.1 मानाभिषेक संस्कार

मध्ययुग में सामन्तों की भाँति बड़ी-बड़ी जागीरें रखने वाले चर्च के विशपों की भी पदग्रहण करते समय राजा के स्वीकृत की आवश्यकता होती थी। इसके पीछे मुख्य सिद्धांत यह था कि भूमि पर राजा का अधिकार है और भूमि का किसी भी प्रकार उपयोग करने के लिए राजा के स्वीकृति की आवश्यकता होती है। 'मानाभिषेक संस्कार' के अन्तर्गत राजा लकड़ी का टुकड़ा या मिट्टी का अंश देकर उसे स्वामी के रूप में मान्यता देता था। लम्बे समय से चली आ रही यह परम्परा तब विवादित हुई जब पुराने विशपों की मृत्यु पर नये विशपों की नियुक्ति का प्रश्न खड़ा हुआ। नये पोप ग्रेगरी सप्तम ने कहा कि विशप का पद धार्मिक पद है इसलिए उस पर नियुक्ति का अधिकार चर्च का है। जब भू-स्वामी होने के कारण राजा का मानना था कि उसे ही नये विशप की नियुक्ति का अधिकार है। इस प्रकार 'मानाभिषेक संस्कार' चर्च और राज्य के बीच विवाद का विषय बना और पोप ग्रेगरी सप्तम और हेनरी चतुर्थ के बीच विवाद का महत्वपूर्ण कारण बना।

2.4.14.2 ग्रेगरी-हेनरी विवाद

पोप ग्रेगरी सप्तम तथा फ्रांस के राजा हेनरी चतुर्थ के बीच का विवाद सर्वाधिक चर्चित रहा। मानाभिषेक संस्कार के अतिरिक्त यह दोनों के बीच आपीस शक्ति प्रदर्शन का उदाहरण भी बन गया। पोप द्वारा मानाभिषेक संस्कार से रोके जाने के बाद राजा ने अपने अधिकार क्षेत्र के विशपों की बैठक बुलाकर पोप की अमान्य करने की कार्यवाही की। प्रत्युत्तर में पोप ग्रिगरी सप्तम ने हेनरी को ईसाई धर्म से बाहर घोषित कर दिया और आदेश दिया कि ईसाई जनता, सामन्त और धर्मगुरू उसकी आज्ञाओं का पालन न करें। अंततः हेनरी चतुर्थ को पोप से माफी मांगने के लिए अपमानजनक परिस्थिति में बाध्य होना पड़ा।

हाँलाकि बदलती परिस्थिति में हेनरी चतुर्थ पुनः प्रभावी हुआ। उसने रोम पर हमला किया और पोप ग्रेगरी सप्तम को वहाँ से पलायन करने के लिए बाध्य किया। पोप ने भी अपने समर्थक राजाओं का समर्थन लेकर मुकाबला किया। विवाद अनिर्णित इसलिए रहा क्योंकि विवाद के बीच ही पोप व राजा दोनों की मृत्यु हो गई। उनकी मृत्यु के बाद पोप पेशकल द्वितीय तथा सम्राट हेनरी पंचम के बीच समझौता हुआ जिससे पोप की शक्ति में वृद्धि हुई। यह संधि भी विवादरहित नहीं रही। चर्च के शक्तिशाली असंतुष्टों द्वारा विरोध करने के बाद पुनः राजा और धर्माचायों के बीच 1122 ई0 में धर्मसन्धि हुई। जिसे वम्र्स की धर्मसंधि कहा जाता है। इस संधि के लम्बे समय तक चर्च राज्य विवाद को शान्त रखा।

2.4.14.3 पोप बोनीफेस अष्टम व फिलिप द फेयर का विवाद

चैदहवीं शताब्दी में फिलिप द फेयर फ्रांस का राजा था जिसे युद्ध का संचालन करने के लिए धन की आवश्यकता थी। उसने अपने अधिकार क्षेत्र में स्थित चर्च की भू-सम्पत्ति पर कर लगाया जिसका चर्चों ने विरोध किया। तत्कालीन पोप बोनीफेस अष्टम ने आज्ञा पत्र (बुल) जारी किया जिसमें राजा की आज्ञा न मानने का आदेश दिया। फिलिप ने इन आज्ञाओं को नहीं माना। पोप की मृत्यु होने के बाद भी विवाद समाप्त नहीं हुआ।

फिलिप ने अपने पंसद का पोप चुनवाने का प्रयास किया। परिणामस्वरूप उस समय एक साथ दो पोपो का चुनाव हो गया। फिलिप ने अपने संरक्षण में चुने गये पोप को फ्रांस के एविन्या नामक स्थान पर

रखा। जिसे पोप का 'बेबीलोनियन बन्दीकाल' कहते है। यह स्थिति कुल 68 साल चली। फ्रांस के संरक्षण में चुने गये पोप को जर्मनी और इटली सहित अन्य देशों ने पोप मानने से इन्कार कर दिया। सन् 1377 ई0 तक यह स्थिति बनी रही। बाद में पुनः पोप का पद रोम में स्थापित हो गया।

2.4.14.4 पोप जॉन बाइसवाँ तथा लुईस चतुर्थ विवाद

यह चर्च और राज्य के बीच अंतिम महत्वपूर्ण संघर्ष था। जर्मन सम्राट बवेरियन लुईस चतुर्थ का सत्ता के लिए अपने प्रतिद्वन्द्वियों से संघर्ष चल रहा था। लुईस शक्तिशाली सम्राट था किन्तु उस समय का पोप जॉन बाईसवाँ आस्ट्रिया के फ्रेडरिक के पक्ष में अपनी स्वीकृति दे चुका था।

लुईस की बढ़ती ताकत देखकर पोप जॉन बाईसवें ने कतिपय आधारो ंपर लुईस को धर्म बहिष्कृत कर दिया। किन्तु जर्मनी के राजाओं की परिषद का समर्थन लुईस को प्राप्त था। पोप अपने निर्णय में अकेला हो गया। पोप जॉन बाईसवें का विरोध फ्रांसिसकन सम्प्रदाय के ईसाई और अन्य सम्प्रदाय भी कर रहे थे। इस लिए उन्होंने संघर्ष में पोप के विरूद्ध राजा लुईस का साथ दिया। इस प्रकरण में अन्ततः राजा की विजय हुई और चर्च परिषद आन्दोलन के प्रारम्भ की पृष्ठभूमि तैयार हुई।

2.4.15 परस्पर दावें और विवाद की विशेषता

चर्च और राज्य दोनों ने विवाद के दौर में अपने-अपने पक्ष में विभिनन युक्तियाँ दी। चर्च के समर्थकों ने दावा किया चर्च और ईसाई समाज की स्थापना स्वयं ईश्वर द्वारा की गई है। यह ईश्वर का विधान है कि संसार के मनुष्यों को चर्च और राज्य दो शक्तियों के अधीन रखा जाए। इन दोनों में चर्च श्रेष्ठ होता है। स्वयं राज्य और राजा को मुक्ति के लिए चर्च की सहायता की आवश्यकता होती है। दूसरे स्वयं राजा अपनी शक्तियाँ चर्च के माध्यम से ही प्राप्त करता है। इसलिए चर्च राज्य से श्रेष्ठ है। मनुष्यों से जुड़ी सभी विधियों को अन्ततः धर्म के निर्देशों के अनुरूप होना चाहिए। चर्च सभी मानवीय गतिविधियों का मानक निर्धारक होता है। व्यावहारिक स्तर पर विभिन्न समयों पर पोप ने समाज और राज्य को दिशा दिखाई।

दूसरे ओर राज्य और राजाओं के समर्थकों ने उससे भिन्न तर्क दिए। राजा के समर्थकों का यह मानना था कि राज्य संस्था अथवा राजा का पद ईश्वर द्वारा सृजित और स्वीकृत पद है। राजा को अपनी शक्तियाँ ईश्वर से प्राप्त होती है। पृथ्वी पर वह अन्य किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं है। उसका जन्म शासन करने के लिए हुआ है। शासितों को उसकी आज्ञा का पालन हर हाल में करना चाहिए। राजा के कार्यों की समीक्षा करने का एकमात्र अधिकार ईश्वर को है कोई भी पार्थिव शक्ति राजा के उपर या बराबर नहीं है। इसलिए स्वयं पोप भी राजा को नियत्रिंत अथवा निदेशित नहीं कर सकता।

पोप का सांसारिक शक्ति पर कोई अधिकार नहीं है। यह संसार और सामाजिक व आर्थिक जीवन पूरी तरह राजा के अधीन है। इस क्षेत्र में पोप किसी अधिकार का दावा नहीं कर सकता इसके विपरित इन क्षेत्रों में पोप राजा की आज्ञा मानने के लिए बाध्य है। अपने समय के सुप्रसिद्ध विधिवेत्ता बार्टोलस (1314-73) ने यह सिद्धांत प्रतिपादित किया कि राजा पृथ्वी पर ईश्वर का अतवार है। उसकी सम्प्रभुता अदेय है और उस पर विवाद करना भी धर्म विरूद्ध है। राजा बनने में चर्च, या पोप की कोई भूमिका नहीं होती। इसलिए राजा को पोप के अधीन मानना सर्वथा अनुचित है।

2.4.16 विशेषताएँ

चर्च और राज्य के बीच लम्बे समय तक चले विवाद ने जहाँ व्यावहारिक राजनीति और धर्म व्यवस्था को अस्थिर किया और नई विशेषताओं से लैस कर दिया वही राजनीतिक चिन्तन और विचार के विकास में योगदान दिया। इस विवाद ने राजा के पक्ष में युक्तियों के निर्माण में मदद की साथ ही धार्मिक आधार पर पोप के दावे को लौकिक समर्थन के आधार पर परखा। जो विवाद ग्यारहवीं शताब्दी में शुरू हुआ था उसका स्वरूप और पृष्ठभूमि चैदहवीं शताब्दी तक आते-आते बदल गई। प्रारम्भिक चरण में पोप राजा पर प्रभावी हुआ। इसके भौतिक कारण थे। पोप को जनता के बीच वास्तविक समर्थन हासिल था। इसलिए धर्म ने राजनीति को अपने अधीन रखने में सफलता पायी। धार्मिक शक्ति की पराकाष्ठा पोप के रूप में सामने आई। ग्रेगरी सप्तम ने हेनरी चतुर्थ को आधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य किया किन्तु चैदहवीं शताब्दी में परिस्थितियाँ भिन्न हो गई। इस समय फिलिप द फेयर ने पोप बोनीफसे अष्टम की कोई परवाह नहीं की।

इस गुणात्मक परिवर्तन का कारण बदलती हुई परिस्थिति थी। चैदहवीं शताब्दी तक देशों के बीच राष्ट्रीयता की भावना पहले से अधिक फैल रही थी। अपनी भाषा, संस्कृति, राजनीतिक एकता और साझे जीवन मूल्य के प्रति सचेत होते लोग धर्म के कठोर प्रभाव को प्रभावहीन कर रहे थे। भौतिक जीवन से दूर रहने का ईसाई उपदेश अब क्षीण पड़ रहा था और लोगों की चेतना में आने वाला परिवर्तन एक सुव्यवस्थित राजव्यवस्था की मांग कर रहा था। दूसरी ओर पोप और चर्च से सुधार की मांग की जा रही थी। जो परिषदीय आन्दोलन के रूप में सामने आई। यह चर्च के भीतर एक प्रकार से लोकतांत्रिक आन्दोलन था। बाद में इसका प्रभाव राजा के विरूद्ध लोगों की मांग पर पड़ा। धार्मिक सत्ता की तरह राजनीतिक सत्ता को चुनौती दी गई। यह प्रेरणा चर्च राज्य संघर्षों से ही मिली थी जो व्यक्ति की स्वतंत्रता से जुड़ गयी।

2.4.17 सारांश/पाठसार

पूरा मध्ययुग न केवल राजनीतिक अध्ययन के दृष्टिकोण से बल्कि अपनी सम्पूर्णता में परिवर्तनों से भरा और नये परिणाम देने वाला था। ईसाई धर्म की स्वीकार्यता आमजन में होने के बाद रोम का शासक वर्ग भी इसे अपनाने को बाध्य हुआ। क्रमशः धर्म ने राज्य पर प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इस स्थिति के विरूद्ध प्रतिक्रिया हुई और चर्च राज्य के बीच संघर्ष शुरू हुआ। चर्च राज्य संघर्ष के दौरान ही आधुनिक विश्व में महत्वपूर्ण माने जाने वाले राजनीतिक आदर्शों और मूल्यों का विकास भी हुआ।

प्रतिनिधित्व, व्यक्ति और संस्था के अधिकार, उदारवादी और अधिनायकवादी मूल्य, स्वतंत्रता और दल व्यवस्था का विकास इसी दौर में हुआ। हाँलाकि वह स्पष्ट रूप आधुनिक समय में ले पाये।

चर्च राज्य संघर्ष के न केवल राज्य के विरूद्ध बल्कि चर्च के भीतर भी सुधार का आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। परिषदीय आन्दोलन पूरी तरह इसी पृष्ठभूमि पर आधारित था। मध्ययुग का सारतत्व इन्हीं विवादों से पैदा होता है।

2.4.18 अभ्यास/बोध प्रश्न (बहुविकल्पीय, लघुउत्तरी तथा दीर्घउत्तरी प्रश्न

2.4.18.1 बहुविकल्पीय प्रश्न

1. किसने इस बात को सबसे पहले उठाया कि चर्च की शक्ति परिषद में निहित रहनी चाहिए?
   (A) मार्सिलियों ऑफ पेडुआ (B) विलियम ऑफ ओकम

(C) जॉन ऑफ पेरिस (D) पोप ग्रेगरी ग्याहरवाँ

2. किस राजा ने अपने देश से अपनी पसन्द का पोप निर्वाचित करवाया?
   (A) हेनरी चतुर्थ (B) फ्रेडरिक द्वितीय (C) फिलिप चतुर्थ (D) लुईस चतुर्थ
3. पीसा की परिषद का आयोजन कब किया गया था?
   (A) 1404 ई0 (B) 1405 ई0 (C) 1408 ई0 (D) 1409 ई0
4. इसमें से किसे धर्मद्रोह के आरोप में जलाकर मारा गया था?
   (A) मार्सिलियो ऑफ पेडुआ (B) जॉन हस
   (ब) विलियम ऑफ ओकम (क) जॉन ऑफ सेलिसबेरी
5. वर्म्स की धर्मसंधि कब हुई थी?
   (A) 1121 ई0 (B) 1122 ई0 (C) 1123 ई0 (D) 1124 ई0

2.4.18.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. महान फूट का तत्कालिक कारण क्या था?
2. परिषदों की बैठक कब-कब आयोजित की गई?
3. महान फूट की समस्या का समाधान किस प्रकार निकाला गया?
4. फिलिप द फेयर का संघर्ष किससे और क्यों हुआ?
5. दो तलवारों का सिद्धांत किसके द्वारा दिया गया?

2.4.18.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. परिषदीय आन्दोलन प्रारम्भ शुरू होने के कारणों की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए?
2. तीनों परिषदों के निर्णय उपलब्धियों तथा असफलताओं की व्याख्या कीजिए?
3. ग्यारहवीं सदी से चैदहवीं शताब्दी के बीच चर्च राज्य संघर्ष के प्रमुख कारणों तथा घटनाओं का सविस्तार वर्णन कीजिये?

2.4.19 कठिन शब्दावली

1. हेरेसी (धर्मद्रोह) - ईसाई धर्म की मान्यताओं, धर्मग्रंथों, धार्मिक आदेशों तथा संस्थाओं की अवहेलना करने वाले व्यक्तियों को हेरेसी कहा गया। चैदहवीं और पंद्रहवी शताब्दी में चर्च, परिषद और परम्परा की आलोचना करने वाले कई लोगों को 'हेरेसी' के अन्तर्गत जलाकर मार दिया गया।
2. कार्डिनल - ईसाई समाज के धर्मगुरू, जो हर नये पोप के चुनाव में निर्णायक के रूप में शामिल होते है। इनके गुपत निर्णय द्वारा ही पोप चुना जाता है। मध्ययुग में परिषदों के संचालन में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका थी।
3. बुल - यह उन आदेशों को कहा जाता था जो पोप द्वारा समय≤ पर या आवश्यतानुसार जारी किया जाता था।

2.4.20 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. आर0डब्ल्यू0 कार्लाइल तथा ए0जे0 कार्लाइल (1974) पाश्चात्य मध्ययुगीन राजनीतिक सिद्धान्तों का इतिहास, भाग-एक, जयपुर, राजस्थान, हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर।
2. आर0डब्ल्यू0 कार्लाइल तथा ए0जे0 कार्लाइल (1974) पाश्चात्य मध्ययुगीन राजनीतिक सिद्धान्तों का इतिहास, भाग-दो, जयपुर, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर।
3. गुप्ता, पार्थसारथि, (2004), आधुनिक पश्चिम का उदय, दिल्ली, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
4. वर्मा, लाल बहादुर (1999) आधुनिक विश्व इतिहास की झलक, भाग-एक, इलाहाबाद अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद।
5. सूद ज्योति प्रसाद सूद (2002) आधुनिक राजनीतिक विचारों का इतिहास भाग दो, मेरठ, के. नाथ एण्ड कम्पनी, मेरठ।

खण्ड-3: आधुनिक राजनीतिक चिन्तन का प्रारम्भ
इकाई-1: पुनर्जागरण एवं धर्म सुधार आंदोलन

इकाई की रूपरेखा

3.1.1 उद्देश्य कथन
3.1.2 प्रस्तावना
3.1.3 पृष्ठभूमि
3.1.4 अर्थ और विस्तार
3.1.4.1 राजनीतिक पक्ष
3.1.4.2 प्रभाव
3.1.4.3 विवेचना
3.1.5 धर्मसुधार आंदोलन: परिचय
3.1.6 राजनीतिक विचार के साथ सम्बन्ध
3.1.7 धर्मसुधार आंदोलन के नायक
3.1.7.1 मार्टिन लूथर
3.1.7.2 मेलाकथान तथा ज्ंिवगली
3.1.7.3 काल्विन
3.1.7.4 जॉन नॉक्स
3.1.8 मूल्याँकन
3.1.9 पाठसार/सारांश
3.1.10 अभ्यास/बोधप्रश्न (बहुविकल्पीय, लघुउत्तरी तथा दीर्घउत्तरीय)
3.1.10.1 बहुविकल्पीय
3.1.10.2 लघुउत्तरीय
3.1.10.3 दीर्घउत्तरीय
3.1.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

3.1.1 उद्देश्य कथन:

1. इस इकाई में यूरोपीय समाज और राजनीति में मध्ययुगीन जड़ता को त्यागकर तार्किक, गतिशील और मानव केन्द्रित विचार अपनाने के कारण आई चेतना और उसका राजनीति पर पड़ने वाला प्रभाव गहनता से समझा जा सकेगा।
2. पुनर्जागरण को एक समग्रपरिघटना के रूप में समझते हुये यूरोप के विभिन्न राज्यों, पोप और चर्च की संरचना तथा आम लोगों के साथ इनके पारस्परिक सम्बन्ध को बताया जा सकेगा।
3. पुनर्जागरण ने यूरोपीय राजनीति में बुद्धिवादी, मानव केन्द्रित, धर्मनिरपेक्ष और राष्ट्र राज्य केन्द्रित प्रक्रिया शुरू की। आस्था और विश्वास के विरूद्ध तर्क और यथार्थ के प्रभाव को हम ऐतिहासिक दृष्टिकोण से समझ सकेगें।

3.1.2 प्रस्तावना

अरस्तू के बाद थोड़े समय तक यूनानी और रोमन विचारकों के समय को अपवाद मानकर मानते हुए राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में ईसाईयत के यूरोप में प्रभावी होने से पुनर्जागरण तक अन्धकार का युग माना जाता है। ज्ञान विज्ञान की तार्किक और सन्शय प्रधान प्रक्रिया पर आस्था, विश्वास, और अनुगमन का भाव हावी रहा। पूरे एक हजार साल तक चर्च और पोप ने यूरोपीय मानव समाज का जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नेतृत्व किया। समय के साथ स्थिति में परिवर्तन हुआ। यूरोपीय मानस में बदलाव के पीछे ऐतिहासिक कारण थे प्राचीन साहित्य के प्रसार, कला, साहित्य संस्कृति में नये मानववादी दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा और आर्थिक परिस्थितियों में बदलाव ने क्रमशः राजनीतिक शक्ति और उसके प्रभावशाली कारणों को भी प्रभावित करना शुरू किया। इस अध्याय में हम इसी के कारण और प्रभाव को समझगें।

3.1.3 पृष्ठभूमि

पुनर्जागरण एक विशिष्ट अवधारणा है। यह ऐतिहासिक घटना से अधिक मानसिक स्थिति में परिवर्तन करने वाली परिघटना अधिक थी यह धर्म और उसके आध्यकारी परम्पराओं से मुक्ति की इच्छा थी। साथ ही साथ मानव के सम्बन्ध में तार्किक, मानवीय और वैज्ञानिक सोच को बढ़ावा देने के विचार से भी प्रेरित थी। इसका यूरोपीय समाज पर बहुपक्षीय प्रभाव पड़ा। पुनर्जागरण का समय सामान्यतया यूरोप में चैदहवीं तथा पद्रहवीं शताब्दी के बीच माना जाता है।

पुनर्जागरण मध्ययुगीन चिन्तन और व्यवस्था के साथ जुड़ा हुआ है यह मध्ययुगीन चिन्तन के प्रति एक विद्रोह है। मध्ययुग ईसाई धर्म के वर्चस्व का युग था। अपने वर्चस्व के समय में ईसाई धर्म पोप के नेतृत्व में धर्मशास्त्र की व्यवस्थाओं, पोप की इच्छाओं व रूचियों के विरूद्ध किसी प्रतिक्रिया को स्वीकार नहीं करता था। 'विश्वास'को आमजन के लिये सर्वोपरि मूल्य घोषित किया गया और तर्क और आलोचना को किसी भी भी स्तर पर स्वीकार नहीं किया गया जिससे पूरे समाज में अनुगमन की संस्कृति को बढ़ावा मिला। पूरा मध्ययुग अन्धविश्वास से परिपूर्ण था। पुनर्जागरण इसी मध्ययुगीन अन्धविश्वास के विरूद्ध प्रतिक्रिया थी। यह एक युग के रूप में मध्ययुग की समाप्ति का भी द्योतक था। पुनर्जागरण (Renalssance) का भावार्थ पुनर्जन्म है। इसका सम्बन्ध विवेक, तर्क और मानव केन्द्रित उस चिन्तन से जोड़ा गया जो ईसाई धर्म के उदय से पूर्व विशेषकर यूनानी चिन्तन की विशेषता थी। उसका मध्ययुग के लगभग एक हजार साल लम्बे समय के बाद पुनरूत्थान हुआ। चिन्तन पुनः तर्क, विवेक और मानव केन्द्रित हुआ। विशेषकर तुर्कों के हाथों कुस्तुनतुनिया की पराजय की तिथि को पुनर्जागरण का आरम्भ माना जाता है।

प्रसिद्ध इतिहासकार लाल बहादुर वर्मा के अनुसार 'इतिहास में पुनर्जागरण उस परिघटना को कहा जाता है जिसकी सबसे मुख्य अभिव्यक्ति सांस्कृतिक परन्तु सबसे आधार भूत स्वरूप आर्थिक था, जिसने जीवन के हर पहलू को प्रभावित किया और इटली के कुछ नगरों में प्रस्फुटित होकर धीरे-धीरे सारे यूरोप और बाद में सारी दुनिया में फैल गया।1 इटली में इसके शुरू होने का कारण ऐतिहासिक है। तुर्को द्वारा कुस्तुनतुनिया पर अधिकार के बाद वहाँ के विद्वान यूरोप के विभिन्न इलाकों में गये विशेषकर वे पास के इटली में गये जहाँ उन्हें अपेक्षाकृत सुरक्षित और शान्त माहौल मिला। बौद्धिक वर्ग द्वारा उनका स्वागत किया गया और इन्हीं प्रवासी विद्वानों के माध्यम से प्राचीन यूनानी ज्ञान से परिचित हुये और मानसिक रूप से समृद्ध होना शुरू हुये। जिसकी परिणति पुनर्जागरण थी।

3.1.4 अर्थ और विस्तार

एक सामान्य समझ के रूप में पुनर्जागरण एक बौद्धिक आन्दोलन समझा जाता है। इसमें श्रद्धा और विश्वास का विरोध अन्तर्निहित था। यह अन्धविश्वास को जन्म दे रहा था। पुनर्जागरण विवेक तर्क और मानव के प्रति श्रद्धा घोषित करता था। प्राचीन यूनान में सुकरात, प्लेटो, अरस्तू, यूरीपिडीज,पाइथागोरस और हेरोडोरस जैसे दार्शनिक और विचारक ज्ञान के प्रति समर्पित थे। मानव केन्द्रित चिन्तन की समाज में प्रतिष्ठा थी। उस प्राचीन यूनान में समाज ऐंथ्रोपोसेट्रिक था। मध्ययुग की शुरूआत के साथ ईसाई धर्म प्रभावी हुआ। धर्म ही समाज में मानव चिन्तन को निर्धारित करने लगा। साहित्य, कला, संस्कृति, प्रशासन, चिन्तन और दर्शन सभी क्षेत्र में ईसाई मान्यताएं प्रभावी हो गई। बाईबिल की मान्यताओं और पोप के निर्देशों के अधीन सारा यूरोपीय समाज संचालित था। आलोचना और धर्म से इतर विचारों को कोई मान्यता नहीं दी जाती थी। पूरा समाज थियोसेंट्रिक था।

पुनर्जागरण ने इस स्थिति में परिवर्तन किया। लोगों का रूझान धर्मकेन्द्रित सोच की जगह मानव केन्द्रित हो गई। यह पूर्व यूनानी समाज के लक्षणों का पुनः उभरना था। यही पुनर्जागरण के रूप में परिभाषित किया गया। इसके पीछे ऐतिहासिक कारण थे। इतिहास का क्रमिक परिवर्तन इसके लिये जिम्मेदार था। यह परिवर्तन मानव जीवन से जुड़े प्रत्येक क्षेत्र में हुये। मध्यकाल (5वीं शताब्दी से 15वीं शताब्दी के बीच) यूरोपीय समाज आर्थिक रूप से कम गतिशील था। उत्पादन केवल इतना होता जितना वह स्थानीय मांग को पूरा कर सके। इसका कारण श्रम आधारित पिछड़ी उत्पादन प्रणाली थी जिसमें क्रमशः परिवर्तन शुरू हुआ। उत्पादन के साधन में उन्नति हुई जिससे उत्पादन बढ़ा और व्यापारिक वर्ग गतिशील हुआ। समाज पर इसका संरचनात्मक प्रभाव पड़ा। आर्थिक परिवर्तनों के तार्किक क्रम में सामाजिक, सांस्कृतिक व राजनैतिक परिवर्तन हुये।

पुनर्जागरण के अध्ययनकत्र्ताओं का विचार है कि यूरोप में पुनर्जागरण केवल चैदहवीं और पंद्रहवीं शताब्दी में हुये परिवर्तनों का परिणाम नहीं था। उससे तीन-चार शताब्दी पहले ही समाज में पुनर्जागरण के लक्षण दिखने शुरू हो गये थे। उसकी प्रवृत्तियाँ दिखाई देनी आरम्भ हो गयी थी। किन्तु यह प्रवृत्तियाँ व्यक्तिगत स्तर पर या छोटे समूह की गतिविधियों में अधिक दिखाई दे रही थी। पूरे समाज की एक सामान्य प्रवृत्ति के रूप में इसका विकास चैदहवीं शताब्दी का ही परिणाम था। बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी में यूरोप में मानव और तर्क केन्द्रित एक आन्दोलन शुरू हुआ जिसे 'अलबिसेनसियन आन्दोलन' कहा गया। इसने साहित्यिक, सामाजिक और बौद्धिक जागरण हुआ। हाँलाकि इस आन्दोलन को प्रभावी और शक्तिशाली पुरोहित वर्ग ने दबा दिया। इसी प्रकार सम्राट फ्रैडरिक द्वितीय (1212-50) के समय भी धर्म के अंधविश्वास और बाध्यकारी नियमों के विरूद्ध प्रतिक्रिया उठी जिसमें पुनर्जागरण के लक्षण विद्यमान थे किन्तु यह भी पूर्ववर्ती लहर की भाँति स्थायी नहीं हो सका। इस प्रकार चैदहवीं और पंद्रहवीं शताब्दी में स्थायित्व की विशेषता के साथ उभरा और क्रमशः यूरोप में फैला। बाद में वह अन्य देशों में भी अपनाया गया।

विभिन्न विद्वान इसमें योगदान दे रहे थें। फ्रांस के आबेलार (1079-1142) ने मध्ययुगीन रूढ़िवादी परमपरा के विरूद्ध विचार दिये। इंग्लैण्ड के रोजर बेकन (1214-1292) ने वैज्ञानिक चेतना को सघनता से प्रस्तुत किया। उसका मानना था कि बिना प्रयोग के कुछ भी जाना नहीं जा सकता। उधर इटली में लगभग उसी समय दांते नामक विचारक और साहित्यकार मध्ययुग के पूर्व की विवेकशील परम्पराओं का खुला समर्थन किया। उसने अपनी रचनाओं में अरस्तू, रोम के वर्जिल, जीजर, और सिसरो आदि की प्रशंसा की। 1953 ई0 में कुस्तुनतुकिया के पतन के बाद विद्वान इटली व अन्य सुरक्षित इलाकों की ओर

आकर्षित हुये। इससे ज्ञान और चिन्तन के नई ऊर्जा मिली। इटली के रास्ते यूरोपीय बुद्धिजीवि प्राचीन यूनानी चिन्तन की बौद्धिक और तार्किक परम्परा से परिचित हुये। इसके बाद मानव गतिविधि के अन्य क्षेत्र में इसका प्रसार हुआ। यह विश्वसा किया जाने लगा कि वर्तमान की अपेक्षा प्राचीन युग की शिक्षा अधिक मानवतावादी थी। उनका सम्बन्ध मानववाद से जोड़ा गया। डच लेखक एरासमस इसमें सर्वाधिक अग्रणी थे। उन्होंने अपनी रचनाओं में ईसाई धर्म की कमजोरियों पर प्रहार किया।

वैज्ञानिक अविष्कारों ने इस पुनर्जागरण में अपने तरीके से मदद की। जॉन रोटेनबर्ग ने टाइप मशीन का आविष्कार किया। इससे छपाई में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया विचार एक जगह से दूसरे जगह आजानी से पहुँचने लगे। स्थानीय भाषाओं के प्रति लोगों के लगाव ने पुरोहित की धार्मिक भाषा के प्रति विद्रोह को प्रदर्शित करने लगा। प्राकृतिक विज्ञान की खोजों ने मानव चेतना को सबसे अधिक प्रभावित किया। कापरनिकस, विलियम हार्वे, न्यूटन की खोजें ने धार्मिक विश्वास को डिगा दिया।

इस प्रकार मानवीय गतिविधियों के प्रत्येक क्षेत्र में विवेक, तर्क और मानव केन्द्रित चिन्तन के प्रति आग्रह बढ़ा लोगों के चिन्तन में स्वयं मानव का जीवन स्थापित हो गया। धर्म को चुनौती मिली। पोप सहित सभी धार्मिक पदाधिकारियों धार्मिक रूढ़ियों और अन्धविश्वास को चुनौती मिलनी शुरू हो गयी। तेजी से बढ़ती हुई चेतना से स्थानीयता के प्रति प्रेम समाप्त हुआ। लोगों ने लम्बी-लम्बी समुद्री करनी शुरू की। धन, सम्पत्ति और भौतिकता के प्रति लगाव बढ़ा। पारलौकिता के प्रति आकर्षण कम हुआ। लौकिकता के प्रति प्रेम कई रूपों में प्रकट होने लगा और धर्म निर्धारक शक्ति की जगह स्वयं मानवीय गतिविधि की आश्रित बन गई।

3.1.4.1 राजनीतिक पक्ष

अन्य सभी पक्षों की तरह राजनीतिक क्षेत्र पर भी पुनर्जागरण का भी प्रभाव पड़ा। चैदहवीं और पंद्रहवीं शताब्दी में यूरोपीय समाज मुख्यतः सामन्ती समाज था। सामन्ती समाज के शीर्ष पर राजा की संस्था स्थापित था। किन्तु वह अन्ततः अपने सामन्तों पर ही आश्रित था। परिस्थितियाँ बदले के बाद प्रत्येक देश में वहाँ का मध्यम वर्ग मजबूत होने लगा जो पुनर्जागरण से सबसे अधिक लाभान्वित हुआ था। राजनीतिक शक्ति के रूप में उसने पहले रातंत्र को समर्थन देकर राजनीतिक अनुशासन प्राप्त किया और बाद में इसी शक्ति के विरूद्ध लोकतांत्रिक अधिकार की लड़ाई लड़ी। राष्ट्रीय राजतंत्र का विकास हुआ जिसके अवशेष आज भी देखे जा सकते है। फ्रांस में फ्रांसिस प्रथम, हेनरी चतुर्थ और इंग्लैण्ड में हेनरी अष्टम और ऐलिजाबेथ अपने-अपने देश में राष्ट्रीयता को संगठित करने में सबसे अधिक सफल रहे और एक स्वस्थ परम्परा डाली।

पुनर्जागरण के बाद राष्ट्रीय राज्य का उदय होना राजनीतिक रूप से महत्वपूर्ण परिघटना थी। यह उस अवधारणा के विरूद्ध स्थापित हुई जिसमें सभी ईसाईयों को एक ही राज्य क्रिस्टेण्डम (ईसाई-राज्य) का सदस्य माना जाता था। इसमें राष्ट्रीय राज्य की अवधारणा का निषेध अन्तर्निहित था। किन्तु इन शताब्दियों तक राजनीतिक परिस्थिति बदल गई। लोग अपनी साझी पहचान के प्रति सचेत हुये। यह साझी पहचान एक भाषा, संस्कृति, भौगोलिक बसावट और ऐतिहासिक अनुभव के आधार पर बनी। एक सी राजनीतिक शक्ति ने संगठित राष्ट्र-राज्य की अवधारणा को मुर्त रूप दे दिया। अब राजनीतिक परिवर्तन इसी के अन्तर्गत घटित होने लगे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का महत्व बढ़ा क्योंकि अब सम्प्रभु शक्ति का दावा करते हुये एक साथ एक समय में कई राज्य अस्तित्व में आ चुके है। ठीक इसी समय देशों के बीच साम्राज्य विस्तार और उपनिवेश स्थापित करने की प्रतिस्पर्धा शुरू हुई जिससे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप को बदल दिया। यह सभी पुनर्जागरण से सम्बन्धित था।

पुनर्जागरण का यह भी प्रभाव था कि शहर आधारित मध्यम वर्ग ने राजा की निरंकुश शक्ति के विरूद्ध राजनीतिक शक्ति में आमजन के हिस्सेदारी की मांग की। इसका प्रभाव व्यापक रूप से पड़ा। उदारवादी विचारधारा के रूप में इस विचारधारा का विकास हुआ। फ्रांस तथा इंग्लैण्ड की क्रान्तियाँ उसी का प्रतिफल थी। व्यक्ति का महत्व स्थापित हुआ। बाद के दिनों में लोकतांत्रिक व्यवस्था की स्थापना के पीछे वैचारिक पृष्ठभूमि पुनर्जागरण के दौरान ही निर्मित हुई और यह आज भी हमें प्रभावित कर रही है। आधुनिक राज्य के सभी सम्बन्धित पक्षों का सम्बन्ध पुनर्जागरण से स्थापित होता है।

3.1.4.2 प्रभाव

पुनर्जागरण ने पहले यूरोपीय समाज बाद में सारे विश्व के मानव जीवन को प्रभावित किया। मानव गतिविधि का प्रत्येक क्षेत्र सकारात्मक रूप से परिवर्तित हुआ। पुनर्जागरण के फलस्वरूप पैदा 'नये ज्ञान'ने मानवीय चेतना को प्रभावित किया। लोग अपने वातावरण के प्रति सचेत हुये ओर उसे गम्भीरता से लेना शुरू किया। पर्यावरण की कार्यविधि को समझकर मानव जीवन में सकारात्मक हस्तक्षेप किया गया।

दूसरे, पुनर्जागरण ने मानव विकास के ऐतिहासिक ठहराव को समाप्त किया। लगभग एक हजार साल तक यूरोपीय चेतना, बौद्धिकता और प्रतिभा ईसाई धर्म की सेवा में लगी रही। जिसके लिये बाईबिल और अन्य धार्मिक परम्पराओं के प्रतिबन्ध थे। किसी प्रकार के नये प्रयोगों खोजों को प्रोत्साहन नहीं दिया जाता था बल्कि उनका दमन किया जाता था। पुनर्जागरण के कारण इस स्थिति में परिवर्तन हुआ। साहजी-विचारकों ने प्राचीन यूनानी-बौद्धिक परम्परा से शिक्षा लेते हुये आलोचनात्मक दृष्टिकोण विकसित किया। स्वयं ईसाई धर्म में इस दृष्टिकोण के कारण सुधारवादी लोगों में वृद्धि हुई और विधिवत धर्म सुधार आन्दोलन शुरू हुआ।

तृतीय, इससे स्थानीय भाषा, संस्कृति और परम्परा के प्रति लोगों में रूचि बढ़ी जो अपने परिवेश को जॉनते और उसके प्रति आकर्षित होने की प्रवृत्ति के कारण थी। पुनर्जागरण ने लोगों के भीतर अपने सामाजिक पर्यावरण के प्रति सचेत आकर्षण पैदा किया। स्थानीय भाषाओं को महत्व मिलने के कारण लोग और व्यापक स्तर पर अपने अनुभव साझा करने में सफल हुये और मानवीय अनुभव समृद्ध हुआ।

चतुर्थ, मानव ने कला के विविध रूपों में अपनी अभिव्यक्तियाँ की। जो मानव को केन्द्र बनाकर रची गयी। धार्मिक विषयों और कथानकों की जगह मानवीय रूचि तथा जीवन के सुख-दुःख, कल्पना और आशा का चित्रण इस कलाओं में होने लगा तथा कलायें और अधिक यथार्थपरक हो गयी। औपचारिक रूप से दी जाने वाली शिक्षा महत्वपूर्ण बनी। शिक्षा व्यवस्था चर्च से अलग हुई जिससे लौकिक पाठ्यक्रम और दृष्टिकोण हावी हो गये। ग्रीक तथा रोमन साहित्य की उपलब्धियों से लोग परिचित हुये और उससे आगे प्रगति के लिए उन्मुख हुये। लैटिन साहित्य से प्रभावित होकर स्थानीय भाषाओं का परिष्कार किया गया।

पांचवाँ, पुनर्जागरण का मूल प्रभाव लोगों की चिन्तनशैली पर पड़ा। आलोचनात्मक दृष्टिकोण का विकास हुआ। किसी भी बात को बिना तर्क के मान लेने की प्रवृत्ति समाप्त हुई जो धार्मिक शिक्षा का प्रमुख अंग हुआ करती थी। इसके स्थान पर तर्क-वितर्क, कार्य कारण सम्बन्ध और भौतिकता वाद ने स्थान ग्रहण किया। प्राकृतिक घटनाओं के कारण को उनकी प्रकृति और पर्यावरण के साथ उनके सम्बन्धों को आधार पर समझने की कोशिश शुरू की गई। दर्शन, विज्ञान और मानविकी सभी विषयों का विकास इसी के आलोक में हुआ। अध्ययन की विधि में गवेषणात्मक, ऐतिहासिक तथा आनुभविक पद्धति का विकास हुआ। तुलना के आधार पर ज्ञान की सापेक्षिता का प्रस्तुत किया जाना इस युग की महत्वपूर्ण बौद्धिक प्रवृत्ति थी जो आगे चलकर गम्भीर चिन्तन व विकास के लिये पृष्ठभूमि का निर्माण कर गयी।

धार्मिक दावों की प्रमाणिकता की जाँच की गई। इससे धार्मिक सत्ता का उपयोग करने वाला पुरोहित वर्ग अपनी स्थिति को लेकर सचेत और रक्षात्मक हुआ। समकालीन रचनाकारों पर तार्किक दृष्टि से लिखने का दबाव बढ़ा। स्वयं राजनीति विज्ञान में वैज्ञानिक पद्धति के अनुसरण करने का दावा करते हुये मैकियावेली की पुस्तक 'द प्रिंस' में राज्य का विवेचन मानवीय स्वभाव के अनुकूल करने का प्रयास किया है।

अन्त में पुनर्जागरण के कारण ही ईसाई धर्म में सुधार की आकांक्षा तीव्र हुई। मध्यमवर्ग और आमजन का समर्थन धर्म सुधार आन्दोलन को मिला। इससे ईसाई धर्म की स्थिति और राजनीतिक सत्ता के साथ उसके सम्बन्धों के बदलाव आया। वैज्ञानिक प्रगति और आविष्कारों का प्रभाव ईसाई धर्म पड़ा। छापेखाने के आविष्कार के कारण धार्मिक पुस्तकें अधिक संख्या में लोगों के पास उनकी भाषा में पहुँची। जिससे सामान्य पढ़ा-लिखा व्यक्ति भी उसे आसानी से समझ सका। आर्थिक गतिशीलता के कारण कट्टर ईसाई धर्म में सुधार की मांग बलवती हुई। जो प्रोटेस्टैण्ट धर्म सुधार के रूप में सामने आया। पुनर्जागरण के फलस्वरूप अस्तित्व में आये मध्यमवर्ग ने इसका समर्थन किया। राष्ट्रीय राज्य के राजाओं ने अपने हित में राष्ट्रीय चर्च के गठन को प्रोत्साहन दिया। पुनर्जागरण के कारण बनी मानसिकता के कारण ही खुला आलोचनात्मक समाज अस्तित्व में आ सका और इसी समाज में मानव को केन्द्र मानकर राजनीतिक विचारधारा अपना कार्य शुरू कर सकी।

3.1.4.3 विवेचना

पुनर्जागरण के कारण मध्ययुग की विशेषताए समाप्त हुई। आधुनिक युग की विशेषताओं ने जड़े जमाई। वैज्ञानिक दृष्टिकोण को समाज में प्रतिष्ठा मिली। इसका प्रभाव मानव गतिविधि के सभी क्षेत्रों में दिखाई पड़ा, मानव को महत्व मिला। लौकिक गतिविधियाँ दर्शन, चिन्तन और साहित्य के केन्द्र में स्थापित हो गई। मानव सभ्यता की सभी उपलब्धियों का सीधा सम्बन्ध पुनर्जागरण से है। पुनर्जागरण ने ही वह जमीन तैयार की जिस पर यूरोप का आधुनिकीकरण हुआ। नयी खोज, आविष्कार लोगों को महत्व इसी की प्रेरणा से मिल पाया। चर्च का एकाधिकार टूटा। स्वतंत्रता का साकार रूप सामने आया। मनुष्य के सामाजिक मूल्य की पुनप्र्रष्ठिता हुई। प्राचीन यूनान की यह परम्परा मध्ययुग के अन्धकार युग में लुप्त प्रायः हो गया था। आगे आने वाले समय की विशेषताओं को पुनर्जागरण की समझ विकसित किये बिना वास्तविक स्वरूप में समझा नहीं जा सकता। धर्म और राजनीति के अलगाव का महत्वपूर्ण सिद्धान्त इसी दौर में स्थापित हुआ। धर्मनिरपेक्षता की संकल्पना ने इसी समय मूत्त रूप लिया। राज्य और व्यक्ति की धार्मिक भूमिका व स्थिति के बीच एक विभाजक रेखा खीची गई। यह आधुनिक लोकतांत्रिक राज्य की महत्वपूर्ण विशेषता बन गयी। पुनर्जागरण की प्रमुख विशेषता मनुष्य द्वारा मनुष्य में विश्वास की पुर्नवापसी थी जो यूनानी चिन्तन के साथ ही लुप्त हो गयी थी।

3.1.5 धर्मसुधार आन्दोलन: परिचय

ईसाई धर्म के अन्तर्गत चर्च, पोप और अन्य धर्माधिकारियों ने पूरे यूरोपीय समाज पर लम्बे समय तक वर्चस्व रखा। धार्मिक कार्य से आगे बढ़कर चर्च की शक्ति ने राजनैतिक और सामाजिक भूमिका निभानी शुरू कर दी। लोगों के अधिकारों का दमन किया गया। चर्च के धर्माधिकारियों की निरकुंशता के विरूद्ध जनता में असन्तोष व्याप्त हुआ। छोटे या बड़े स्तर पर इसके विरूद्ध असन्तोष भी सामने आया। परिषदीय आन्दोलन स्वयं ईसाई धर्म के भीतर सुधार के लिये किया गया बड़ा आन्दोलन था। किन्तु वह अपने उद्देश्यों का मूत्त रूप देने में असफलत रहा।

चर्च राज्य की भाँति कर लगाता था जिसे देना अनिवार्य था। जनता एक और चर्च के धार्मिक विशेषाधिकार सह रही थी दूसरी ओर वह आर्थिक दबाव भी सहने को मजबूर थे। राज्य भी धर्मतंत्र के सामने चुनौती प्रस्तुत करने की स्थिति में नहीं था। विरोध का कोई स्वर चर्च की सत्ता का विरोध निर्णायक रूप से नहीं कर सकता था। इसलिये तत्कालीन परिस्थितियों में चर्च का विरोध किसी भी प्रकार सम्भव नहीं था।

इस स्थिति में परिवर्तन पुनर्जागरण के बाद हुआ। सामान्य जनजीवन में इसका असर होना आरम्भ हुआ। विशेषकर सोलहवीं शताब्दी तक चर्च का एकाधिकार टूटने लगा। लोग सामान्यतया चर्च के भ्रष्ट आचार का विरोध करने लगे। बढ़ती चेतना ने लोगों को शोषण के विरूद्ध संघर्ष करने के लिए एकजुट किया। लोग धर्म के नाम पर चर्च के पदाधिकारियों और औचित्यहीनकरों का विरोध करने लगे। साथ ही साथ धर्म के उन अप्रगतिशील व्याख्याओं का विरोध किया गया जो एक ओर बदलते समाज के लिये रूकावट का कार्य कर रहे थे दूसरी आरे जनता के जीवन को कष्टप्रद बना रहे थे।

जर्मनी का निवासी पादरी मार्टिन लूथर (1483-1546) इस आन्दोलन का जन्मदाता माना जाता है। वह पादरी होने के साथ-साथ विट्टेनबर्ग विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र का प्राध्यापक भी बना था उसने स्वयं अपने निजी जीवन में प्रत्यक्ष रूप से चर्च की पदाधिकारियों के भ्रष्टाचार को देखा। इससे धर्म को लेकर उसकी भावात्मक धारणा को आघात पहुँचा। उसने इसका विरोध करने का फैसला किया। इसके लिए उसने दोषों को सूचीबद्ध करते हुये कुल 95 दोषों की लिस्ट बनाई और एक गिरजाघर के मुख्य द्वार पर लगा दिया। इसमें तत्कालीन चर्च व्यवस्था और उसके संचालकों के विरूद्ध आरोप लगाया गया था और कहा गया कि कर्मकाण्ड से मुक्ति या मोक्ष सम्भव नहीं है। उसके निशाने पर चर्च के अधिकारियों का भयादोहन था जिसके अन्तर्गत् वे धर्म के नियमों की मनमानी व्याख्या करते थे। जैसे स्वयं ब्रिटेन वर्ग नामक जगह पर पोप की स्वीकृति से पादरी पाप मोचन पत्र (Indul gences) जारी करने लगे जिसमें अपने-अपने पाप से एक निश्चित मात्रा में धन देकर मुक्त होने का प्रमाण-पत्र प्राप्त कर सकते थे। जाहिर है इसका कोई धार्मिक आधार नहीं था। यह पोप के मन की उपज थी जिसका सम्बन्ध लालच से था।
मार्टिन लूथर अकेला था जिसने पोप के इन गलत कार्यों का सीधे जमीन पर विरोध किया। उसने कहा कि 'जिसने प्रायश्चित कर लिया उसे तो ईश्वर पहले ही क्षमा कर देता है। उसे क्षमापत्र की क्या आवश्यकता है?' यह विचार जनता को पसन्द आया। मार्टिन लूथर ने अपने कार्य को व्यवस्थित रूप देते हुए तीन पुस्तिकाए भी प्रकाशित की। इनमें से पहला 'ऐन ऐड्रेस टू दि नोबिलटी आफ दि जर्मन नेशन (जर्मन सांमतवर्ग को संबोधन) था। दूसरा आन दि बैबिलोनियन कैप्टिविटी आफ दि चर्च आफ गाड तथा तीसरा 'आन दि फ्रीडम आफ क्रिश्चियन मैन; था। ये सभी पुस्तिकाओं में चर्च और सम्बन्धित पदाधिकारियों के पाखण्ड को उजागर किया गया और जर्मन लोगों विशेषकर कुलीन लोगों को सम्बोधन किया। साथ ही साथ एक विकल्प भी प्रस्तुत करने की कोशिश की गई।

मार्टिन लूथर को धर्म विरूद्ध आचरण के कारण धर्म बहिष्कृत किया गया। किन्तु उसने हार नहीं मानी। उसने बाईबिल का जर्मन भाषा में अनुवाद किया जो बहुत लोकप्रिय हुआ।

3.1.6 राजनीतिक विचार के साथ सम्बन्ध

मार्टिन लूथर के विचार बहुत साधारण किस्म के थे। वह पोप तथा धर्माधिकारियेां के आडम्बर और अनैतिक आचरण का विरोध करता था। वह धार्मिक प्रावधानों की सरल व्याख्या करता था। जिसे व्यक्तिगत लाभ में धर्माधिकारियों ने जटिल बना दिया था। धर्म की सारी जटिलता की अस्वीकार कर उसने कहा कि धर्म केवल आस्था का विषय है और ईसाई धर्म सरल है। सारे संस्कारों को दरकिनार कर

केवल तीन संस्कारों केा बैप्टिज्म, पेनैंस और होली यूकेरिस्ट यानि नामकरण, प्रायश्चित और प्रसाद को मान्यता दी।

धर्म सुधार आन्दोलन के दौरान उसके नेतृत्वकत्र्ताओं विशेषकर मार्टिन लूथर, काल्विन और जॉन नौक्स ने राजनीति के साथ धर्म के सम्बन्ध की व्याख्या की। पोप की सम्प्रभुता से अस्वीकार करने का परिणाम यह हुआ कि ईसाई धर्म की अलग-अलग व्याख्यायें और उससे जुड़े अलग-अलग सम्प्रदायों का उदय हुआ। राष्ट्र-राज्य के उदय के साथ तालमेल बनाते हुये एक किस्म से राष्ट्रीय चर्चों का उदय एक नयी परिघटना हो गयी। मार्टिन लूथर द्वारा धार्मिक मामले में व्यक्ति के आत्मनिर्णय की मांग का राजनीतिक प्रभाव हुआ। उदारवाद के उदय के साथ इसको राजनीतिक क्षेत्र में अपना लिया गया। एक शासन पद्धति के रूप में लोकतंत्र की भावना का उदय भी इससे जुड़ा हुआ है। लेकिन साथ ही इसके समान्तर निरकुंश राजतंत्र को समर्थन करने वाली धारा को भी बल मिला। लूथर और जॉन काल्विन ने निष्क्रिय आज्ञाकारिता का सिद्धांत प्रस्तुत किया। कुछ लोगों ने इसी व्याख्या राजसत्ता के आदेशों के बिना विरोध और प्रतिवाद के आज्ञापालन से लिया। इससे राजाओं की शक्ति में वृद्धि हुई। राजा के दैवीय अधिकार का सिद्धांत जहाँ एक ओर 'दो तलवारों के सिद्धांत' से जुड़ा वही दूसरी ओर वह इन ईसाई विचारकों द्वारा राजा को दैवीय संस्था मानने से भी प्रभावित हुआ।

तीसरे, धर्म सुधार आन्दोलन ने सामाजिक स्तर पर यूरोपीय समाज में व्यक्तिवाद को बढ़ावा दिया। ज्ञान, विज्ञान, संस्कृति, तकनीकी से होते हुय इसका प्रभाव आर्थिक और अन्ततः राजनीतिक क्षेत्र में दिखने लगा। लूथर को प्रोटेण्टेस्ट धर्म व्यक्तिवाद के साथ तार्किक संगति रखता था। उसमें कैथेलिक धर्म भी पड़ता नहीं था। यूरोप के नाविकों से शुरू हुई प्रक्रिया पूरे यूरोप द्वारा विश्व में उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद में परिवर्तित हुई। यह व्यक्तिवाद का परिणाम था जो मार्टिन लूथर के विचारों से गहरे तक प्रभावित रहा।

चतुर्थ, धर्म सुधार आन्दोलनों के फलस्वरूप कैथोलिक चर्च और पोप के विरूद्ध जिस प्रकार प्रतिक्रिया हुई और उसके प्रतिक्रिया विभिन्न व्याख्यायें सामने आई। इन व्याख्याओं ने एक दूसरे से सीखा और मान्यता दी। राजनीतिक क्षेत्र में इसे सहिष्णुता के रूप में लिया गया और राज्य से आशा की गई कि राज्य भी विभिन्न मत रखने वाले लोगों को अपने राज्य में स्थान देगा और उनका दमन करने से बचेगा। पश्चातवर्ती विचारक बोदां तथा जॉन लाक ने विशेष रूप से इसका समर्थन किया। लाॅक ने तो सहिष्णुता के पक्ष में किताबें लिखी। यह धर्म सुधार आन्दोलन का ही प्रभाव था।

धर्म सुधार आन्दोलन के अन्तर्गत दिये गये विचारों का राजनीति पर व्यापक प्रभाव पड़ा। जहाँ एक ओर राजतंत्र के समर्थकों ने इससे प्रेरणा लेकर राज के दैवीय अधिकार और स्थिति को विकसित किया वही दूसरी ओर प्रजातंत्र के समर्थकों ने इससे मूलभूत अवधारणा व्यक्ति के महत्व, स्वतंत्र वातावरण, सहिष्णुता प्रतिनिधित्व को विकसित किया। उन्होंने राजनीति का लौकिकरण किया। आगे चलकर राज्य, नागरिक के साथ उसके सम्बन्ध, आज्ञाकारिता, विद्रोह और सत्ता के औचित्य को सिद्ध करने की राजनीतिक बहस भी इससे प्रभावित हुई।

3.1.7 धर्मसुधार आन्दोलन के नायक

धर्म सुधार आंदोलन का स्वरूप उसके नेतृत्वकत्र्ताओं ने निर्धारित किया। उनके अवदानों को समझे बिना धर्म सुधार आंदोलन को समझा नहीं जा सकता। इन धार्मिक विचारकों ने अपने समय, समाज की मांग के में अनुरूप ईसाई धर्म के समक्ष सुधार की मौलिक मांग रखी। यथास्थितिवादियों से उनका संघर्ष हुआ किन्तु अन्ततः ये अपने विचारों से लोगों को प्रभावित करने में सफल रहे।

3.1.7.1 मार्टिन लूथर (1483-1546)

जर्मनी में जन्में मार्टिन लूथर ने एक पादरी के रूप में अपने जीवन की शुरूआत की। वह ब्रिटेनबर्ग विश्वविद्यालय में प्राध्यापक भी बना। वह दर्शनशास्त्र का शिक्षक था। रोम की अपनी यात्रा के दौरान धार्मिक अधिकारियों के अधार्मिक जीवन को देखने का अवसर मिला। वह इससे नकारात्मक रूप से प्रभावित हुआ। उस समय अपने पापों से बचने के लिये धन द्वारा पापमोचन पत्र (Indulgences) खरीदने का चलन था जिसे चर्च और पोप का समर्थन हासिल था। मार्टिन लूथर ने धर्मग्रन्थों के उपदेशों और व्यवस्थाओं तथा धार्मिक अधिकारियों के व्यावहारिक क्रिया-कलाप में अन्तर्विरोध पाया। इसको दूर करने के लिए उसने सन् 1516 ई. में अपने शहर ब्रिटेनबर्ग के चर्च पर चर्च में सुधार के लिये 95 प्रस्ताव चिपकाये। यह प्रस्ताव मुख्यतः धर्म के नाम पर किये जा रहे आडम्बर और भ्रष्टाचार का विरोध कर रहे थे। अससे जर्मनी सहित सारे ईसाई समाज में हलचल मच गयी और वाद-विवादों के बाद इसका ईसाई धर्म तथा यूरोप पर स्थायी प्रभाव पड़ा।

मार्टिन लूथर की अपनी दार्शनिक मान्यताए थी जिससे उसके राजनीतिक विचार निकले हुए थे। टेबिल टॉक (Table Talk) लेटर टू दी जर्मन नोबिलिटी (Latter to the German Nobllity) आफ सेक्यूलर अथारिटी (of secular Authorlty) तथा लिबर्टी ऑफ ए क्रिश्चियन मैन (Liberty of A Chrlstlan Man) नामक किताबों में उसके राजनीतिक विचार प्रस्फुतित होते है। लूथर का मानना था कि प्रजा को राजा के आज्ञा का पालन बिना किसी प्रतिरोध के करना चाहिये अर्थात् राज आज्ञा का पालन लोगों को सहज रूप से करना चाहिए। वह राजा को दैवीय संस्था मानता था इसलिये उसके प्रतिरोध का अधिकार सामान्य जन को नहीं देता था। राजाओं के बीच अच्छे या बुरे का भेद मानते हुये भी उसका कहना था कि ''मैं जनता के न्यायपूर्ण कार्यों की तुलना में राजा के अन्यायपूर्ण कार्य को सहन करता हूँ।'आज्ञा पालन तथा सेवा करने को सबसे अच्छा कार्य घोषित करते हुये वह यह विचार स्थापित करता है कि प्रजाजनों द्वारा हर हाल में राजा की आज्ञा का पालन किया जाना चाहिए। विद्रोह हर दशा में निन्दनीय है। बिना प्रश्न जनता को राजा का आदेश मानना चाहिये। यह मार्टिन लूथर का 'निष्क्रिय आज्ञा पालन'सिद्धांत के रूप में जाना जाता हे। लूथर के इन विचारों ने राजनीतिक क्षेत्र में निरकुंश राजतंत्र के विचार को सैद्धान्तिक समर्थन दिया साथ ही धार्मिक सर्वोच्चता को चोट पहुँचायी। लूथर के इस मान्यता के भी राजनीतिक प्रभाव थे कि सभी सम्पत्ति का स्वामी राजा होता है। सम्पत्ति के विषय में चर्च तथा आमजन में कोई भेद नहीं है। सांसारिक मामले में धार्मिक व्यक्तियों यहाँ तक पोप को भी कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। धर्म को व्यक्तिगत और आन्तरिक जीवन की विषयवस्तु बताकर उसने राष्ट्र राज्य के निरकुंश राजाओं के लिये मार्ग प्रशस्त किया।

सारांश में कहा जा सकता है कि मार्टिन लूथर ने राजा को सांसारिक मामलों में सर्वोपरि करके उसे सारे बन्धनों से मुक्त माना। आमजन को उसके आज्ञापालन का निर्देश दिया तथा चर्च संगठन को राजा के अधीन किया। इसका प्रभाव यह हुआ कि व्यक्ति की चेतना लौकिक हुई और राजनीतिक प्रधान जीवन केन्द्र में आ गया।

3.1.7.2 मोलाकथान तथा ज्विंगली

मेलाकथान (1497-1560) ने अपनी पुस्तक 'ओपेरा'में धर्मसुधार से सम्बन्धित अपनी बातों को व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया। उसके अनुसार बाईबिल प्राकृतिक कानून और प्राकृतिक अधिकार की ओर स्पष्ट संकेत करती है। सारी प्रकृति, राज्य, राजा और प्रजा सभी इसी कानून के अन्तर्गत है। राजा प्राकृतिक कानून को प्रजा पर लागू करवाता है। राजा का कर्तव्य है कि वह प्रजा की रक्षा करें और उसे

प्राकृतिक कानून के अनुरूप स्वतंत्रता उपलब्ध कराये। राजा को सम्पत्ति को नियमित करने का अधिकार है। भौतिक और आध्यात्मिक हित कए दूसरे से जुड़े हुये है। राजा दोनों के कल्याण के लिये कार्य करता है।

इस प्रकार मेलाॅकथान ने अपने गुरू मार्टिन लूथर के तर्कों को दार्शनिक गम्भीरता देते हुये धर्मसुधार आन्दोलन को स्वर दिया।

दूसरी ओर अलरिच ज्विंगली (1484-1531) लूथर का समकालीन धार्मिक विचारक था। इसने भी लूथर की भाँति राज्य के पक्ष में निष्क्रिय आज्ञाकारिता का समर्थन किया किन्तु वह ज्यादा राष्ट्र केन्द्रित धार्मिक विचारक था। उसका लूथर के साथ मतभेद था। वह शक्ति के आधार पर धर्म के सुधार का समर्थन करता था। इस साधन को लेकर उसका लूथर के साथ मतभेद था। ज्विंगली ने अपने देश स्विट्जरलैण्ड में यह विचार स्थापित किया कि पोप और चर्च भ्रष्टाचार के प्रतीक है। इन्हें समाप्त किया जाना चाहिये। उसने प्रत्येक धार्मिक सम्पद्राय को स्वतंत्रता दिये जाने का समर्थन किया। राजशक्ति को धार्मिक सत्ता के उपर वरीयता प्रदान की। वह राज्य शक्ति के द्वारा धार्मिक सुधार का हिमायती था। ज्विंगली स्वयं एक धार्मिक युद्ध लड़ते हुये मारा गया।

3.1.7.3 काल्विन (1509-1564)

काल्विन फ्रांस का रहने वाला था। उसे धर्म सुधार आन्दोलन को विधिक स्वरूप देने का श्रेय दिया जाता है। पुस्तक 'इन्स्टीच्यूशन आॅफ क्रिश्चियन रीलियन' में अपने विचार सुव्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किये।

काल्विन सम्पूर्ण विश्व पर ईश्वरीय प्रभुत्व घोषित करते हुये कहता है कि राज्य और चर्च को अपने-अपने क्षेत्र में काम करना चाहिए। चर्च को धर्म के विषय में पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त है जबकि राज्य का अधिकार लौकिक विषय पर है। काल्विन का विचार है कि दोनों अलग-अलग होने के बाद भी ईश्वरीय विधान के अनुरूप है। दोनों का साथ कार्य करना ईश्वर की इच्छा है। राज्य को हरसम्भव परिस्थिति तैयार करके धर्म की उन्नति की कोशिश करनी चाहिये।

उसका कथन है कि 'राज्य मुक्ति प्राप्त करने का बाहरी साधन' है। इस प्रकार वह राज्य और धर्म के बीच पूर्व सन्तुलन को स्थापित करने का प्रयास करता है। काल्विन के अनुसार 'मानव जगत में रहते हुये सांसारिक राज्य का उद्देश्य ईश्वर स्तुति के बाहरी कार्य को करना, चर्च और धर्म सिद्धान्त की रक्षा करना, हमारे जीवन को मानवीय समाज के समान बनाना, सामरिक कानून के अनुरूप व्यवहार को नियमित करना हमारे भीतर समरसत्ता रखना तथा सामूहिक शान्ति को बनाये रखना होता है।

काल्विन का मत था कि राज्य को व्यक्तियों को नियन्त्रित करना चाहिये क्योंकि मनुष्य स्वभाव से अनियन्त्रित और स्वार्थी होता है। उसने भी इस बात का समर्थन किया कि व्यक्तियों को राज्य की आज्ञाओं का पालन निष्क्रिय होकर (च्ंेपअम वइमकपमदबम) करना चाहिये। शासक ईश्वर का प्रतिनिधि है और उसके अच्छे या बुरे होने का कारण मनुष्य का स्वयं का कर्म है। हाॅलाकि वह धर्म विरूद्ध होने पर राजाओं की अवज्ञा किये जाने का समर्थन करता है। वह राज्य में जमीनी स्तर पर 'छोटे मजिस्टेट' बनाये जाने का समर्थन करता था। जिसका कार्य राजा की निरकुंश शक्ति पर नियन्त्रण रखते थे। इस प्रकार राजा को निरकुंश व स्वतंत्र सत्ता मानते हुये भी वह सीमित अर्थों में उसकी शक्ति पर नियन्त्रण का समर्थक था।

काल्विन के विचारों के मौलिक रूप से राजनीति को प्रभावित किया। वह चर्च के संगठन में गणतांत्रिक व्यवस्था का समर्थक था जिसके कारण उसके बाहर राज्य में भी प्रतिनिधित्व और चुनाव द्वारा

प्रमुख चुनने की भावना का प्रसार हुआ। उसके साथ ही धर्म और राज्य को पृथक कार्यक्षेत्र देने के कारण वे राज्य काल्विन वाद से ज्यादा प्रभावित हुये जहाँ धर्म द्वारा राज्य को नियन्त्रित किया जाता था। हालाँकि आलोचकों के अनुसार काल्विन का सिद्धान्त पर्याप्त लचीला और कमजोर था जिसके कारण उसकी परिस्थिति के अनुसार व्याख्या की गयी। फिर भी पूरी सोलहवीं शताब्दी में काल्विन के प्रभाव से अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

3.1.7.4 जॉन नॉक्स (1505-1572)

जॉन नॉक्स ने प्रोटेस्टेण्ट मान्यताओं में मौलिक परिवर्तन किया। वह स्काटलैण्ड का रहने वाला था जहाँ फ्रांस नीदरलैण्ड अन्य यूरोपीय राज्यों की तरह काल्विनवादियों पर राज्य द्वारा अत्याचार किया जा रहा था। जॉन नॉक्स ने 'निष्क्रिय आज्ञापालन के सिद्धान्त' में संशोधन करते हुये कहा कि व्यक्ति को राज्य की उचित आज्ञाए ही माननी चाहिए। प्राकृतिक कानून के कारण राजा और आमजन दोनों ईश्वर के अधीन है। जो राजा व्यक्तियों को ईश्वर के प्रश्रय से वंचित रखने का प्रयास करते है उनकी आज्ञा भी नहीं माननी चाहिये। नॉक्स के विचारों में प्रतिरोध एक जानी पहचाने अवधारणा बन गई। जिसका काल्विन विरोध करता था। वह कैथोलिक राजाओं के विरोध की बात करता था। इसका यूरोप की व्यावहारिक राजनीति और सामाजिक स्थिति पर प्रभाव पड़ा।

कैथोलिक प्रभुत्व राज्यों में प्रोटेस्टेण्टों का और प्रोटेस्टेण्ट प्रमुख राज्यों में कैथोलिक का दमन हुआ। यूरोप के ईसाई राज्यों में सम्प्रदाय के आधार पर संघर्ष शुरू हुआ। जिसकी प्रतिक्रिया स्वरूप धार्मिक क्षेत्र में सहिष्णुता का विचार लोकप्रिय हुआ। उदारवादी विचारधारा में धर्मनिरपेक्ष और सहिष्णुता अनिवार्य मुख्य हो गये।

3.1.8 मूल्यांकन

धर्म सुधार आन्दोलन को अपने समय में पर्याप्त विरोध का सामना करना पड़ा। स्वयं चर्च के भीतर उसके समर्थकों में अपनी स्थिति को लेकर एक सुधारवादी चेतना पैदा हुई। वे अपनी कमियों के प्रति सचेत हुये। उन्होंने सामूहिक रूप से इस पर विचार विमर्श करने के लिये टेण्ड नामक जगह पर लगभग बीस सालों (1545-1563) तक नियमित बैठके कर सुधारवादी प्रस्ताव पास किये। चर्च के उपर से नीचे तक संस्थागत सुधार किये गये और भ्रष्टाचार दूर करने की कोशिश की गयी।

चर्च में आन्तरिक स्तर पर विवादों का निपटारा करने के लिये 'इंक्विजिशन' नामक धार्मिक न्यायालय की स्थापना की गई। इस न्यायालय ने कैथोलिक धर्म के विरूद्ध काम करने वालों का कठोरता से दमन किया। इस धार्मिक न्यायालय के हजारों लोगों को मृत्यु दण्ड की सजा दी। इसकी सहायता जेसुइट सोसाइटी करती थी जिसकी स्थापना लगभग इसके साथ ही हुई थी। सैनिक ढंग से गठित इस संगठन का प्रमुख उद्देश्य अनुशासन और आज्ञापालन था। पोप और चर्च के प्रति समर्पित होकर बन्द समूह के सदस्य के रूप में इसने प्रोटेस्टेण्टों से वैचारिक और जमीनी स्तर पर मुकाबला किया। कैथोलिक धर्म के पुराने गौरव को स्थापित करना इनका लक्ष्य था।

संयोग से सोलहवीं शताब्दी में नैतिक और धर्मपरायण पोप पाल तृतीय के नेतृत्व में चर्च ने अपने प्राचीन गौरव को प्राप्त करने का प्रयास किया। जिसे प्रति धर्म सुधार आन्दोलन की संज्ञा दी गयी।

इस प्रकार धर्म सुधार आन्दोलन दोहरे रूप में राजनीति को प्रभावित करने में सफल रहा। एक ओर उसने आमजन में धर्म के रूढ़ और अपरिवर्तनीय ढाँचे के विरूद्ध आक्रोश को व्यवस्थित स्वर दिया। कैथोलिकों को समयानुकूल बनने के लिये प्रेरित किया। प्रोटेस्टेण्टों और कैथोलिकों दोनों ने आन्तरिक

सुधार किये। दूसरी ओर राज्य और धर्म के सम्बन्धों की नयी व्याख्या सामने आई। बाद के वर्षों में निरकुंश राजतंत्र के समर्थकों के साथ-साथ लोकतंत्र, व्यक्तिवादी और उदारवादी भी इस आन्दोलन से प्रभावित हुये।

3.1.9 पाठसार/सारांश

इस पाठ में हमने पुनर्जागरण और धर्म सुधार आन्दोलन के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक कारणों को जाना साथ ही आने वाले समय में इसका यूरोपीय समाज सहित पूरे विश्व पर पड़ने वाले प्रभाव को समझने के सफल रहे। इन दोनों आन्दोलनों ने राजनीति विज्ञान के विकास उसकी विभिन्न संकल्पनाओं को प्रभावित किया और अपने समय की मांग को प्रतिविभक्ति किया। मध्यकाल में धर्म की सर्वाधिकारवादी स्थिति इन्हीं आन्दोलनों तथा प्रवृत्तियों के फलस्वरूप समाप्त हुई और राजनीति में अन्ततः व्यक्ति के महत्व को पहचाना गया।

3.1.10 अभ्यास/बोध प्रश्न (बहुविकल्पीय, लघु उत्तरीय तथा दीर्घ उत्तरीय)

3.1.10.1 लघु उत्तरीय प्रश्न:

1. मार्टिन लूथर ने अपनी माँगों को किस सन् में प्रस्तुत किया ?
   (1) (2) (3) (4)
2. काल्विन कहाँ का रहने वाला था ?
   (1) ब्रिटेन (2) फ्रांस (3) जर्मनी (4) स्विट्जरलैण्ड
3. पुनर्जागरण की प्रवृत्ति सर्वप्रथम कब दिखनी शुरू हुई ?
   (1) तेरहवीं शताब्दी (2) चैंदहवीं शताब्दी (3) पंद्रहवीं शताब्दी (4) सोलहवीं शताब्दी
4. पुनर्जागरण का प्रारम्भ सामान्यतया किससे जोड़ा जाता है ?
   (1) कुस्तुततुनिया के पतन से
   (2) रोम में ईसाई धर्म की स्वीकार्यता से
   (3) अमेरिका की खोज से।
   (4) भारत की खोज से।
5. टेबिल टाक किसकी रचनाकार है?
   (1) काल्विन (2) जॉन नाक्स (3) ज्विंगली (4) मार्टिन लूथर

3.1.10.2 लघु उत्तरीय प्रश्न:

1. पुनर्जागरण की परिभाषा दीजिये ?
2. पुनर्जागरण के चार प्रभाव लिखिये ?
3. मार्टिन लूथर की कैथोलिक चर्च के विरूद्ध प्रमुख शिकायत क्या थी ?
4. 'निष्क्रिय आज्ञाकारिता' का क्या आशय था ?
5. धर्म सुधार आन्दोलन का क्या उद्देश्य था ?
6. काल्विन ने धर्म सुधार आन्दोलन में क्या योगदान दिया ?
7. जॉन नाक्स के योगदान को संक्षेप में बताईये ?
8. मेलाकथान ने धर्म सुधार आन्दोलन में क्या भूमिका निभाई ?

3.1.10.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न:

1. पुनर्जागरण की भाषा देते हुये उसके राजनीतिक प्रभाव की समीक्षा कीजिये ?
2. धर्म सुधार आन्दोलन ने अपने समय को कैसे प्रभावित किया ?
3. धर्म सुधार आन्दोलन की प्रतिक्रिया स्वरूप धार्मिक प्रतिक्रिया व राजनीतिक प्रभाव का विस्तार से मूल्यांकन कीजिए ?

3.1.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. जे0 जाब्ब (2018) ए वल्र्ड हिस्ट्री आफ पालिटिकल लाट, एडवर्ड एलगर पब्लिकेशन, न्यूकैस्टल, केलटनहम आईएसबीएन 9781786435545
2. जार्ज एच0 सेबाइन (1973) ए हिस्ट्री आफ पालिटिकल थ्योरी, चतुर्थ संस्करण, आक्सफोर्ड पब्लिकेशन, नई दिल्ली
3. ओ0पी0 गाबा (2017), वेस्टर्न पालिटिकल थाटब, मयूर पेपरबैक नोएडा।
4. ज्योति प्रसाद सूद (2002), आधुनिक राजनीतिक विचारों का इतिहास (चार भागों में), मेरठ, के0 नाथ एण्ड कम्पनी, मेरठ।
5. लाल बहादुर वर्मा (1999), आधुनिक विश्व का इतिहास (इलाहाबाद), अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद
6. पार्थसारथी गुप्ता (सं0) (1999), आधुनिक पश्चिम का उदय, दिल्ली हिन्दी माध्यम कार्यान्वय

इकाई 2: मैकियावेली के राजनीतिक विचार

इकाई की रूपरेखा

3.2.1 उद्देश्य कथन
3.2.2 प्रस्तावना
3.2.3 पृष्ठभूमि
3.2.4 पद्धति
3.2.5 मानव स्वभाव पर विचार
3.2.6 राज्य तथा सरकार संबंधी विचार
3.2.6.1 सरकार की विशेषताए
3.2.6.2 मौलिकता
3.2.7 विधायक पर विचार
3.2.8 धर्म और नैतिकता पर विचार
3.2.8.1 धर्म संबंधी विश्लेषण
3.2.8.2 नैतिकता पर विचार
3.2.9 मैकियावेली के विचारों की आलोचना
3.2.10 युग का शिशु: मैकियावेली
3.2.11 विवेचना
3.2.12 पाठसार/सारांश
3.2.13 अभ्यास/बोध प्रश्न (बहुविकल्पीय, लघुउत्तरीय तथा दीर्घउत्तरीय)
3.2.13.1 बहुविकल्पीय प्रश्न
3.2.13.2 लघु उत्तरीय प्रश्न
3.2.13.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
3.2.14 कठिन शब्दावली
3.2.15 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

3.2.1 उद्देश्य कथन:

1. मैकियावेली द्वारा विचारों के प्रस्तुतिकरण के साथ ही आधुनिक राजनीतिक विचारों की शुरूआत मानी जाती है। राजनीति सहित किसी भी अनुशासन में विशेषकर एक प्रवृत्ति के रूप में, ऐसा कभी नहीं होता कि इतिहास की एक प्रवृत्ति समय विशेष पर समाप्त हो जाये और दूसरी प्रवृत्ति उसके बाद पृथक रूप से शुरू हो। इतिहास में संक्रमण काल एक अनिवार्य शर्त होती है। राजनीतिक विचारों के इतिहास में भी यह कथन बैठता है। मैकियावेली के विचारों के साथ आधुनिक युग की शुरूआत मानना एक सुविधापूर्ण मान्यता है। मैकियावेली से पूर्व भी मध्ययुगीन राजनीतिक प्रवृत्तियों का विरोध करने वाले राजनीतिक चिन्तकों की उपस्थिति थी। उनके विचारों में मध्ययुग के धर्म प्रधान प्रवृत्ति का विरोध दिखाई दे रहा था। साथ ही साथ वह एक सर्वोच्च संस्था के रूप में राज्य को महत्व दिये जाने एवं स्थापित करने के समर्थक थे किन्तु उनमें से कोई विचारक सम्पूर्णता में अपने विचार व्यक्त नहीं कर सका था। इस अध्याय में हम

मैकियावेली के राज्य सम्बन्धी विचारों के माध्यम से सोलहवीं शताब्दी के परिवर्तित होते युग में आधुनिक राजनीतिक विचारों के उदय की पृष्ठभूमि को समझ सकेंगे।

2. मैकियावेली ने अपने अध्ययन प्रणाली को भी बदला। मध्ययुगीन निमयनात्मक प्रणाली का परित्याग करने उसने पर्यवेक्षणात्मक और ऐतिहासिक अध्ययन प्रणाली अपनाई। इस अध्याय में हम विषयवस्तु से आगे बढ़कर अध्ययन पद्धति में बदलाव के कारणों और प्रभाव को समझ सकेगें। साथ ही साथ मैकियावेली के आधुनिक राजनीतिक चिन्तन में महत्वपूर्ण अवदान धर्म और नैतिकता से राजनीति के पृथक्करण, मानव स्वभाव राज्य और सरकार के प्रति उसके दृष्टिकोण, आधुनिक राष्ट्र राज्य की संकल्पना का उसके ऐतिहासिक व भविष्यकालीन सन्दर्भों में विश्लेषित कर सकेगें।

3.2.2 प्रस्तावना

निक्कोलो मैकियावेली पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी के सन्धिकाल में राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में एक विशिष्ट और मौलिक विचारक हें राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में उसका महत्व आधुनिक दृष्टिकोण और मानकों के आधार पर अपने विचार प्रस्तुत करने से है। उसकी राजनीतिक चिन्ताएं राष्ट्र-राज्य से जुड़ी हुई थी। जिसमें राज्य से उपर धर्मतंत्र पोपशाही का विरोध किया गया। राजनीतिक विचार को राज्य केन्द्रित किये जाने का समर्थन किया गया तथा धर्म को राज्य की तुलना में द्वितीयक स्थान दिया गया। यह मध्ययुगीन राजनीतिक विचारों के विरूद्ध अभूतपूर्व विचार था। जिसने मैकियावेली को सम्पूर्णता में आधुनिक राजनीतिक विचारक के रूप में स्थापित कर दिया। उसके पहले भी धर्म और राज्य के पृथक्करण के विषय में राजनीतिक विचार व्यक्त किये गये थे किन्तु वे इतने स्पष्ट और सम्पूर्णता में नहीं थे। मार्सिलियो ऑफ पडुआ ने अरस्तू के विचारों से प्रभावित होते हुये मध्यकालीन विचारों पर प्रहार किया था। उसने राज्य और उसकी स्वतंत्र सत्ता पर बल दिया उसने पोप और चर्च की अबाध शक्ति का पूरा विरोध किया। पोप दावों का विरोध उसके विरूद्ध राज्यशक्ति को स्थापित भी करता रहा किन्तु मार्सिलियो के विचार के केन्द्र में पोपशाही और चर्च की सत्ता रही। मैकियावेली ने उससे आगे बढ़कर स्पष्ट रूप से राज्य तथा सरकार के आधुनिक स्वरूप की संकल्पना प्रस्तुत की जिसमें राज्य को पारलौकिक आधार पर गड़े गये दावों के विरूद्ध पूरी शक्ति दी गई थी। हालाकि मैकियावेली ने सम्प्रभुता शब्द का प्रयोग नहीं किया किन्तु 'सर्वशक्तिमान विधायक'की संकल्पना के रूप उसे प्रस्तुत किया। राष्ट्रीय शक्ति, राष्ट्रीय आधार पर गठित सेना और स्थानीय पहचान पर गठित राज्य की सम्प्रभु शक्ति आधुनिक राजनीति को पूरी तरह प्रस्तुत करने में सफल रहे। मैकियावेली की यही विशेषता उसे विशुद्ध; रूप से पहले आधुनिक राजनीतिक विचारक के रूप में स्थापित करती है।

3.2.3 पृष्ठभूमि

निक्कोलो मैकियावेली (1469-1527) का जन्म इटली के फ्लोरेंस शहर में हुआ था। मैकियावेली ने अपने सार्वजनिक जीवन की शुरूआत दूतावास कार्यालय में एक लिपिक के रूप में की। बाद में वह फ्लोरेंस की ओर से दूत की भूमिका सम्भालते हुये बाहर अन्य राज्यों में कार्य किया। तत्कालीन यूरोप के शक्तिशाली और प्रभावशाली राजनीतिज्ञों और व्यक्तियों से मिलने का अवसर उसे इसी रूप में मिला। इस दौरान उसने यह समझ विकसित की, कि इटली को एकीकरण न होने का कारण एक शक्तिशाली केन्द्रीय सत्ता का अभाव धर्म प्रधान के रूप में पोप का हस्तक्षेप है। वह वालेनिटनो के ड्यूक सीजर बोर्जिया से बहुत प्रभावित हुआ। इस शासक को अपने राजनीतिक जीवन में बहुत सफलता

मिली थी। वह राजनीति में नैतिक साधनों के प्रयोग से दूर रहते हुये राज्य को सशक्त करने में सफल रहा था। मैकियावेली इससे प्रभावित हुआ। फ्लोरेंस की राजनीतिक उलटफेर से मैकियावेली का व्यावहारिक जीवन प्रभावित हुआ मैकियावेली की तीव्र इच्छा यूरोप के अन्य प्रभावशाली देशों जैसे ब्रिटेन जर्मनी और फ्रांस की भाँति इटली का एकीकरण कराने की थी जिसमें व्यावहारिक राजनीति और शक्ति बाधा उत्पन्न कर रही थी। इटली की भौगोलिक और राजनीतिक एकता उसके राजनीतिक चिन्तन का उद्देश्य था। हाँलाकि यह कार्य उसके जीवनकाल में सम्पन्न नहीं हो पाया किन्तु इसी के लिये प्रयास करने के क्रम में उसने आधुनिक राज्य का भरपूर समर्थन किया। आधुनिक राज्य की विशेषताओं का सैद्धान्तिक आधार स्पष्ट करने का प्रयास किया। धर्म और नैतिकता को राज्य के मामले में पृथक रखने का विचार, अध्ययन पद्धति में वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण, मानव स्वभाव का यथार्थवादी चित्रण और राज्य के स्वरूप का लौकिक विश्लेषण समग्रता से मैकियावेली के चिन्तन में ही प्रस्तुत हुआ। सामन्तवादी अर्थव्यवस्था से राष्ट्र-राज्य के रूप में तत्कालीन परिवर्तन तर्कसंगत क्रम में राजनीतिक दर्शन की माँग करता था जिसकी पूर्ति मैकियावेली द्वारा की गई। उभरते हुये मध्यमवर्ग के लिये यह दर्शन मनोनुकूल साबित हुआ। मैकियावेली का दर्शन तत्कालीन आर्थिक और सामाजिक परिस्थिति को प्रतिविम्बित करता है। जिसमें सामाजिक समूहों ने धर्मतंत्र के विरूद्ध विद्रोह करके स्वतंत्र पहल की शक्ति मांगी और व्यवस्था के लिये राष्ट्र-राज्य का समर्थन किया। अपने युग की भावनाओं को राजनीतिक अभिव्यक्ति देने के कारण ही मैकियावेली को 'अपने युग का शिशु'और 'आधुनिक राजनीतिक चिन्तन का पिता' कहा जाता है।

3.2.4 पद्धति

मैकियावेली की अध्ययन पद्धति पूर्वकाल की मध्यकालीन पद्धति से स्पष्टतया भिन्न थी। उनहोनें अपने विचार व्यक्त करने और उसे पुष्ट करने के क्रम में ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग किया। मध्ययुग के विचारक पूर्व स्थापित मान्यताओं को सत्य मानकर अपने विचार व्यक्त करते और उनके बीच निगमनात्मक पद्धति ही लोकप्रिय थी। मैकियावेली ने इसके इतर आगमनात्मक वैज्ञानिक पद्धति अपनाने की पूरी कोशिष की। अरस्तू की परम्परा का अनुसरण करते हुये मैकियावेली ने अपनी विचारों की पुष्टि के लिये इतिहास की घटनाओं में साक्ष्य तलाश किये। मानव स्वभाव, राज्य की केन्द्रीय शक्ति, राजाओं की सफलता के लिये उचित मार्ग पर विचार करते हुये उसने इतिहास की ओर देखा। उससे निष्कर्ष निकाल अपने समकालीन घटनाओं पर लागू किया। उसके निष्कर्ष पर्यवेक्षण पर आधारित हैं इस पद्धति का प्रयोग करने वाला मैकियावेली पहला आधुनिक विचारक कहा जाता है।

मैकियावेली को आधुनिक वैज्ञानिक अध्ययन पद्धति का पहला प्रयोगकत्ता मानने की मान्यता के विरूद्ध प्रो0 डनिंग और सेबाइन विचार रखते है। डनिंग का मानना था कि मैकियावेली की पद्धति उपरी तौर पर ऐतिहासिक है। उसने अपने निष्कर्ष अपने स्वयं के अनुभव से निकाले और उसकी पुष्टि ऐतिहासिक घटनाओं के उदाहरण देकर करने का प्रयास किया। उसने 'डिकोर्स आन लिवी'जैसी पुस्तक में किसी सैद्धान्तिकी निर्मित करने का प्रयास न करके अपने स्वयं निर्धारित सिद्धान्तों की पुष्टि के लिये किया। वही सेबाइन ने कहा कि मैकियावेली ने अपने उदाहरण इतिहास की घटनाओं से चुनकर दिये है। इसी को ऐतिहासिक पद्धति नहीं कहा जा सकता। मैकियावेली ने अपनी पूर्वधारणाओं को सिद्ध करने के लिये इतिहास की घटनाओं का सीमित और चयनित रूप से सहारा लिया हैं इसलिये उसकी अध्ययन पद्धति को विशुद्ध ऐतिहासिक नहीं कहा जा सकता। सेबाइन के अनुसार मैकियावेली की पद्धति को ऐतिहासिक कहना भ्रमपूर्ण है। उसके अनुसार उसकी पद्धति पर्यवेक्षणात्मक थी।

मैकियावेली के अध्ययन पद्धति की आलोचना के बाद भी यह स्वीकार करना होगा कि उसने मध्ययुगीन विचारकों की पद्धति का अनुसरण नहीं किया। जहाँ आस्था का तत्व सर्वोपरि होता था। उसके विचार पद्धति में एक संघर्ष के दर्शन होते है जो पूर्व स्थापित मान्यता और सामाजिक व राजनैतिक यथार्थ के बीच है। उसकी रचनाएं धार्मिक विषयों और तौर तरीकों से पूरी तरह बाहर है और राजनीतिक यथार्थ की आस्थारहित पड़ताल करने की कोशिश करती है।

अपने विचारों को व्यवस्थित रूप देते हुये उसने कई ग्रन्थों की रचना की। उसकी सुप्रसिद्ध रचनाओं में 'डिकोर्स आन लिवी'तथा 'द प्रिन्स'है। विशेषकर द प्रिन्स (1513) में उसके राजनीतिक विचार व्यवस्थित रूप में मिलते है। तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक जीवन की चर्चा करने के साथ इस पुस्तक में मैकियावेली ने अपने राजनीतिक मंतव्यों तथा लक्ष्यों को स्पष्ट किया है जो इटली की राजनीतिक एकता के लिये उसे आवश्यक लगे। इस रचना को उसने अर्विनो के ड्यूक लोटेंजो को समर्पित किया। इसमें राजतंत्र का समर्थन है और धर्म व नैतिकता से राजनीति के पृथक्करण की वकालत की गई है। दूसरे ग्रन्थ 'डिकोर्स आन लिवी'का विषय रोमन राजतंत्र व गणतांत्रिक व्यवस्था है। जिसमें गणतांत्रिक व्यवस्था को समर्थन किया गया है। इसमें शासन के आदर्श का विस्तार से वर्णन है। इसके अतिरिक्त मैकियावेली ने 'द आर्ट ऑफ वाट'तथा 'द हिस्ट्री ऑफ फ्लोरेंस'नामक ग्रन्थ की रचना भी की। किन्तु मैकियावेली की प्रसिद्धि का कारण उसकी दो रचनाएं 'प्रिन्स'और 'डिकोर्स ऑन न लिवी'ही रही।

3.2.5 मानव स्वभाव पर विचार

मानव स्वभाव के सम्बन्ध में मैकियावेली के विचार मध्ययुगीन आस्थाप्रधान विचारकों से अलग है। साथ ही वह प्राचीन यूनानी विचारों से भी अलग मान्यता रखते है। मैकियावेली मानव स्वभाव का नकारात्मक चित्रण करता है। उसके अनुसार मनुष्य मूलतः नकारात्मक स्वाथी, प्रतिस्पर्धी, कायर और मूल्यहीन होता है। उसने मनुष्य को दुष्टत, मूर्खता और दुर्बलता का मिश्रण बताया। मनुष्य के स्वभाव को उसका अंह निर्धारित करता है। अंहवादी होने के कारण वह स्वयं को ही साध्य मानता है। उसे दूसरों के साथ सहयोग, सद्भाव और सहानुभूति नहीं रखता है। उसके लिये अपना जीवन, स्वार्थ और हित सर्वोपरी होते है जिसकी रक्षा और उपलब्धि के लिये वह संघर्ष हेतु तत्पर रहता है। मानव स्वयं समाज में सकारात्मक वातावरण का सृजन नहीं कर सकता। वह सहयोग करने वालों के साथ धोखा करता है। उसके लिये कोई नैतिक मूल्य और सदाचार के नियम नहीं है। वह स्वार्थ को सर्वोपरि रखता है।

मैकियावेली के अनुसार मनुष्य में सम्पत्ति प्राप्त करने की अभिलाषा सर्वोपरि होती है। वह अधिक से अधिक और सबसे अधिक प्राप्त करना चाहता है। उसकी इच्छा की कोई सीमा नहीं होती है। प्रत्येक व्यक्ति में यह इच्छा होने के कारण सभी एक दूसरे के विरूद्ध संघर्ष में लगे होते है। मैकियावेली ने कहा कि 'व्यक्ति पिता की मृत्यु का दुख आसानी से भूल जाते है पर पैसे की हानि नहीं भूलते। केवल मनुष्यों के उपर निर्भर समाज का पतन अवश्यभावी होता है। मैकियावेली मानव स्वभाव के स्याह पक्ष का उसके प्रभुत्वकारी पक्ष के रूप में प्रस्तुत किया और इस नकारात्मक के आधार पर भविष्यवाणी की, कि मानव सभ्यता का पतन अवश्य होगा।

स्वयं को संरक्षित करने की भावना स्वार्थ के कारण है। शक्ति प्राप्त करने की इच्छा इसी से सम्बन्धित है जिसके लिये वह दूसरों पर प्रभुत्व रखना चाहता है। प्रभुतव की प्रवृत्ति संघर्ष को जन्म देती है। दूसरों के साथ संघर्ष में वह अन्य से सहयोग भी करता है लेकिन यह सहयोग शर्तों पर आधारित होता है। वह यथार्थपूर्ति के लिए होता है।

मानव की मूल स्वभाव को समझ कर वह राज्य तथा उसके संचालकों के लिये कुछ सामान्य नियम प्राप्त करना मैकियावेली का उद्देश्य था। मानव स्वभाव पर विचार पर उसने निष्कर्ष निकाला कि शासक को सदैव मानव के स्वार्थी स्वभाव को ध्यान रखना होगा। प्रत्येक की स्वार्थ भावना को नियन्त्रित करने के लिये राज्य शक्तिशाली होना चाहिए। केवल शक्तिशाली और निरकुंश शासक ही इस प्रवृत्ति पर रोक लगाकर व्यवस्था को सुदृढ़ कर सकता है। सेबाइन ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि 'मनुष्य सामान्यता बुरे होते है और एक बुद्धिमान शासन अपनी नीतियाँ इसी धारणा को आधार बनाकर बनानी चाहिए। उसने (मैकियावेली ने) इस बात पर विशेष बल दिया कि शासक को सम्पत्ति और जीवन की सुरक्षा पर ध्यान देना चाहिए।

मैकियावेली ने मानवीय मनोविज्ञान से शासन और उसके अध्ययन को सम्बन्धित करने का प्रयास किया। हाँलाकि यह चित्रण नकारात्मक है और राज्य व शासक को इसी तर्क पर शक्ति तथा निरकुंशता के लिये औचित्य उपलब्ध कराता है किन्तु इस दृष्टिकोण ने आगे चलकर विचारकों को प्रभावित किया। विशेषकर हाब्स ने इस विचार को पूर्णता तक पहुँचाया।

3.2.6 राज्य और सरकार सम्बन्धी विचार

मैकियावेली के राज्य सम्बन्धी विचार मानव और मानवीय स्वभाव के विषय में उसके विचारों के तार्किक क्रम में है। उसके अनुसार मनुष्य के स्वार्थी स्वभाव परस्पर प्रतिस्पर्धा और प्रतिस्पर्धा अराजकता को जन्म देती है। अवश्यकता को निरकुंश केन्द्रीकृत सर्वोच्च शक्ति द्वारा ही दूर किया जा सकता है। इनके लिये राज्य अस्तित्व में आता है। राज्य व्यक्तियों द्वारा बनाई गई एक कृत्रिम संस्था है जिसका प्रमुख उद्देश्य व्यवस्था बनाए रखना है। राज्य मानव द्वारा बनायी गई अन्य सभी संस्थाओं से उच्च है और उनपर नियन्त्रण रखती है।

राज्य एक परिवर्तनशील संस्था है। उसका विकास उसके नेतृत्व और नीतियों पर निर्भर करता है। राज्य के संचालकों को सदैव प्रयत्न करना चाहिए कि राज्य शक्तिशाली बने। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'द प्रिन्स'में उसने इस विचार को विस्तार से प्रस्तुत किया है। उसके सुझाव सामान्य किस्म के है और नितान्त कार्यकारी है। किन्तु राष्ट्र-राज्य की ओर तत्कालीन ऐतिहासिक रूझान को देखते हुए महत्वपूर्ण बन जाते है। राज्य को सैनिक रूप से शक्तिशाली होने का सुझाव देने, राष्ट्रीय सेना के गठन का विचार, राजा या शासक को सफलता हेतु व्यावहारिक नीतियों के अनुसरण का विचार राज्य सम्बन्धी उसके विचार के महत्वपूर्ण अंग है। हाँलाकि मैकियावेली ने आधुनिक राष्ट्र राज्य के प्रमुख् तत्व सम्प्रभुता पर विचार नहीं किया परनतु वह राज्य को अन्य संस्थाओं के सापेक्ष प्रमुख और सर्वोच्च संस्था के रूप में प्रस्तुत करने में सफल रहा जो आधुनिक राजनीतिक विचार में प्रमुख स्थान रखता है।

इसके साथ ही उसने सरकार के स्वरूप पर भी विचार किया। सरकार के स्वरूप और वर्गीकरण के विषय पर व अरस्तू और सिसरो का अनुसरण करता है। उन्हीं के अनुरूप मैकियावेली यह मानता है कि सरकार के शुद्ध और अशुद्ध मिलाकर कुल छः प्रकार के होते है। राजतंत्र, कुलीनतंत्र और गणतंत्र सरकारों का शुद्ध रूप है जबकि निरकुंशतंत्र, धनिकतंत्र और लोकतंत्र सरकारों का अशुद्ध रूप है। पहली श्रेणी में एक, कुछ या सभी शासक सार्वजनिक हित में कार्य करते है जबकि दूसरी श्रेणी में शासक अपने निजी हित में शासन करते है। मैकियावेली मिश्रित संविधान को सर्वश्रेष्ठ कहता है क्योंकि उसमें शुद्ध सरकार के सभी सदगुण विद्यमान होते है।

3.2.6.1 सरकार की विशेषताएं

राजतंत्रीय शासन प्रणाली पर अपनी पुस्तक 'प्रिन्स'में मैकियावेली ने विस्तार से विचार किया है। उसके अनुसार राजतंत्र पैतृक हो या कृत्रिम (अन्य राज्य को परास्त कर प्राप्त किया हुआ) उसमें किसी एक व्यक्ति में सारे अधिकार केन्द्रित होते है और उसकी शक्ति पर किसी भी अन्य सत्ता का नियन्त्रण नहीं होता है। जिन देशों में नागरिकों के बीच एकता का अभाव होता है। परस्पर संघर्ष की स्थिति बनी होती है वहाँ राजतंत्रीय शासन व्यवस्था ही अच्छी होती है। वह राजतंत्र को प्रिंसिपेलिटी (च्तपदबपचंसपजल) नाम देता है।

मैकियावेली ने कुलीनतंत्र का समर्थन नहीं किया। कुलीनतंत्र में कुछ शक्तिशाली लोग विशेषकर सामाजिक रूप से प्रभुत्वशाली सामन्त शासन शक्ति का प्रयोग करते है। इस वर्ग का हित सार्वजनिक हित पर प्रभावी हो जाता है। राष्ट्र की आवश्यकताओं की अनदेखी की जाती है। इटली की तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति में यही तंत्र उपस्थित था और इटली के एकीकरण में बाधा बना हुआ था। इसलिये अपने व्यावहारिक मन्तव्यों में भी मैकियावेली इस तरह के शासन का समर्थन नहीं करता।

अपनी दूसरी प्रसिद्ध पुस्तक 'डिसकोर्सेज' में वह गणतंत्र की अपनी समीक्षा प्रस्तुत करता है। वह गणतंत्र की सामान्यतया प्रंशसा करता है। उसके अनुसार ऐसे राज्य में जहाँ जनता शिक्षित, अनुशासित और सार्वजनिक कर्तव्यों को लेकर सहज होती है वहाँ गणतांत्रिक व्यवस्था सफल होती है। जनता राजनीति में सक्रिय रूप से भागीदार होती है। स्वयं नागरिकों का नैतिक और बौद्धिक स्तर ऊँचा होता है। गणतंत्र का शासन बल नहीं बल्कि सहमति पर आधारित कानून से चलता है। एक गणतांत्रिक राज्य के अन्तर्गत नागरिकों को बहुत से अधिकार प्राप्त होते है जिनकी रक्षा राज्य करता है। विशेषकर सम्पत्ति के अधिकार की रक्षा करने का समर्थन मैकियावेली द्वारा किया जाता है। शासकों को जनमत का सम्मान भी करना चाहिए। गणतांत्रिक शासन कई दृष्टिकोण से उपयोगी होता है। राजनीतिक शक्ति और आमजन की साझेदारी इसी शासनतंत्र में अच्छी तरह से सामने आती है। लोगों का न्यायबोध, व्यवस्था तथा कानून के प्रति विश्वास तथा संस्थाओं के प्रति आस्था गणतांत्रिक शासन व्यवस्था में अधिक पाई जाती है। हाँलाकि इस प्रकार की शासन व्यवस्था में राज्य की शक्ति अपेक्षाकृत कमजोर मानी है। साथ ही नागरिकों के बीच की सामाजिक एकता बारीक सन्तुलन पर टिकी होती है।

3.2.6.2 मौलिकता

मैकियावेली के शासन या सरकार के वर्गीकरण और उसकी विशेषताए बताने का एक तत्कालीन कारण था जिसको लक्ष्य करके मैकियावेली द्वारा सारा राजनीतिक विचार लिखा गया था। वह इटली का एकीकरण फ्रांस या जर्मनी की तरह कराना चाहता था इसलिए जहाँ एक ओर विचार के स्तर पर गणतंत्र का वर्णन अच्छी विशेषता के साथ करता है वही अपने व्यावहारिक लक्ष्य के कारण वह राजतंत्र को उचित मानता है। उसका मानना था कि ऐसी निरकुंश राजतंत्र के अधीन ही इटली जैसे राज्य का एकीकरण किया जा सकता है और उसे राष्ट्रीय राज्य में बदला जा सकता है। सामान्तों के प्रभुत्व वाले कुलीनतंत्र का विरोध भी उसने इसी कारण से किया।

3.2.7 विधायक का विचार

मैकियावेली के राजनीतिक चिन्तन में विधायक (The Omnlpotent Leglslatlve) की मौलिक कल्पना सामने आती हे। उसका विचार है कि शासन के किसी भी रूप में एक शक्तिशाली तथा सर्वोच्च व्यक्ति द्वारा ही व्यवस्था कायम रखी जाती है। इसी व्यक्ति विशेष द्वारा राजतंत्र या गणतंत्र का

व्यवस्थित संचालन सम्भव है। साधारण अर्थों में यह आधुनिक शासक के समतुल्य है। मैकियावेली इस व्यक्ति विशेष 'विधिदाता'या 'विधायक'की कल्पना को महत्वपूर्ण मानता है। उसके अनुसार स्वयं राज्य के नागरिकों का चरित्र तथा राज्य का वर्तमान व भविष्य 'विधि-दाता' की योग्यता पर निर्भर करता है। इसके द्वारा बनाये गये दिन-प्रतिदिन के नियमों से लेकर सार्वभौमिक आचरण के अन्तर्गत नैतिक नियम सभी पूरे राज्य व नागरिकों को प्रभावित करते है।

मैकियावेली विधायक की संकल्पना व्यापक व शक्तिशाली व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत करता है। उसके भीतर राज्य के स्वरूप को बदलने की क्षमता होती है। वह नागरिकों के सामने नये मूल्य, नये आदर्श रख सकता है। पुरानी मान्यताओं को समाप्त कर सकता है। इस प्रकार विधायक न केवल राजनीतिक रूप से शक्तिशाली होता है बल्कि वह सामाजिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में भी नेतृत्व करता है। सारे राज्य की जनता जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसके नेतृत्व, नियन्त्रण और आदेश को स्वीकार करती है।

समीक्षात्मक तौर पर कहा जा सकता है कि मैकियावेली राज्य की सर्वोच्चता के लिये 'सम्प्रभुता'की संकल्पना विकसित करने के प्रयत्न में अपने निष्कर्ष ऐसे विधायक की कल्पना में प्रस्तुत करता है जो व्यक्ति विशेष है। इस व्यक्ति विशेष में सारी विशेषताएं सम्प्रभु शक्ति जैसी है किन्तु इसकी कमी यह है कि यह सामान्य अवधारणा के रूप में प्रतिष्ठित नहीं की जाती है। विधायक व्यक्ति विशेष है इसलिये उसकी अस्थिरता के साथ राज्य भी अस्थिर हो जाना चाहिए। यह निष्कर्ष स्वयं मैकियावेली की प्रस्थापना के विरूद्ध हो जाता है। बाद में इस संकल्पना को हाब्स ने विकसित किया। वास्तव में मैकियावेली की तात्कालिक व्यावहारिक राजनीतिक पर दृष्टि और उस पर अपने राजनीतिक मन्तव्यों को आरोपित करने की तीव्र इच्छा का प्रतिफल विभिन्न विचारों के रूप में सामने आता हे। सर्वशक्तिमान विधायक की संकल्पना भी उसी का एक प्रतिफल है। इटली के एकीकरण को वह व्यक्ति विशेष शक्तिशाली शासक के नेतृत्व में ही सम्भव पाता है। इसलिए वह गम्भीर राजनीतिक निष्कर्षों की ओर नहीं जाता। यह मैकियावेली के चिन्तन की सीमा भी है।

इसी से सम्बन्धित उसकी विधि सम्बन्धी विचार भी है। उसने विधि के उपर स्वतत्रंत रूप से विचार व्यक्त नहीं किया है किन्तु उसके निष्कर्षों में विधि शासक की इच्छा के रूप में सामने आती है। विधि का निर्माण शासक की सर्वोच्च शक्ति है। मैकियावेली के चिन्तन में कानून मुख्यतः नागरिक जीवन से सम्बन्धित है इन्हीं के माध्यम से शासक अपनी इच्छा नागरिकों पर लागू करता है। इसका प्रमुख उद्देश्य राज्य की एकता प्राप्त करना है। विधि सम्बन्धी विचारों में वह सामाजिक जीवन तथा राजकीय व नागरिक आवश्यकता के सन्दर्भ से ही विचार करता है। उसके विधि सम्बन्धी विचार लौकिक है। मध्यकालीन धार्मिक या दैवीय उत्पत्ति आधारित विचार के दर्शन उसमें नहीं होते।

3.2.8 धर्म और नैतिकता पर विचार

जिन चुने हुए विचारों के कारण मैकियावेली की प्रसिद्धि है उसमें सबसे प्रमुख धर्म और नैतिकता सम्बन्धी उसके विचार है। मध्ययुगीन परम्परा और चिन्तन के ठीक विपरीत मैकियावेली ने राजनीति के साथ धर्म और नैतिकता के पृथक्करण का पूरा समर्थन किया। यह मध्ययुगीन ईसाई मान्यताओं के विरूद्ध खुला व स्पष्ट द्रोह था जिसमें आधुनिक युग की मांग को अभिव्यक्ति मिली।

3.2.8.1 धर्म संबंधी विश्लेषण

मैकियावेली राजनीति को धर्म से पृथक रखने का विचार देता है। उसके अनुसार शासक को धर्म से प्रभावित नहीं होना चाहिए। शासन एक स्वतंत्र चीज है। वह राज्य के लिए धर्मनिरपेक्षता के विचार का

प्रतिपादन करता है। पारलौकिक सत्ता से मुक्त होकर राजसत्ता के संचालन का सुझाव देता है। हाँलाकि वह धर्मविरोध नहीं है लेकिन धर्म से राजनीति के पृथक्करण का समर्थक अवश्य हें वह स्पष्ट रूप से धर्म को सामाजिक तथ्य के रूप में स्वीकार करता है और राजा को उसके साथ एक समझदारी भरा सम्बन्ध रखने का सुझाव देता है। धर्म का पालन वही तक होना चाहिए जहाँ तक वह राज्य व्यवस्था के लिए हानि न उत्पन्न करें। राज्य को धर्म और उसके संचालकों के साथ सामान्य सम्बन्ध रखने चाहिये। धर्म की उपेक्षा करने से राज्य को चुनौतियों का सामना करना पड़ सकता है और धर्म के साथ धनिष्ठ सम्बन्ध रखने अथवा उसके अधीन होने से राज्य का स्वतंत्र अस्तित्व समाप्त हो सकता है। यह विचार दो दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है पहला धार्मिक शक्ति से पृथक्करण और सर्वोच्चता का विचार मध्ययुगीन प्रवृत्तियों से अलग आधुनिक विचार को स्थापित करता है जबकि धर्म के साथ समन्वयपूर्ण सम्बन्ध सामाजिक तथ्य और राजनीतिक शक्ति के महत्वपूर्ण सम्बन्ध की ओर इंगित करता है। यथार्थवादी विचारक की भांति मैकियावेली ने धर्म के साथ संतुलित सम्बन्ध बनाने के सुझाव दिये। उसने कहा कि धर्म की उपेक्षा करने के स्थान पर धर्म के उपयोग करते हुये नागरिकों की समाज विरोधी प्रवृत्ति पर नियन्त्रण करना चाहिये। वह धार्मिक संस्थाओं, आचरणों और नियमों को संरक्षण देने का समर्थन करता है इससे जनता में संयम आज्ञापालन और कर्तव्य पालन के गुण आते है। धर्म प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से शासन में सहयोग करता है किन्तु इसका आशय धर्म नियन्त्रित अथवा धर्मकेन्द्रित शासन नहीं है।

अपनी पुस्तक 'डिस्कोर्सस'में उसने धर्म के उपयोगी प्रयोग के विषय में विशेष सुझाव दिये। इस पुस्तक में उसने इसके महत्व को रेखांकित करते हुये एक अध्याय 'राज्य में धर्म को प्रमुख स्थान देने का महत्व'भी लिखा। इसमें उसने धर्म को राज्य का साधन बताते हुये शक्तिशाली, स्वरूप और समृद्ध राज्य के लिये जरूरी बताया।

इस प्रकार मैकियावेली के धर्म सम्बन्धी विचारों को सावधानी से अध्ययन किये जाने और समझे जाने की आवश्यकता हैं वह मनुष्य या राज्य का कोई पारलौकिक उद्देश्य नहीं मानता है बल्कि धर्म के प्रयोग से लोगों पर राजकीय नियन्त्रण को सम्भव बनाने की बात करता है जो सहज रूप से बल प्रयोग के बिना सम्भव हो जाती है। मैकियावेली का धर्म पर विचार और उसके साथ सम्बन्ध राज्य को सर्वोपरि रखते हुये उसके हित में उसके इस्तेमाल से सम्बन्धित है। इसलिए यह धर्मविरोधी न होते हुये धर्मरहित विचार कहा जाता है।

3.2.8.2 नैतिकता पर विचार

नैतिकता के सम्बन्ध में मैकियावेली के विचार धर्म पर उसके विचार से साम्यता रखते है। अपनी सुप्रसिद्ध रचना 'प्रिन्स'में सफल राजा के लिये उपयोगी सुझाव देते हुए वह कहता है कि शासक के उपर नैतिकता की कोई मर्यादा, सीमा या बन्धन लागू नहीं होता है। उसको किसी नियमबद्ध आचरण के ढाँचे में नहीं बाधा जा सकता। शासक राज्य को शक्तिशाली बनाने तथा अपने साध्य को पूरा करने के लिए किसी भी साधन का प्रयोग कर सकता है। राजा को बल प्रयोग करना चाहिये साथ ही यदि वह इसके बिना चतुराई और षडयन्त्रपूर्ण तरीके से अपना लक्ष्य प्राप्त कर सकता है तब उसे इसमें संकोच नहीं करना चाहिए। नैतिक नियमों तथा तरीकों के पालन का द्वन्द्व राजा के समक्ष नहीं होना चाहिए।

राजा को आचरण के लिये मैकियावेली ने 'लोमड़ी और शेर' के लोकप्रिय रूपक का प्रयोग किया है। उसके अनुसार राजा को शेर की तरह बहादुर और लोमड़ी की तरह चतुर होना चाहिए। जिस प्रकार लोमड़ी अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये हर सम्भव तरीके से प्रयत्न करती है। राजा को भी उसी प्रकार प्रयास करना चाहिये। उसे शेर की भाँति दूसरों के लिये निष्ठुर भी होना चाहिए। वह राजा को

अवसरवादी होने की सलाह देता है। उसका कोई स्थायी मित्र अथवा शत्रु नहीं होता। समस्या अथवा लक्ष्य विशेष में शत्रु व मित्र परिभाषित होते है। इसलिये राजा को अवसर के अनुसार लोगों को साथ लेने का गुण होना चाहिये।

मैकियावेली सद्गुण को 'इच्छा और बुद्धि के मेल' के रूप में परिभाषित करता है। शासक के लिये सद्गुण यह हे कि वह चुनौती को जल्दी से जल्दी समझकर उसके अनुसार अपने साधन को प्रयोग करें। यही शासक का सद्गुण हे। ईमानदारी, न्यायप्रियता, शान्ति के लिये समर्पण, परम्परा का सम्मान सभी शासक के लिये उपरी आचरण का विषय है। इसका प्रदर्शन तभी तक किया जाना चाहिए जब तक वह राजा को जनता में स्वीकार्य और सम्मान प्राप्त करायें। वास्तव में सफलता ही शासक का एकमात्र मानक होना चाहिये। मैकियावेली का विचार है कि वह शासक अधिक सफल है जो जनता के भय का पात्र होता है। राजा जनता के प्रेम पर आश्रित होकर सफल नहीं हो सकता। हाँलाकि उसे लोकप्रिय होना चाहिये। उसे हर सम्भव तरीके से जनता के बीच चर्चा का विषय बना रहना चाहिये। हत्या, विश्वासघात और क्रूरता सभी राजा के लिये जायज है। रोम के शासक रोमुलस के विजय को वह इसी आधार पर प्रंशसा करता है कि उसने सफल होने के लिये कभी नैतिक साधनों की परवाह नहीं की।

मैकियावेली ने नैतिकता सम्बन्धी अपने विचारों को दोहरे रूप में प्रस्तुत किया। एक ओर वह शासकों के लिए नैतिकता विहीन आचरण की बात करता है वही दूसरी ओर आमजन के लिये नैतिक आचरण का समर्थन करता है। नैतिकता सम्बन्धी उसकी अवधारणा दोहरी है। व्यक्तिगत नैतिक मानदण्ड को सार्वजनिक या राजसत्ता के लिए निर्धारित आचरण से अलग करके मैकियावेली ने यह स्थापित राजनीति और नीतिशास्त्र के बीच पृथक्करण होना चाहिये। मैकियावेली ने शासक को जनकल्याण के पर्याय के रूप में लिया इसलिये वह अपने उद्देश्यों में सफल होने को सुनिश्चित होना चाहता है। उन उद्देश्यों को प्राप्त करने के साधन नैतिकता के व्यक्तिगत पैमाने पर कसता नहीं है। साधन और साध्य का यह पृथक्करण मैकियावेली को एक साथ प्रंशसा और आलोचना का पात्र बनाता है। मैकियावेली शासक के साधनों के नैतिक मूल्यांकन करने का समर्थन नहीं करता। हाँलाकि जनता में व्यक्तिगत स्तर पर वह नैतिकता की भावना के प्रसार का समर्थन करता है।

3.2.8.3 विवेचना

धर्म और नैतिकता के सम्बन्ध में अपने विचार प्रस्तुत करते समय मैकियावेली इस सुस्पष्ट संकल्पना के साथ आरम्भ करता है कि राज्य सर्वोपरि संगठन है। इसका अस्तित्व लोगों के कल्याण के लिए है। राज्य और शासक व्यवस्था कायम रखते है। इसलिये राज्य का हित सर्वोपरि होना चाहिए। राज्य विशेष श्रेणी का संगठन है। नैतिकता के व्यक्तिगत मानकों से संचालित होना राज्य के लिये सम्भव तथा उचित नहीं है। शासक व्यक्ति मात्र नहीं है वह राज्य के लिये सम्भव तथा उचित नहीं है। शासक व्यक्ति मात्र नहीं है वह राज्य रूपी सर्वोच्च संगठन का प्रतिनिधि है। इसलिये वह धर्म और नैतिकता से उस तरह बंधा नहीं होता जिस प्रकार सामान्य नागरिक बंधा होता है। वह राजा को किसी सीमा में नहीं बांधना चाहता था। एक शक्तिशाली और सफल राज्य की स्थापना मैकियावेली इसी तरीके से सम्भव मानता था।

हाँलाकि आलोचकों के अनुसार मैकियावेली ने धर्म के महत्व को न केवल तत्कालीन परिस्थितियों में कम करके देखा बल्कि राज्य में उसकी उपेक्षा के व्यावहारिक दुष्परिणामों का आकलन करने में असफल रहे। नागरिकों के बीच धर्म और नैतिकता की उपस्थिति स्वयं शासक और उसके कार्यो के लिये एक कसौटी का काम करती है। शासक और शासितों के लिये नैतिकता के अलग-अलग मानदण्डों की चर्चा करना मैकियावेली की संकीर्ण दृष्टि का परिचायक है। धर्म से राजनीति को अलग

रखने की सलाह देना साध्य और साधन के ऐक्य में विश्वास करने वाले तथा धर्म से आध्यात्मिक शक्ति अर्जित करने वाले गाँधीवादियों और शान्तिवादियों की आलोचना का विषय बनाता है। नैतिकता सम्बन्धी उनके विचार इन्हीं आधारों पर उचित नहीं लगते। इतिहास ने यह सिद्ध किया है कि राजनीति में धर्म और नैतिकता का महत्व अभी तक बना हुआ है। यह स्वयं व्यावहारिक राजनीति का हिस्सा बनी हुई है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि मैकियावेली धर्म और नैतिकता के सम्बन्ध में अपने विचार एक विशेष परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करता है। उसका एकमात्र उद्देश्य राज्य और शासक को सफल और शक्तिशाली बनना था। स्वयं जनता के गुणों को देखते हुये वह इस सम्बन्ध में अतिवादी या उदारवादी विचार प्रस्तुत करता है। ऐसे समाज जहाँ के नागरिक उदार, कर्तव्यनिष्ठ और सुशिक्षित है वहाँ धर्म और नेतिकता के मान्य तरीकों से शासक का खुला समर्थन करता है। इसके विपरीत ऐसे समाज जहाँ एकता की कमी और अनुशासन हीन जनता उपस्थित है वहाँ वह शासक को शक्तिशाली बनाने के लिए उपरोक्त विचारों का समर्थन करता है। इसलिये यह कहना उचित है कि 'वह अनैतिक नहीं, नैतिकता विरोधी था और अधार्मिक नहीं धर्मनिरप्रेक्ष्य था।'

3.2.9 मैकियावेली के विचारों की आलोचना

मैकियावेली को प्रथम आधुनिक राजनीतिक विचारक मानने के विषय में सामान्य सहमति है किन्तु मैकियावेली का राजनीतिक चिन्तन और विचार आलोचना से परे नहीं है। उसकी कमियों को फास्टर (Foster) और सेबाइन जैसे विद्वानों ने रेखांकित किया है। सर्वप्रथम उसके विचार दो रूपों में हमारे समक्ष आते है। गणतांत्रिक व्यवस्था का वर्णन करते वह सद्गुण, अच्छे शासन और शासक के गुणों की अलग व्याख्या करता है जबकि राजतंत्र के अन्तर्गत इन्हीं गुणों और संकल्पनाओं की व्याख्या भिन्न तरीके से करता है। सद्गुणों व विचारों की सामान्य संकल्पना प्रस्तुत न करना मैकियावेली के राजनीतिक दर्शन की कमी है।

मैकियावेली की रूचि गम्भीर राजनीतिक चिन्तन में नहीं दिखती है। अपनी रचनाओं 'द प्रिन्स'और 'डिस्कोर्सेज'में वह नितान्त साधारण किस्म से अपने विचार प्रस्तुत करते है जिसके पीछे कोई गम्भीर दार्शनिक और विश्लेषणात्मक पद्धति का प्रयोग नहीं दिखता है। उसकी टिप्पणियाँ व्यावहारिक किस्म की है जिनसे निष्कर्ष निकालना एक दुरूह कार्य बन जाता है। वास्तव में उसका सारा साहित्य सुझाव मात्र है। सत्ता को बनाये रखना और उसे शक्तिशाली रखना ही मैकियावेली के राजनीतिक चिन्तन का एकमात्र उद्देश्य है। इसलिये उसके विचवार सत्ता के इर्द-गिर्द ही विकसित है।

मानव प्रकृत्ति के विषय में उसके निष्कर्ष आलोचना के पात्र है। वह मनुष्य के स्वभाव का नकारात्मक चित्रण प्रस्तुत करता है। मानव स्वभाव सकारात्मक और नकारात्मक गुणों का सम्मिश्रण होता है। उसका निष्कर्ष सतही, तात्कालिक और अगम्भीर अध्ययन पर आधारित है। मानव स्वभाव के विषय में इस अपूर्ण सकल्पना पर आधारित उसका पूरा राजनीतिक दर्शन ही विसंगति पूर्ण हो जाता है। अपनी दूसरी पुस्तक 'डिस्कोर्सेज में उसने कुछ सकारात्मक भाव से मानव स्वभाव का वर्णन किया है। मैकियावेली अपनी प्रस्थापनाओं का तार्किक विवेचन करने में असमर्थ रहा है।

बल को राज्य के संगठन में महत्वपूर्ण स्थान देने के कारण वह शासक और शासित के अलग-अलग हितों का निर्माण करता है। यह मैकियावेली की संकीर्ण दृष्टि है। राज्य जैसे उच्चतर और सर्वोच्च संगठन केवल बल के आधार पर अपने अस्तित्व को नहीं बनाये रख सकता है। राज्य के पीछे लोगों की स्वीकृति होती है। राज्य के अन्तर्गत शासक व शासित के हित अन्ततः एक होते है। मैकियावेली अपने

समय की राजनीतिक प्रवृत्ति और धारा को समझने में असफल रहा, और न ही उनसे राजनीतिक निष्कर्ष निकाल सका। मैकियावेली के समय सबसे महत्वपूर्ण घटनाओं में मार्टिन लूयर किंग द्वारा कैथोलिक ईसाई धर्म संघ और पोप के विरूद्ध विद्रोह किया और अपने विचार को प्रोटेस्टेण्ट धारा के रूप में संगठित किया। इस घटना ने पूरे यूरोप की लम्बे समय तक प्रभावित किया। न केवल धार्मिक परिदृश्य बल्कि राजनीतिक और आर्थिक पक्ष भी इससे प्रभावित हुये किन्तु मैकियावेली ने अपने चिन्तन में इसके महत्व को असफल बनाया।

मैकियावेली का राजनीतिक चिन्तन वास्तव में स्थान-विशेष अर्थात इटली के एकीकरण की समस्या से इतनी गम्भीरता से जुड़ा है कि उससे व्यापक निष्कर्ष निकालना असम्भव हो जाता है। मैकियावेली के ठीक बाद यूरोप में परम्परागत राजसत्ता और उभरते हुये मध्यमवर्ग के कानूनी अधिकारों के बीच संघर्ष प्रारम्भ हुआ। इसकी कोई चर्चा मैकियावेली के दर्शन में नहीं मिलती है और अन्त में, मैकियावेली की जिस पद्धति को वैज्ञानिक मानकर उसके अध्ययन पद्धति को आधुनिक कहा जाता है वह सही नहीं माना जा सकता। उसने ऐतिहासिक अध्ययन पद्धति का प्रयोग नहीं किया बल्कि अपनी पूर्व मान्यताओं को स्थापित करने के लिए इतिहास से अपनी पसन्द के उद्धहरण उठायें। यह उपरी तौर पर ऐतिहासिक पद्धति का अनुसरण लगता है किन्तु वास्तव में यह व्यक्तिनिष्ठ पद्धति है जिससे किसी प्रकार का यथार्थ व तार्किक निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। सेबाइन ने कहा कि 'वे शायद इतने व्यावहारिक थे कि वे पारंगत दार्शनिक हो ही नहीं सकते थे।'

3.2.10 युग का शिशु: मैकियावेली

प्रो0 डनिंग ने मैकियावेली को 'अपने युग का शिशु'कहा है। उसको यह उपाधि आधुनिक युग की वस्तुनिष्ठ प्रवृत्तियों को अपने राजनीतिक दर्शन में स्थान देने के कारण दी गई। वह ऐसा पहला विचारक था जिसमें यह प्रवृत्ति दिखाई देती है। वह पुराने समाज से नये समाज में रूपान्तरण का समय था। सामन्ती व्यवस्था वाले राज्यों में जहाँ धर्मतंत्र राजव्यवस्था पर प्रभावी होता था। सम्प्रभु राज्य के पक्ष में जनता और बुद्धिजीवी आकर्षित हो रहे थे लेकिन सामन्तवादी शक्तियाँ व पुराहित वर्ग ने इस परिवर्तन का विरोध किया। चर्च-राज्य संघर्ष और स्वयं धर्म के भीतर कैथोलिक और प्रोटेस्टेण्ट का विभाजन सामने आया। राष्ट्रीय राज्य का अस्तित्व सामने आने लगा और धर्मनिरपेक्ष्य राज्य का विचार लोकप्रिय होने लगा। मैकियावेली प्रथम ऐसे विचारक थे जिन्होनें राष्ट्रीय राज्य की स्थापना को राजनीतिक तर्क दिया। राष्ट्रीय पहचान के आधार पर बनी केन्द्रीय सत्ता को उन्होंने आदर्श बताया। आगे चलकर राष्ट्रीय राज्य राजनीति के प्रमुख कत्र्ता हो गये। यह स्थिति आज भी बनी हुई है। यह मैकियावेली की प्रतिभा थी जिन्होंने बदलती परिस्थिति में सम्भव परिवर्तन को स्पष्ट रूप से पहचाना स्थापित किया। व्यक्ति के हित के लिये शासन सत्ता का अस्तित्व मानना मैकियावेली के राजनीतिक दर्शन का अन्तर्निहित स्वर है। उसने राज्य सत्ता और शासक के लिये ईश्वरीय स्वीकृति के सिद्धान्त अथवा दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त का समर्थन नहीं किया। मानव स्वभाव की रूपरेखा प्रस्तुत करके सत्ता को उसके साथ सम्बन्धित किया। वह राज्य को अराजकता दूर करने के लिये अस्तित्व में आये संगठन के रूप में वर्णित करता है। उसके विचारों में मानव समाज और सामूहिक व्यवहार के विभिन्न पक्षों की पड़ताल है। वह राजनीति में मनोवैज्ञानिक पक्ष को प्रधानता देने वाला विचारक है जो उसे आधुनिक विचारक के रूप में प्रतिष्ठित कर देता है।

मैकियावेली ने राजनीतिज्ञों द्वारा व्यावहारिक रूप में प्रयोग में जाये जाने वाले तरीकों की चर्चा की और उसका समर्थन किया। राजनीति को धर्म और नैतिकता द्वारा लगाये जाने वाले बन्धनों से दूर करने का समर्थन किया। जनता के लिये धर्म और नैतिकता को महत्वपूर्ण बताते हुये उसने शासक के

लिये इसे साधन मात्र माना और उसके उपर राजनीति शक्ति की प्रधानता स्थापित की। उसका कहना था कि एक राजनीतिज्ञ को हमेशा यथार्थवादी होना चाहिए। धर्म और नैतिकता का प्रयोग राज्य की भलाई के लिये होना चाहिए। इस प्रकार वह राज्य को एक लौकिक संस्था के रूप में स्थापित करता है और धर्म के साथ राज्य का धर्मनिरपेक्ष सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास करता है। आधुनिक युग के विचार उसके दर्शन में प्रस्फुटित होता है। मैकियावेली धर्मनिरपेक्ष विचारक भी है।

मैकियावेली की अध्ययन पद्धति उसके पूर्व प्रचलित आस्था और मान्यता पर आधारित पद्धतियों से सर्वथा अलग और आधुनिक है। उसने अपने विचारों को प्रस्तुत करने के लिये ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग किया। उसने अपने निष्कर्षों को इतिहास से प्रमाणित करने का प्रयास किया। धर्मग्रन्थों के उद्धहरणों और धार्मिक वचनों से बिलकुल भिन्न यथार्थ की यथार्थवादी व्याख्या की।

इसके अतिरिक्त सर्वशक्तिमान विधायक की अवधारणा राष्ट्रीय सेना की उपस्थित में विश्वास तथा सामन्तवादी शक्तियों को राज्य के लिये हानिकारक मानना मैकियावेली को आधुनिक राजनीतिक विचारक मानने के लिये पर्याप्त कारण है। अन्तिम निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि मैकियावेली के राजनीतिक विचार विशुद्ध अर्था में आधुनिक है और उसे आधुनिक राजनीतिक विचारक कहना उनके साथ न्याय करना है।

3.2.11 विवेचना

मैकियावेली के राजनीतिक विचार अपने समय की राजनीतिक अभिव्यक्तियाँ कहे जा सकते है विशेषकर इटली के राजनीतिक स्थिति को केन्द्र में रखकर शासकों को दिये गये उसके सुझाव अभूतपूर्व थे। आधुनिक राज्य के लिये आवश्यकता हर सम्भव निर्देश उसके विचारों में प्राप्त होते है। मैकियावेली के विचार गम्भीर दार्शनिक विश्लेषण का प्रतिनिधित्व नहीं करते किन्तु वे व्यावहारिक दृष्टिकोण से मूल्यवान है। उसने एक शक्तिशाली राजा की संकल्पना प्रस्तुत की और उसे हरसम्भव तरीके से शक्तिशाली बने रहने का सुझाव दिया। शक्ति पर आधारित उसकी संकल्पना तत्कालीन यूरोपीय राजनीतिक परिदृश्य को चित्रित कर रहे थे। ऐसा नहीं है कि वह केवल शक्ति और मनुष्य के नकारात्मक चित्रण पर अपने राजनीतिक विचार प्रस्तुत कर रहा था। उसने उस अच्छे समाज की कल्पना भी की जिसमें नागरिक संस्कृत और कर्तव्यनिष्ठ थे। इसलिये ऐसे समाजों के लिये गणतंत्र की संस्तुति करता है। उसकी प्रस्थापनाए सापेक्षिक है।

मैकियावेली का महत्व इसलिए भी है कि उसने राज्य को लौकिक संस्था के रूप में महत्व प्रदान किया। उसके समय में जब पोप समर्थक और विरोधी लगातार एक दूसरे का विरोध कर रहे थे मैकियावेली ने राष्ट्रीय राज्य की स्थापना और शासक के लिये मान्य व्यवहारों को अपने राजनीतिक चिन्तन का लक्ष्य बनाया। व्यावहारिक राजनीति को लेकर व्यक्त किये गये उसके विचार आज भी स्वीकार्य किये जाते है। उसने सभी सम्भव तरीके से मध्ययुगीन विचारों पर प्रहार किया। राज्य की सार्वभौमिकता का समर्थक किया। राज्य की उत्पत्ति कर सम्बन्ध मानव गतिविधि से जोड़क रवह मध्ययुगीन प्रकारों से मुक्त हो जाता है। इसलिये यह कहना सर्वथा सार्थक है कि मैकियावेली 'अपने युग का शिशु' अथवा 'प्रथम आधुनिक राजनीतिक चिन्तक'था। उसकी साम्यता भारत के कौटिल्य के विचारों से भी स्थापित की जाती है क्योंकि उसने में कौटिल्य की भाँति राज्य के प्रशासनिक पक्ष को ध्यान में रखकर अपने सुझाव और विचार व्यक्त किये है। मैकियावेली की भाँति कौटिल्य भी धर्म और नैतिकता के उस मानदण्डों और मर्यादा से राजशक्ति को दूर रखना चाहता है जिससे सामान्यजन संचालित होते है। मैकियावेली ने राष्ट्रीय सेना का समर्थन किया।

बाद में आने वाले कई विचारक मैकियावेली के राजनीतिक विचार से प्रभावित हुये। थामस हाब्स ने विशुद्ध लौकिक तरीके राजनीतिक शक्ति और सत्ता के आदेशों के औचित्य का विश्लेषण किया। धर्मनिरपेक्ष और उदारवादी राजनीतिक चिन्तन का विकास मैकियावेली के चिन्तन के बाद सामने आया। मैकियावेली पहला राजनीतिक विचारक था जिसने स्टेट (The State) शब्द का प्रयोग किया। यह राज्य की स्पष्ट संकल्पनात्मक और शाब्दिक अभिव्यक्ति थी जो पहले नहीं की गई थी। मैकियावेली ने सर्वशक्तिमान विधायक (Law gIver) के रूप में सम्प्रभुता के सिद्धान्त का स्पष्ट परिचय दिया। हाँलाकि वह इस संकल्पना को पूरी तरह स्पष्ट करने में असफल रहा। यह कार्य उकसे परवर्ती फ्रांसीसी विचारक बोदाँ ने पूरा किया। किन्तु उसकी सर्वशक्तिमान विधायक की संकल्पना सम्प्रभुता के सारे लक्षणों का प्रतिनिधित्व करती है। मैकियावेली के राजनीतिक विचार आगे आने वाले विचारकों के लिये सन्देश के रूप में था। 'व्यक्ति केन्द्रित' राजनीतिक चिन्तन बाद में आधुनिक राजनीतिक चिन्तन की अनिवार्य विशेषता बन गयी। मनोविज्ञान और राजनीति के सम्बन्ध को मैकियावेली ने महत्व दिया। शक्ति को केन्द्रिय भूमिका देना मैकियावेली का महत्वपूर्ण अवदान है। मैक्सी का यह कहना उचित है कि 'सैद्धान्तिक तत्वों की अपेक्षा व्यावहारिक तत्वों के प्रति उसके अधिक लगाव ने राजनीतिक चिन्तन को मध्ययुग के स्कालास्टिक (ScholastIc) पुराणवाद (ObscurantIsm) से मुक्ति दिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। यह भूमिका उसको विश्व के महान परिणामवादियों में सबसे अच्छा तो नहीं, परन्तु उनमें सबसे पहला होने के सम्मान का अधिकारी बना देती है।'

इस प्रकार मैकियावेली ने अपने युग के राजनीतिक विचारों को स्वर दिया हाँलाकि उसमें विसंगतियाँ थी किन्तु इससे उसका महत्व कम नहीं हो जाता।

3.2.12 पाठसार/सारांश

इस अध्याय में हमने जाना कि मैकियावेली प्रथम विचारक है जिसने विशुद्ध आधुनिक शब्दावली और दृष्टिकोण से अपने विचवार व्यक्त किये। राज्य की संकल्पना को स्पष्ट करने, वैज्ञानिक अध्ययन पद्धति अपनाने, धर्म और नैतिकता को राजनीति से पृथक करने तथा सर्वशक्तिमान विधायक की संकल्पना प्रस्तुत करके मैकियावेली ने मध्यकालीन मूल्यों और प्रवृत्ति से राजनीति को सचेत रूप से अलग किया। उसने व्यावहारिक राजनीति की तात्कालिक उद्देश्य से अपने विचार व्यक्त किये लेकिन वह राजनीति विज्ञान के लिये स्थायी महत्व का सिद्ध हुआ। वह राष्ट्रीयता के प्रति समर्पित विचारक था।

3.2.13 अभ्यास/बोध प्रश्न (बहुविकल्पीय, लघुउत्तरीय तथा दीर्घउत्तरीय)

3.2.13.1 बहुविकल्पीय प्रश्न

1. 'स्टेट' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम किसने किया ?
   (1) जीन बोदां (2) मैकियावेली (3) हाब्स (4) रूसो
2. निम्नलिखित में से कौन मैकियावेली की रचना है ?
   (1) रिपब्लिका (2) सोशल कान्टेरक्ट (3) लेवियाथन (4) 'द प्रिन्स'
3. मैकियावेली ने किस अध्ययन पद्धति को अपनाया ?
   (1) ऐतिहासिक (2) आदर्शात्मक (3) विधि परक (4) गवेषणात्मक
4. अपनी पुस्तक 'डिस्कोर्सेज' में मैकियावेली ने किस प्रकार के शासन प्रणाली की प्रंशसा की ?
   (1) लोकतंत्र (2) राजतंत्र (3) गणतंत्र (4) कुलीनतंत्र
5. किसने मैकियावेली को 'अपने युग का शिशु' कहा था ?

(1) सेबाइन (2) प्रो0 डनिंग (3) बार्कर (4) मैक्सी

3.2.13.2 लघुउत्तरीय

1. मैकियावेली ने किस अध्ययन पद्धति को अपनाया ?
2. मैकियावेली के अनुसार मानव प्रवृत्ति का संक्षिप्त वर्णन कीजिये ?
3. मैकियावेली द्वारा राज्य के वर्गीकरण पर प्रकाश डालिए ?
4. 'सर्वशक्तिमान विधायक'की संकल्पना स्पष्ट कीजिए ?
5. धर्म के सम्बन्ध में मैकियावेली के क्या विचार थे ?
6. 'शेर और लोमड़ी'का रूपक किसके सन्दर्भ में प्रयुक्त किया गया ?
7. मैकियावेली के पुस्तकों का नाम बताइये ?
8. मैकियावेली के विचारों का राजीनतिक उद्देश्य क्या था ?

3.2.13.3 दीर्घ उत्तरीय

1. मैकियावेली को प्रथम आधुनिक विचारक मानने के पक्ष में तर्क प्रस्तुत कीजिये ?
2. मानव प्रकृत्ति सम्बन्धी मैकियावेली के विचारों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए?
3. 'साध्य साधनों का औचित्य सिद्ध करता है ? 'मैकियावेली के इस कथन के आलोक में उसके विचारों की समीक्षा कीजिए ?
4. राजा को दिये सुझावों के सन्दर्भ में मैकियावेली के सम्बन्धित विचार का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए ?
5. मैकियावेली के यथार्थवादी दृष्टिकोण का वर्णन करते हुये राजनीतिक चिन्तन को उसकी देन की समीक्षा कीजिए ?

3.2.14 कठिन शब्दावली

1. गणराज्य: ऐसा राज्य जहाँ का राज्य प्रधान अथवा राज्यप्रमुख वंशानुगत न होकर निर्वाचित हो। उसे गणराज्य कहते है।
2. धर्मनिरपेक्ष: ऐसा राज्य जो धर्म के विषय में तटस्थ हो। धर्मविशेष के प्रति प्रतिबद्धता घोष्ति न करते हुए उपस्थित सभी धर्मों से समान व्यवहार करें। राजकीय कार्य धर्म प्रेरित न हो।

3.2.15 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. गाबा, ओम प्रकाश (2017) वेस्टर्नन पॉलिटिकल थाट्स, नोएडा, मयूर पेपरबैक, नोएडा
2. सूद, ज्योति प्रसाद (2002) आधुनिक राजनीतिक विचारों का इतिहास (चार भागों में) मेरठ, के0 नाथ एण्ड कम्पनी, मेरठ
3. फ्रेडरिक (2018) द वक्र्सस् आफ निक्कोले मैकियावेली, लंदन, पलाला प्रेस पब्लिकेशन 9781377872810
4. बब, जे0 (2018) ए वल्ड हिस्ट्री आफ पॉलिटिकल थाट्स एडवर्ड एलगर पब्लिकेशन (यूनाइटेड किंगडम) यूनिवर्सिटी आफ न्यूकैस्ट्रलय, केलटनमहम, 9781786435545
5. नेशनल, ब्रेन आर (2004) वेस्टर्नन पॉलिटिकल थाट्स, नई दिल्ली, पीयरसन एजुकेशन इण्डिया, नई दिल्ली, 9788131706152

इकाई 3: जीन बोदां के राजनीतिक विचार

इकाई की रूपरेखा

3.3.1 उद्देश्य कथन
3.3.2 प्रस्तावना
3.3.3 जीन बोदां: जीवन का कृतित्व
3.3.4 अध्ययन पद्धति
3.3.5 प्रमुख विचार
3.3.5.1 राज्य संबंधी विचार
3.3.5.2 नागरिकता
3.3.5.3 क्रांति संबंधी विचार
3.3.5.4 सहिष्णुता पर विचार
3.3.5.5 सरकार संबंधी विचार
3.3.5.6 संप्रभुता संबंधी विचार
3.3.5.7 संप्रभुता पर अवरोध
3.3.6 आलोचना
3.3.7 मूल्यांकन
3.3.8 पाठसार/सारांश
3.3.9 अभ्यास/बोध प्रश्न (बहुविकल्पीय, लघुउत्तरीय तथा दीर्घउत्तरीय)
3.3.9.1 बहुविकल्पीय प्रश्न
3.3.9.2 लघुउत्तरी प्रश्न
3.3.9.2 लघुउत्तरी प्रश्न
3.3.9.3 दीर्घउत्तरी प्रश्न
3.3.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

3.3.1 उद्देश्य कथन:

1. मध्ययुगीन प्रवृत्तियाँ और राजनीतिक संस्थाए उसके विरूद्ध उठने वाले विरोध का सामना करने में असफल रही। पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी के विचारकों ने न केवल मध्ययुगीन धार्मिक प्रभुत्व और राजनीति के द्वितीयक स्थिति का विरोध किया बल्कि उसके प्रतिपक्ष में राजनीतिक की बेहद जरूरी संकल्पनाओं को विकसित किया। राज्य, शासन का औचित्य, राज्य के तत्व, सत्ता और व्यक्ति के बीच सम्बन्ध जैसे आधुनिक राजनीतिक मूल्य पर विचार प्रस्तुत किये गये। सम्प्रभुता की अवधारणा इन सब में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इस अध्याय में हम जीन बोदां के विचारों के माध्यम से सम्प्रभु तत्व की वैचारिकी को स्पष्ट कर सकेंगे।
2. बोदां ने राज्य के साथ नागरिकता, राज्य और भौगोलिक तत्व के साथ राजनीतिक व्यवहार और संस्थाओं के सम्बन्ध को रेखांकित किया। प्रस्तुत अध्याय में हम राजनीतिक विचारों के विकास और पूर्ववर्ती एवं पश्चातवर्ती विचारकों से उनकी तुलना के साथ आधुनिक राजनीति के तत्वों को स्पष्ट रूप से समझ सकेंगे।

3.3.2 प्रस्तावना

आधुनिक राजनीतिक विचारकों की वैचारिक पृष्ठभूमि सामान्यतया स्थानीय थी। आरम्भिक सभी विचारक इसके प्रभाव के अधीन थे। स्थानीय राजनीति को स्पष्ट करते हुये उन्होंने अपने राजनीतिक विचार प्रस्तुत किये। फ्रांसीसी दार्शनिक और राजनीतिक विचारक जीन बोदां भी इसका प्रतिनिधित्व करता था। जीन बोदां ने एक समान रूप से राजनीति, विधि इतिहास, शिक्षा, धर्म और लोकाचार के उपर विचार व्यक्त किये। कानून का अध्ययन करते हुये उसने विचार दिया कि किसी भी की कानून व्यवस्था समझने के लिये न केवल विशेषीकृत कानून को उसकी उत्पत्ति के साथ समझना जरूरी है बल्कि उसका तुलनात्मक अध्ययन भी किया जाना चाहिये। इसीलिये बोदां को 'तुलनात्मक और ऐतिहासिक न्यायशास्त्र का जनक'भी कहा जाता है।

आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था के अनिवार्य मूल्य सहिणुता के विषय में बोदां के विचार आकर्षित करने वाले है। उस शताब्दी में इस प्रकार के विचार बोदां की राजनीतिक दूरदर्शिता का प्रमाण थें वह मानता था कि राज्य का कार्य किसी धर्म विशेष का पक्ष लेकर अन्य धर्म के लोगों को प्रताड़ित करना नहीं है। राज्य को विभिन्न सम्प्रदायों को समान रूप से महत्व देना चाहिए। किन्तु इन दोनों विचारों से अधिक महत्वपूर्ण बोदां का सम्भ्प्रभुता सम्बन्धी विचार है जिसने उसे आधुनिक राजनीतिक चिन्तक के रूप में स्थापित किया। अपनी पुस्तक 'द सिक्स बुक्स आफ ए कामनवील (The slx book of a commonweal) (1576) में बोदां ने सत्ता के एकीकरण और सर्वोच्चता का सिद्धान्त विकसित किया। उसने सम्प्रभुता को 'सर्वोच्च और स्थायी शक्ति'कहकर स्पष्ट अभिव्यक्ति दी। आगे चलकर इसी संकल्पना का विकास अन्य विचारकों हाब्स व आस्टिन आदि ने किया। फ्रांस की राष्ट्रीय मांग के अनुरूप अपने विचार व्यक्त करते हुये उन्होंने सम्प्रभुता का विचार दिया। जिसकी सर्वाभौमिक मान्यता मिली। बोदां के अनुसार इस सम्प्रभुता का सबसे स्पष्ट और जनहित में अभिव्यक्ति राजतंत्र के अन्तर्गत होती है। हाँलाकि वह निरकूंश राजतंत्र का समर्थन नहीं करता। सभी प्रकार के शासक का उद्देश्य जनसाधारण का कल्याण करना है।

इस प्रकार बोदां का राजनीतिक चिंतन बहुत विस्तृत है। अपनी विसंगतियों के साथ इन महत्वपूर्ण विचारों की प्रस्तुत करने तथा राजनीतिक चिंतन को प्रभावित करने के कारण बोदां आधुनिक युग के माध्यम के साथ महत्वपूर्ण राजनीतिक विचारक बन जाता है।

3.3.3 जीन बोदां: जीवन तथा कृतित्व

जीन बोदां (1530-96) का जन्म फ्रांस में हुआ था। यह फ्रांसीसी राजनीति में राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक रूप से उथल-पुथल का समय था। स्वयं ईसाई धर्म के भीतर दोनों प्रमुख सम्प्रदायों कैथोलिक और प्रोटेस्टेण्ट के बीच प्रत्यक्ष हिंसात्मक संघर्ष चल रहा था। इसके प्रतिसन्तुलित करते हुये एक धार्मिक आन्दोलन पोलिटिक्स (Pollticlques) चला जिसकी धार्मिक उदारता और दूसरों को स्वीकार करने के गुण के कारण ज्यां बोदां उसका सदस्य बना। उसने फ्रांस में प्रतिष्ठित रूप से सावर्जनिक जीवन जिया और सरकारी पद धारण किये। उसकी राजतंत्र में आस्था थी। बोदां ने कई पुस्तकों की रचना की। जिसमें रेसपान्स (Response) डेमीनोमैनी (Demenomanle), हेप्टाप्लोमर्स (Heptaplomeres) यूनिवर्स नेचर थियेट्रम (Unlverse Nature Theatrum) तथा सिक्स लिवर्स डिन्ला रिपब्लिक (Slx Llvesdela Republlque) शामिल है। अन्तिम पुस्तक का लोकप्रिय नाम 'द सिक्स बुक्स आफ ए कामनवील (The slx books of a commonweal) या रिपब्लिक' है। यह पुस्तक 1576 में प्रकाशित हुई। रिपब्लिक के अतिरिक्त दूसरी पुस्तक जिसमें उनके राजनीतिक विचार

मिलते है वह 'ए मेथड फार दि ईजी अण्डरस्टैंडिग आफ हिस्ट्री (A Method for the easy Understandlng of Hlstory) या मैथडज (Methods) है।

बोदां अपने व्यक्तित्व में विरोधाभासपूर्ण थे। एक ओर जहाँ वह राज्य की शक्ति के औचित्य, सम्प्रभुता की संकल्पना, अन्तर्राष्ट्रीय विधि तथा सहिष्णुता जैसे गम्भीर विषय में अपने विचार व्यक्त कर रहे थे वही वह जादू-टोना, भूतप्रेत की उपस्थिति में भी विश्वास करते थे। एक ओर उन्हें आधुनिक अर्थशास्त्र के प्रमुख विचारकों में गिना जाता हैं वहीं दूसरी ओर का पक्का समर्थक था। इस प्रकार उसका चरित्र और कार्य विरोधाभासी प्रतीत होता है। सेबाइन ने बोदां के विषय में कहा है कि ''बोदां का चिंतन अन्धविश्वास, बुद्धिवाद, रहस्यवाद, उपयोगितावाद तथा पुरातनवाद का सम्मिश्रण है। उसकी मृत्यु 1596 ई. में हुई।

3.3.4 अध्ययन पद्धति

जीन बोदां ने इतिहास के क्षेत्र में महत्वपूर्ण काम किया। उन्होंने अपने दर्शन को इतिहास के साथ तर्कसंगत क्रम में प्रस्तुत किया। बोदां का यह मानना था कि दर्शन के निष्कर्ष निर्मित करने में इतिहास से तथ्य लेना और उनकी तुलना करना आवश्यक है। विधि की प्रवृत्ति और उसके औचित्य को हम ऐतिहासिक सन्दर्भों में ही समझ सकते है। बोदां के अनुसार अध्ययन की आदर्श पद्धति में दर्शन और इतिहास का मिश्रण होता है। इतिहास तथ्य और दर्शन दृष्टि प्रदान करता है। उसने कानून के ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन पर बल दिया। राजनीति, विधि, सहिष्णुता और अर्थव्यवस्था पर विचार करते हुये उसने इसी प्रकार की पद्धति का प्रयोग किया। उसने इस सम्बन्ध में अरस्तू से प्रेरणा ली। यह मध्ययुगीन राजनीतिक विचारों और अध्ययन पद्धति के विरूद्ध स्पष्ट विद्रोह था। बोदां ने मैकियावेल की आलोचना की क्योंकि उसने ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग किया किन्तु उसके पीछे सुव्यवस्थित दर्शन का अभाव था। वह अनुभवमूलक पद्धति का प्रयोग करते हुये भी वह दर्शन के प्रति गम्भीर नहीं था। इसलिए मैकियावेली के विचारों में अपूर्णता पाई जाती है। बोदां के अनुसार यही कमी प्लेटो और थामस मूर के राजनीतिक दर्शन में भी है क्योंकि वे इतिहास से तथ्य लेने और उससे निष्कर्ष निकालने में असफल रहे। वह प्लेटो के राजनीतिक चिंतन की काल्पनिक मान्यताओं की आलोचना करता है अपने समकालीनों में बोदां ने आधुनिक अध्ययन पद्धति का सुव्यवस्थित प्रयोग किया। हाँलाकि सेबाइन के अनुसार ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग करते हुये भी उसमें यह प्रतिभा नहीं थी कि ऐतिहासिक सामग्री को किस प्रकार व्यवस्थित किया जाये। उसकी रिपब्लिक और अन्य पुस्तके अव्यवस्थित और असंगठित है। सेबाइन के अनुसार वह एक दार्शनिक इतिहास की अपेक्षा पुराणवादी अधिक था।

3.3.5 प्रमुख विचार

ज्यां बोदां ने अपने राजनीतिक विचार सोलहवीं शताब्दी के वातावरण में प्रस्तुत किए। उस समय धार्मिक सत्ता के विरूद्ध लौकिक सत्ता को महत्व दिये जाने का आन्दोलन जनसाधारण के स्तर पर लोकप्रिय हो रहा था। धार्मिक सत्ता विशेषकर पोप के असीमित अधिकार के विरूद्ध राजा को अबाधि शक्ति देने के लिए सम्प्रभुता का विचार अस्तित्व में आया। जो ईसाई जगत और उसके प्रमुख के रूप में पोप के दावे के विरूद्ध था। ज्यां बोदां ने अपने युग की इस महत्वपूर्ण मांग को संकल्पना के स्तर पर स्पष्ट किया। साथ ही उन्होंने राज्य और सरकार के विषय में विचार व्यक्त किये।

3.3.3.5.1 राज्य सम्बन्धी विचार

अपनी पुस्तक 'सिक्स बुक् कन्सर्निंग दि रिपब्लिक'में बोदां ने अपने राज्य सम्बन्धी विचार व्यक्त किये है। वह मध्ययुग के विचारकों की भाँति राज्य का दैवीय संस्था नहीं मानता है। इस प्रकार उसका विरोध ईसाई धर्म की सामान्य मान्यता से हो जाता है। उसके अनुसार ''राज्य परिवारों तथा उनकी सामान्य सम्पत्ति का एक समुदाय है जिसके उपर सर्वोच्च शक्ति और विवेक का शासन है। बोदां की राज्य सम्बन्धी परिभाषा कानूनी और सन्देशपरक है। वह राज्य को परिवारों तथा उनकी सम्पत्ति का समुदाय बताकर एक साथ कई मान्यताओं पर प्रहार करता है। एक ओर वह ईसाई धर्म की मान्यता को अस्वीकार करता है कि राज्य पापमय संस्था है। दूसरी ओर वह काल्विनवादियों की आलोचना भी प्रस्तुत कर देता है जो व्यक्ति स्वतंत्रता को प्रमुख स्थान देकर राज्य को स्वतंत्रता के लिए अहितकर मानते थे। बोदां ने राज्य का वर्णन दैवीय संस्था के रूप में भी नहीं किया है। वह सामाजिक और प्राकृतिक संस्थाओं के मेल से राज्य की उत्पत्ति मानता है। इसलिये राज्य सम्बन्धी उसकी धारणा को मानव की सामाजिक प्रगति का तर्कसंगत परिणति मानना उचित होगा। राज्य की इस परिभाषा में समूहों को महत्व दिया गया है।

राज्य को परिवारों के समुच्चय के रूप में उसके पहले अरस्तू जैसे यूनानी विद्वान ने भी राज्य को परिवार का विकास माना था। बोदां ने इस समुदाय को सर्वोच्च शक्ति और विवेक से संचालित होना बताया। अर्थात यह जन-समुदाय शक्ति नहीं बल्कि कानून या विधि से संचालित होता है। राज्य को विधि ही वर्तमान स्वरूप देती है। हाँलाकि अरस्तू की भाँति वह स्वीकार करता है राज्य एक उद्देश्य के लिए अस्तित्व में आता है। राज्य शरीर की भाँति ही आत्मा और देह का मिश्रण है जिसके अपने-अपने लक्ष्य है। किन्तु बोदां विशेषीकृत रूप में लक्ष्यों को स्पष्ट नहीं कर सका।

परिवार को व्याख्यायित करते हुये वह उसमें पति द्वारा पत्नी के नियन्त्रण, पिता द्वारा सन्तानों के नियन्त्रण, स्वामी द्वारा नौकरों के नियन्त्रण तथा दासों पर नियन्त्रण को शामिल करता है। हाँलाकि वह दासों पर नियन्त्रण को अनैतिक मानकर तथा नौकरों पर नियन्त्रण को महत्वहीन विषय बताकर मुख्य रूप से पहले दो पर चर्चा करता है। वह यह मान्यता प्रतिपादित करता है कि पुरुष अर्थात युक्ति स्त्री यानि अभिलाषा को नियन्त्रित करें। यह प्राकृतिक है। बोदां की राज्य सम्बन्धी परिभाषा की व्याख्या सेबाइन करते हुये कहते है कि ''राज्य और समुदाय परिवार की उत्पत्ति है। बोदां ने राज्य को परिवारों का शासन कहा है। परिवार का स्वामी दूसरे परिवार के स्वामियों के मिलकर नागरिक बन जाता है। बोदां का विचार था कि राज्य के निर्माण में कहीं न कहीं शक्ति की भूमिका अवश्य रहता है। यद्यपि प्रभुसत्ता अथवा विधि का शासन का औचित्य केवल शक्ति के आधार पर ही सिद्ध किया जा सकता है।

बोदां के राज्य सम्बन्धी विचार में शक्ति अराजक नहीं है न ही बल प्रयोग जैसी प्रत्यक्ष चीज पर आश्रित है। उसका राज्य सम्प्रभु शक्ति अर्थात ऐसे शक्ति से संचालित है जो सभी को मान्य, एक और सर्वोपरि है। यह व्यवस्था को कायम रखती है। दूसरी ओर वह शक्ति विवेक सम्मत है अर्थात सम्प्रभु शक्ति मानवीय, तार्किक और न्याय के नियमों से संचालित होती है। सम्प्रभु शक्ति अराजक तरीके से कार्य नहीं करती है। राज्य विवेक की शक्ति का व्यवस्थित शासन है। यह सर्वोच्च है इसलिये अन्य सभी समुदायों से अलग और बड़ी है।

बोदां राज्य की परिभाषा में सम्पत्ति की चर्चा भी करता है वह परिवार और सम्पत्ति को राज्य का अवयव मानता है। इस प्रकार बोदां राज्य को सम्पत्ति के साथ सम्बन्धित करता है। यह धारणा कैथोलिक ईसाईयों की मान्यता के विपरित थी जिसमें सम्पत्ति के प्रति नकार भाव रखने का समर्थन किया गया था। यह यूरोप में उभरते हुये व्यक्तिवाद की भी सैद्धान्ति प्रस्तुति थी। जिसमें राज्य को सम्पत्ति से सम्बन्धित

किया गया था। यह उभरते हुये मध्यमवर्ग के अनुरूप विचार था। जिसके लिये बाद में यूरोप के कई देशों में क्रांति हुई। इस प्रकार बोदां का प्रयत्न राज्य की समकालीन परिभाषा देने के लिए सराहनीय माना जाता चाहिए। हाँलाकि बोदां राज्य की परिभाषा देते हुये व्यक्ति के महत्व को स्वीकार नहीं करता। जो आधुनिक युग के व्यक्तिवादियों के विरूद्ध जाती है। व्यक्ति नहीं परिवार राज्य की मूलभूत इकाई के रूप में स्थापित होती है। व्यक्ति परिवार के माध्यम से राज्य का सदस्य बनता है। उसके राज्य सम्बन्धी विचार में व्यक्ति की स्वतंत्रता के संरक्षण के रूप में राज्य की भूमिका को महत्व नहीं दिया गया है। वह व्यक्ति को परिवार और परिवार को राज्य की सम्प्रभु शक्ति के अधीन करके देखता है।

बोदां ने राज्य के उद्देश्य के विषय में स्पष्ट विचार नहीं रखे है। आत्मा और शरीर की भाँति एक रूपक प्रस्तुत करने तथा आत्मा की शरीर से श्रेष्ठ मानते हुये भी राज्य जैसी श्रेष्ठता संस्था का स्पष्ट उद्देश्य प्रस्तुत करने में असफल रहा। वह शासन और शासित के सम्बन्ध और सत्ता तथा आज्ञापालन के औचित्य को सोलहवीं शताब्दी में प्रस्तुत करने में असफल रहा जबकि वह समय इस दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण था। नयी दुनिया की खोज, ईसाई धर्म में सुधार का प्रोटेण्टस्टेण्ट आन्दोलन तथा अगली ही शताब्दी में इंग्लैण्ड में गौरवमयी क्रांति हुई। जिसने सत्ता के औचित्य और प्रकृत्ति पर क्रांतिकारी राजनीतिक बहस को जन्म दिया। जॉन लाक का जन्म उससे लगभग पैत्तीस साल बाद हुआ और उसने अपने युग की मांग को विधिवत अपने राजनीतिक दर्शन में प्रस्तुत किया। जीन बोदां के अन्तर इतनी सामान्य प्रतिभा का भी अभाव दिखता है। जिससे वह राज्य के स्वरूप को समकालीन परिस्थितियों के अनुसार स्पष्ट कर सके।

3.3.5.2 नागरिकता

जीन बोदां के नागरिकता सम्बन्धी विचार का प्रत्यक्ष प्रभाव उसके नागरिकता सम्बन्धी विचार पर पड़ता है। बोदां ने राज्य की परिभाषा में नागरिकता की सीमाओं को निश्चित कर दिया। उसके अनुसार नागरिक नहीं है। नागरिकता परिवार के मुखिया तक सीमित है। यह नागरिक सदैव सम्पूर्ण प्रभुतव वाले सम्प्रभु के अधीन रहते है। दूसरी विशेषता यह है कि नागरिकता हमेशा परिवार के मुखिया तक सीमित है इसमें महिलायें और बच्चे शामिल नहीं है। इस प्रकार बोदां सीमित नागरिकता का विचार प्रतिपादित करते है जो अरस्तू के विचार से मिलता है। यह बोदां के विचारों की आलोचना का बिन्दु बन जाता है। व्यक्ति परिवार के माध्यम से ही राज्य की नागरिकता को प्राप्त कर सकता है। यह विचार उस व्यक्तिवाद की भावना के विपरित है जो यूरोप में सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में आकार ले रहा था।

बोदां के अनुसार परिवार का मुखिया तब नागरिक की भूमिका ग्रहण करता है जब पारिवारिक दायित्व को छोड़कर सार्वजनिक जीवन में सम्प्रभु शक्ति की आधीनता स्वीकार करता है। नागरिकता से उसका आशय सम्प्रभु द्वारा निर्धारित भूमिका और स्थिति को ग्रहण करना है।

3.3.5.3 क्रांति सम्बन्धी विचार

सत्ता परिवर्तन के तरीकों के अन्तर्गत क्रांति पर बोदां के विचार महत्वपूर्ण है। अरस्तू की भाँति बोदां भी राज्य के विषय में एक परिवर्तन चक्र पर विश्वास करता है। उसके अनुसार परिवर्तन प्राकृतिक होता है। प्रकृत्ति में होने वाले परिवर्तन की तरह यह अवश्यभावी होते है। राज्य में होने वाले उसी परिवर्तन को क्रांति कहा जा सकता है जो उसके स्वरूप में परिवर्तन कर देता है। बोदां के अनुसार सम्प्रभुता के स्वरूप तथा स्थान बदलने को ही क्रांति की संज्ञा दी जा सकती है। जब राज्य शक्ति एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह को स्थान्तरित हो जाती है तब इसे क्रांति कहते है। अरस्तू की भाँति वह राज्य

में होने वाले हर छोटे बड़े परिवर्तन को क्रांति नहीं मानता न ही वह विधियों में होने वाले परिवर्तन को क्रांति की संज्ञा देता है। उसके अनुसार क्रांति सदैव सम्प्रभु शक्ति के प्रयोगकत्र्ताओं से जुड़ी होती है।

बोदां के अनुसार क्रांति साधारणतया तीन कारणों दैविक, प्राकृतिक और मानवीय कारण से घटित होती है। क्रांति के दैविक कारण रहस्यमयी होते है। मानव बुद्धि इसका पता नहीं लगा सकती। जबकि क्रांति के प्राकृतिक कारणों की वह विस्तार से चर्चा करता है। उसके अनुसार पेड़, पौधों, नक्षत्र तथा आकाशीय पिण्डों का भी मनुष्य पर प्रभाव पड़ता है। राजनीति से सम्बन्धित व्यक्तियों द्वारा इन प्रभावी तत्वों का अध्ययन किया जाना आवश्यक है। ग्रह-नक्षत्रों की विशेष स्थिति के कारण कई राजनीतिक घटनाएं घटित है। बोदां के अनुसार तीसरा कारण मानवीय होता है। इस प्रकार के कारणों का उन्होंने अच्छा विश्लेषण किया है। वह राज्य को तटस्थ रहने की सलाह देते हुये कहता है कि राज्य को किसी विशेष गुट या समूह से सम्बन्धित नहीं होना चाहिए। राज्य को किसी धर्म विशेष को बढ़ावा नहीं देना चाहिए। उस राज्य में क्रांति की सम्भावना होती है जहाँ लोगों को स्वच्छंद तरीके से अपने विचार व्यक्त करने की स्वतंत्रता होती है। शासक को मेल-जोल और लोगों को सन्तुष्ट करने की नीति पर चलना चाहिये तथा विरोधियों के दमन के लिये उसी स्थिति में प्रयास करना चाहिए जब सफल होने की पूरी सम्भावना हो। राजा को किसी सम्पत्ति का सम्मान करना चाहिए और सदैव यह प्रयत्न करना चाहिए कि राज्य में असमानता की उत्पत्ति न हो। क्योंकि असमानता क्रांति पैदा होने के मानवीय कारणों में सबसे प्रमुख है।

बोदां द्वारा वातावरण के प्रभाव को इसी के अन्तर्गत समझा जा सकता है। बोदां के अनुसार किसी राज्य के राजनीतिक संस्थाओं पर भौतिक और प्राकृतिक वातावरण का बहुत प्रभाव पड़ता है। राजनीतिक संस्थायें अपने वातावरण के अनुरूप बनती है। लोगों के व्यवहार पर भी उसका प्रभाव पड़ता है। उदाहरण स्वरूप उसने लिखा की 'उत्तरी राष्ट्रों के लोग सामान्य बड़े और मजबूत होते है किन्तु उद्यम, प्रयास और मानसिक क्रियाओं में लुप्त होते है। लेकिन दक्षिण के लोग शरीर के पतले, लेकिन शारीरिक रूप से चुस्त और मन से तेज होते है। बोदां के अनुसार उत्तर और दक्षिण के बीच बसे राज्य ज्यादा समर्थवान और शक्तिशाली होते है क्योंकि दोनों ओर की विशेषताओं का संगम इन राज्यों में पाया जाता है। बोदां की स्थलाकृति विज्ञान अर्थात ज्वचवहतंचील का प्रतिपादक माना जाता है। वातावरण का राजनीति पर पड़ने वाला प्रभाव बाद में मान्टेस्क्यू द्वारा विकसित किया गया। प्रोफेसर डनिंग ने कहा कि जलवायु और भौगोलिक स्थिति के सामाजिक तथा राजनीतिक प्रभाव का उसका अध्ययन सच्चे अर्थों में वैज्ञानिक है और वह मौलिकता का दावा कर सकता है।

3.3.5.4 सहिष्णुता पर विचार

इस विषय पर बोदां को जॉन लाक का पूर्ववर्ती विचारक कहा जा सकता है। वह कैथोलिक और प्रोटेण्टेण्टों की बीच चलने वाले संघर्ष का समाधान राज्य द्वारा धर्मों के प्रति उदार, तटस्थ और सहिष्णु नीति अपनाने के रूप में देता है। उसके अनुसार राज्य को सभी सम्प्रदायों की मान्यता को स्वीकार करके उनके दमन से बचना चाहिए। राज्य में सभी धर्मावलम्बियों को समान रूप से जगह देनी चाहिये लेकिन वह नास्तिक तक को यह सुविधा या अधिकार देने का पक्षधर नहीं था। उसके अनुसार नास्तिक अच्छे नागरिक नहीं हो सकते। बोदां ने सहिष्णुता को व्यावहारिक सफलता के लिये एक नीति के रूप में अपनाया। उसने इसके पीछे अनिवार्य सैद्धान्तिक विवेचन नहीं किया। हाँलाकि उसके बाद अपने वाले विचारक जॉन लाक ने सहिष्णुता को उदार समाज का अनिवार्य अंग घोषित करते उदार समाज के लिये जरूरी बताया।

वह राज्य को सावधानी के साथ अपनी धार्मिक नीति संचालित करने का सुझाव देता है। राज्य में नये धार्मिक सम्प्रदायों का पैदा होना बोदां की दृष्टि में खतरनाक है। इस प्रकार उसका यह विचार भी अन्तर्विरोधपूर्ण कहा जा सकता है।

3.3.5.5 सरकार सम्बन्धी विचार

जीन बोदां राज्य और सरकार के बीच भेद करता है। सरकार का स्वरूप इस तथ्य से निर्धारित होता है कि उसका व्यावहारिक प्रयोग से किस तरह किया जा रहा है। राजतंत्र में शासन शक्ति का प्रयोग एक व्यक्ति द्वारा, कुलीन तंत्र में कुछ व्यक्तियों द्वारा तथा प्रजातंत्र में समस्त लोगों के हाथ में सत्ता होती है। उनका कहना है कि सरकार एक स्वतंत्र संस्था है वह राज्य के उपर निर्भर है किन्तु वह स्वयं राज्य को प्रभावित नहीं करती है। उसका मानना है कि किसी एक राज्य में उससे भिन्न तरीके के सरकार की व्यवस्था हो सकती है। मसलन सम्भव है राज्य राजतंत्रीय स्वरूप का हो किन्तु उसमें कार्य करने वाली सरकार कुलीनतंत्रीय या लोकतंत्रीय हो।

3.3.5.6 सम्प्रभुता सम्बन्धी विचार

राजनीतिक चिंतन के क्षेत्र में बोदां की प्रसिद्धि का सबसे बड़ा कारण उसके सम्प्रभुता सम्बन्धी विचार है। आधुनिक राज्य संकल्पनात्मक स्तर पर जिस चुनौती का सामना कर रहे थे वह राज्य के एक सर्वोच्च संस्था के रूप में दावे को लेकर था। मैकियावेली, जिसे प्रथम आधुनिक विचारक होने का गौरव प्राप्त है वह भी इस संकल्पना को प्रस्तुत करने में असफल रहा। बोदां प्रथम विचारक था जिसने आधुनिक अर्थों में इसे स्पष्ट किया। सोलहवीं शताब्दी की परिस्थितियों में राज्य की सत्ता अपना महत्व पुनः स्थापित कर रही थी। ईसाई साम्राज्य के प्रमुख के रूप में पोप की असीमित सत्ता का पतन हो रहा था दूसरी ओर यूरोप के विभिन्न राज्यों में राजा सामन्तों की शक्ति को नियन्त्रित कर उसे अपनी सत्ता के प्रत्यक्ष नियन्त्रण में लाने में सफल हो चुके थे।

बोदां के अनुसार 'सम्प्रभुता नागरिकों और प्रजाजनों पर राज्य की सर्वोच्च सत्ता है जिस पर कानून का कोई नियन्त्रण नहीं होता।'वह कहता है कि 'प्रभुसत्ता एक राज्य में शासन करने में निरपेक्ष और स्थायी शक्ति है। यही वह मूल तत्व है जिसके कारण राज्य अन्य सभी शक्तियों, समुदायों तथा सत्ताओं से अलग स्वतंत्र और सर्वोपरि होने का दावा करता है। इस शक्ति के प्रयोग द्वारा राजशक्ति की अपने अधिकार क्षेत्र में सभी व्यक्तियों तथा सभी वस्तुओं पर असीमित अधिकार रखते है। उनकी सत्ता को उनके अधिकार क्षेत्र में कोई चुनौती नहीं दे सकता। शक्ति के एकमात्र और सर्वोच्च प्रयोगकत्र्ता के रूप में सम्प्रभु राजनीतिक समाज की एकता बनाये रखता है।

बोदां ने अपने सम्प्रभुता सम्बन्धी विचार से सोलहवीं शताब्दी में राष्ट्र राज्यों और उसके शासकों की शक्ति को सैद्धान्तिक बल देने में सफल रहे। राष्ट्र राज्य अब पोप जैसे बाहरी सत्ता और देश के भीतर स्थित सामन्त तथा स्वतंत्र व्यापारिक संघों व निगमों के उपर पृथक, स्वतंत्र और सर्वोच्च शक्ति के रूप में दावा करने में सफल हुये। जिसके लिये व्यावहारिक संघर्ष पोप ग्रेगरी सप्तम और फिलिप द फेयर के समय से ही शुरू हो चुका था। सम्प्रभु शक्ति के समक्ष सभी एक समान होते है। राज्य के भीतर सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक सभी तरह के प्रभाव रखने वाले प्रभावशाली और सामान्यजन सभी समकक्ष होते है। बोदां के अनुसार सम्प्रभु शक्ति स्थायी है। इसका त्याग नहीं किया जा सकता और नहीं इसका विभाजन हो सकता है। व्यावहारिक लाभ की दृष्टि से सम्प्रभु कुछ अधिकारों को व्यक्ति विशेष को समय विशेष के लिये दे सकता है किन्तु इससे सम्प्रभु शक्ति पर प्रभाव नहीं पड़ता है। राज्य के भीतर सभी अधिकारी, सारे संगठन और संघ उसी से अपने अधिकार और शक्ति प्राप्त करते है।

सम्प्रभु के ऊपर कोई बन्धन या बाध्यता नहीं होती है। अपने अधिकार क्षेत्र में कानून बनाने का उसका अधिकार असीमित है। कोई व्यक्ति या संस्था इन कानूनों से उन्मुक्ति का दावा नहीं कर सकता। कानून वही है जो सम्प्रभु शक्ति घोषित करती है। इस प्रकार कानून का कोई दैवीय आधार नहीं होता। सारा कानून सम्प्रभु से उत्पन्न होता है। स्वयं समाज में प्रचलित प्रथागत कानून भी इस सम्प्रभु से मान्यता प्राप्त करते है। सम्प्रभु कभी गलत नहीं होता और न ही उसके द्वारा बनाये गये कानून गलत हा सकते है।

सम्प्रभु को कानून बनाने के लिये किसी भी अन्य सत्ता के अनुमति की आवश्यकता नहीं होती। उसके अनुसार सामान्य राजा या एक व्यक्ति समूह सम्प्रभु शक्ति का प्रयोग करता है। हाँलाकि सम्प्रभुता के स्रोत के रूप में वह जनता का प्रस्तुत को प्रस्तुत करता है। उसके अनुसार अन्तिम रूप से सम्प्रभुता व्यक्ति में नहीं बल्कि जनता में निहित होती है। शासक जनता के प्रसाद पर्यन्त अपना अधिकार रखते है। एक समयावधि निश्चित भी हो सकती है और अनिश्चित भी। अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक'में वह इसके कई उदाहरण देते है। जैसे एथेंस में चुने गये व्यक्ति को दस वर्ष के लिए सत्ता दी जाती है। दस वर्ष बाद पुनः जनता को यह अधिकार प्राप्त हो जाता था कि वह किसे शासक चुनें? इस प्रकार बोदां जन सम्प्रभु की अवधारणा में विश्वास करता है।

सम्प्रभुता के विशेषताओं की चर्चा करते हुये वह सचेत रहता है। उसके अनुसार सम्प्रभुता विवके सम्मत होती है। इसलिये वह आपराधिक गिरोह के नम्न शक्ति या बलप्रयोग जैसी नहीं होती है। वह अपने शक्ति का प्रयोग न्याय, विवके और उचित अनुचित के पैमाने में करके स्वीकार्य बनती है। इससे उसको वैधता प्राप्त होती है जो बाध्य न होकर व्यक्ति या नागरिक की आन्तरिक स्वीकृति पर आधारित होती है। सम्प्रभुता में निरकुंशता नहीं होती। इसी के परिप्रेक्ष्य में वह सम्प्रभुता के ऊपर समाज स्वीकृत बन्धनों की चर्चा करता है।

3.3.5.7 सम्प्रभुता पर अवरोध

जीन बोदां ने सम्प्रभुता को असीमित स्थायी, शाश्वत, कानूनों का स्रोत अविभाज्य, न्यायपूर्ण बताते हुये भी उस पर कुछ सीमाएं आरोपित की है। बोदां के अनुसार - प्रथम, सम्प्रभुता को ईश्वरीय कानून के अधीन होना चाहिए। ईश्वरीय कानून सर्वोपरि है। पृथ्वी पर सभी उसके अधीन है। स्वयं प्राकृतिक कानून ईश्वरीय कानून के अधीन है। प्राकृतिक कानून युक्ति का साक्षात रूप है। शासक न्याय के नियमों से ऊपर नहीं है। सत्य, न्याय, परोपकार और सद् आचरण ईश्वरीय कानून के अनुसार है। शासक को उसके अधीन कार्य करना चाहिए। शासक के ऊपर अन्तर्राष्ट्रीय कानून का भी प्रतिबन्ध है। यह भी प्राकृतिक कानून की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अंग है। शासक को इसका पालन स्वेच्छा से करना होता है। कोई बाध्य और आन्तरिक शक्ति इसके लिए सम्प्रभु शक्ति का प्रयोग करने वाले को बाध्य नहीं करती है। वह स्वयं नैतिक कर्तव्य के रूप में इसका पालन करता है। ईश्वरीय कानून का पालन उसे नग्न बल प्रयोग पर आधारित किसी संगठन से भिन्न करता है। क्योंकि डाकुओं के गिरोह में ईश्वरीय कानून की सीमा का पालन नहीं होता जबकि दोनों संगठन असीमित बल प्रयोग का दावा करते है।

द्वितीय, सम्प्रभु के ऊपर दूसरा प्रतिबन्ध सांविधानिक कानूनों का है। राज्य को इन कानूनों का अवश्य पालन करना चाहिए। ऐसी स्थिति में बोदां संविधानवादी की भाँति विचार व्यक्त करते है। फ्रांस में उस समय दो कानूनों सैलिक कानून (Sallc Law) और भूमि के अधिकार को समाप्त न करने वाले कानून (All enatlon of Domaln) को मौलिक कानून के रूप में लिया जाता है। सैलिक कानून राजसत्ता के उत्तराधिकार में ज्येष्ठपुत्र को सदैव प्राथमिकता दिये जाने का समर्थन करता था। सैलिक

कानून को शासक बदल नहीं सकता था। यह सीमा इस बात को दर्शाती है कि कुछ कानूनों की स्वयं सभी कानूनों का निर्माता सम्प्रभु अथवा राजा भी बदल नहीं सकता।

तीसरा, बोदां के अनुसार सम्प्रभु राज्य के अधीन प्रजा या नागरिक की सम्पत्ति को छीन या जब्त नहीं कर सकता। 'रिपब्लिक'में वह लिखता है कि 'किसी न्यायसंगत उद्देश्य के बिना शासक दूसरे की सम्पत्ति को न छीन सकता है और न दूसरों को दे सकता है।'वह सम्पत्ति को आदर की दृष्टि से देखता है और परिवार की कल्याण में सम्पत्ति को अनिवार्य मानता है। परिवारों और सम्पत्ति के मेल के रूप में ही वह राज्य की परिभाषा देता है। ऐसे में वह सम्पत्ति को सम्प्रभु शक्ति के अधीन करने को अतार्किक मानता है। उसके अनुसार सम्पत्ति पर कर लगाने की सम्प्रभु की शक्ति अत्यन्त सीमित है और सीमित मात्रा में वह प्रतिनिधि सभा के समर्थन से ही ऐसा कर सकता है। इस प्रकार ईश्वरीय कानून तथा सांविधानिक कानून के बाद सम्पत्ति वह तीसरा अवरोध है जो बोदां सम्प्रभु पर आरोपित करता है।

3.3.6 आलोचना

सम्प्रभुता की स्पष्ट व्याख्या करने के बाद उस पर तीन तरह के अवरोध लगाना जीन बोदां के राजनीतिक दर्शन का अन्तर्विरोध है जिसे आलोचना का सामना करना पड़ा है। सम्प्रभु को ईश्वरीय कानून, प्राकृतिक कानून के अधीन करके वह सम्प्रभुता की अपनी संकल्पना को अपूर्ण कर देते है। वास्तव में वह मध्यकालीन अवधारणा थी कि कोई भी सत्य, न्याय और सद् व्यवहार के उच्च नैतिक मूल्यों का उल्लंघन नहीं कर सकता। इसका स्रोत ईश्वरीय इच्छा या कानून होता है। राज्य और उसके कानून पार्थिव या लौकिक होने के कारण इसका उल्लंघन नहीं कर सकते। हाँलाकि प्राकृतिक कानून की व्याख्या और घोषणा का अधिकार देकर बोदां एक अन्य अन्तर्विरोध में फंसता हैं शासक या सम्प्रभु को अपनी इच्छा के अनुरूप ईश्वरीय कानून या प्राकृतिक कानून की व्याख्या से रोकने का उसके पास कोई विचार नहीं है किन्तु इस पर सबके बड़ी आपकी स्वयं बोदां द्वारा सम्प्रभु सम्बन्धी विचार को अपूर्ण कर देना है।

दूसरा सांविधानिक या मौलिक कानूनों का प्रतिबन्ध सारहीन है क्योंकि ये कानून सार्वभौम नहीं है। क्षेत्र और परिस्थिति के अनुरूप यह बदलते रहते है। बोदां का यह विचार फ्रांस की परम्परा और परिस्थिति के अनुकूल होने के कारण सैद्धान्तिक महत्व कम रखते है। असीमित सम्प्रभुता पर इस तरह के अवरोध का कोई औचित्य नहीं सिद्ध होता।

तीसरा, निजी सम्पत्ति के प्रबन्धन पर लगाया गया प्रतिबन्ध भी औचित्यहीन लगता है। व्यावहारिक रूप से यह प्रतिबन्ध सम्भव नहीं है। आधुनिक समय में राज्य की आर्थिक गति-विधियाँ लगातार बढ़ती गई। ऐसे में कराधान से दूरी रखना असम्भव है। सम्प्रभु के गुणों के साथ असंगत होने के साथ-साथ इस प्रकार का प्रतिबन्ध अव्यावहारिक भी है। राजा की निरंकुश शक्ति और सम्पत्ति के क्षेत्र में उसकी बाध्यता आपस में अन्तर्विरोधपूर्ण है। इसका समाधान किसी एक को समाप्त करके ही निकाला जा सकता है।

बोदां सम्प्रभुता सम्बन्धी अपने विचारों को स्पष्टता से प्रस्तुत करता है किन्तु उनके द्वारा सम्प्रभुता पर लगाये गये प्रतिबंध विवाद और विरोध की स्थिति उत्पन्न करते है। सम्प्रभुता सिद्धान्त को आधुनिक अर्थों में सबसे पहले बोदां ने ही दिया। वह राज्य व्यवस्था को विवादहीन मानकर अपने विचार देता है जिसमें जनता तथा शासक के बीच सदैव सहमति और सामन्जस्य हो। शासक विवेकवान होकर इन

प्रतिबन्धों का पालन करें। इन प्रतिबन्धों के पालन का दायित्व स्वयं सम्प्रभु का है। व्यावहारिक स्तर पर इसका कोई उदाहरण राजनीति विज्ञान के इतिहास में नहीं मिलता है। सम्प्रभुता के सम्बन्ध में बोदां की असंगति को आगे हाब्स और आस्टिन ने तर्कसंगत ढंग से दूर किया। सेबाइन ने इन तीनों प्रतिबन्धों को सम्प्रभुता की अवधारणा को विपरीत बताया। दोनों की साथ-साथ उपस्थिति भ्रम है। सेबाइन ने कहा - ''यह भ्रान्ति कोरे अन्तर्विरोध के समान है जो उसके सिद्धान्त के त्रुटिपूर्ण संगठन से ही उत्पन्न हुई है।'

3.3.7 मूल्याँकन

जीन बोदां का महत्व कई कारणों से राजनीतिक चिंतन के इतिहास में है। वह अपने समकालीन विचारकों से कई मायनों में अलग और आधुनिक था। विशेषकर सम्प्रभुता की संकल्पना को स्पष्ट कर उसने राष्ट्र राज्य की प्रमुख समस्या को दूर किया। मौलिक ढंग से उसने बताया कि सम्प्रभु शक्ति के कारण ही राज्य की सत्ता विशिष्ट और सर्वोच्च होती है। इसी कारण वह अपने राज्य के भीतर निवास करने वाले व्यक्तियों संघों और संगठनों से ऊपर तथा उनपर प्रभावी होता है। किसी भी बाह्य सत्ता का आदेश उसके लिये बाध्यकारी नहीं होता है। इसके पहले मैकियावेली, जिसे प्रथम आधुनिक विचारक होने का गौरव प्राप्त है, भी सम्प्रभुता की संकल्पना को स्पष्ट करने में सफल नहीं रहा था। यह बोदां की उपलब्धि है। किन्तु सम्प्रभुता पर अवरोध लगाकर उसने अपूर्ण संकल्पना दी जिसे बाद में हाब्स और आस्टिन जैसे विचारकों ने विधिक तौर पर स्पष्ट किया। इस अपूर्णता के बाद भी बोदां का महत्व निश्चित रूप से अन्य की अपेक्षा अधिक है।

बोदां राज्य की परिभाषा आधुनिक अर्थों में देकर उसे मध्ययुगीन मान्यताओं से दूर करने का प्रयास किया। आधुनिक राजनीति के प्रमुख कारक के रूप में राष्ट्र राज्य के महत्व की पहचान बोदां ने की, हाँलाकि मैकियावेली ने सर्वप्रथम स्टेट (State) शब्द का प्रयोग किया। किन्तु उसने राज्य को सैद्धान्ति स्तर स्पष्ट नहीं किया। बोदां ने उसे सैद्धान्ति स्तर पर प्रस्तुत किया। राज्य ही नहीं उससे जुड़ी अन्य बातों को भी बोदां ने गम्भीरता से प्रस्तुत किया। मैक्सी ने बोदां की रिपब्लिक को राजनीति विज्ञान का प्रथम निबन्ध माना है। इसी पुस्तक में बोदां ने नागरिकता की परिभाषा दी। नागरिकों को राजसत्ता से सम्बन्धित करके आज्ञापालन के औचित्य को बोदां ने स्पष्ट किया। किसी भी राजनीतिक चिन्तक द्वारा यह पहली बार किया गया। उसके द्वारा विशुद्ध अर्थों में ऐतिहासिक पद्धति अपनायी गयी। ऐतिहासिक पद्धति का अनुसरण करते हुये उसके आत्मनिष्ठ मानक निष्कर्षों पर हावी नहीं हुये जैसा कि मैकियावेली के साथ हुआ था। उसने विधिशास्त्र में तुलनात्मक ऐतिहासिक पद्धति की शुरूआत की। राज्य को सहिष्णुता का सुझाव देकर वह आधुनिक धर्मनिरपेक्ष (Secular) राज्य को सैद्धान्तिक आधार देने वाला प्रथम विचारक बन गया। बोदां ने ही सबसे पहली बार राजनीति पर भौगोलिक परिस्थिति के प्रभाव को अध्ययन के अन्तर्गत शामिल करने का सुझाव दिया। उसके अन्दर गम्भीर विश्लेषण की शक्ति थी जिसका मैकियावेली के अन्दर नितान्त अभाव दिखता है।

बोदां के विचारों ने जॉन लाक, मान्टेस्क्यू सहित उदारवादी परम्परा में सभी विचारकों को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया।

स्वयं बोदां भी अरस्तू सहित ग्रीक विचारों से प्रभावित था। उसके योगदानों की प्रशंसा करते हुये भी यह ध्यान रखना होगा कि बोदां पूरी तरह से आधुनिक नहीं था। सम्प्रभुता पर तीन तरह के प्रतिबन्ध लगाकर उसने सिद्धान्त को अपूर्ण और भ्रामक कर दिया। वही सहिष्णुता का समर्थन करते हुये भी नास्तिकों सहित नये धार्मिक सम्प्रदाय के उदय को हानिकारक मानना अतार्किक और मध्यकालीन

लगता है। परिवार के माध्यम से ही राज्य की नागरिकता स्वीकारने, राजनीति पर ग्रह नक्षत्रों की गतियों के प्रभाव को मानने तथा राज्य को संविदा से बधा मानना मध्ययुगीन प्रवृत्ति की परिचायक है। बोदां इससे मुक्त नहीं हो सका।

हाँलाकि बोदां की आलोचना के पीछे ठोस तथ्य है। फिर भी बोदां के राजनीतिक विचार अपने समय के अनुकूल थे। उसने राजनीतिक चिंतन के विकास को बहुत प्रभावित किया। उसने अपने समय की राजनीतिक चुनौतियों का वैचारिक स्तर पर सामना किया। उसकी पुस्तक 'रिपब्लिक'अपने समय की सर्वाधिक प्रशंसित पुस्तक रहीं। बोदां के राजनीतिक चिंतन अन्धविश्वास बुद्धिवाद, रहस्यवाद, उपयोगितावाद और पुरातनवाद का सम्मिश्रण है। आधुनिक काल को दहलीज पर बोदां एक आवश्यक व महत्वूपर्ण राजनीतिक चिन्तक के रूप में उपस्थित होता है।

3.3.8 पाठसार/साराश

जीन बोदां ने सर्वप्रथम सम्प्रभुता की संकल्पना को स्पष्अ किया। उसने आधुनिक युग की प्रवृत्तियों को अपने राजनीतिक चिंतन में जगह दी विश्लेषणात्मक विधिशास्त्र को प्रस्तुत करके, राजनीति और पर्यावरण के बीच सम्बन्धों की पहचान उसकी विशिष्टता रही। हाँलाकि मध्यकालीन मूल्यों और सोच को उसने अपने चिंतन में स्थान दिया। वह राजनीति पर ज्योतिष तथा नक्षत्रों का प्रभाव मानता था। यह उसके चिंतन का आलोचनात्मक विषय वस्तु बन गया। बोदां ने सहिष्णुता पर अपने विचार व्यक्त किये। यह बोदां की उपलब्धि था बोदां के विचारों के माध्यम से समकालीन राजनीति को व्यवस्थित रूप से समझा जा सकता है।

3.3.9 अभ्यास/बोध प्रश्न (बहुविकल्पीय, लघु उत्तरीय तथा दीर्घ उत्तरीय)

3.3.9.1 बहुविकल्पीय प्रश्न:

1. बोदां ने अपने ग्रन्थों की रचना किस भाषा में की ?
   (1) अंग्रेजी (2) ग्रीक (3) लैटिन (4) फ्रांसीसी
2. 'कानून विज्ञान' के जनक के रूप में कौन विख्यात है ?
   (1) मैकियावेली (2) जीन बोदां (3) रूसो (4) मान्टेस्क्यू
3. सम्प्रभुता की आधुनिक संकल्पना सर्वप्रथम किसने प्रस्तुत की ?
   (1) जीन बोदां (2) मैकियावेली (3) हाब्स (4) जॉन आस्टिन
4. जीन बोदां ने सम्प्रभुता पर कितने प्रकार के अवरोध बताए है ?
   (1) एक (2) दो (3) तीन (4) चार
5. किसने 'रिपब्लिक' को राजनीति विज्ञान का प्रथम निबन्ध माना है ?
   (1) सेबाइन (2) बार्कर (3) जोन्स (4) मैक्सी

3.3.9.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. बोदां के अध्ययन पद्धति की विशेषता बताईये ?
2. सरकार के सम्बन्ध में बोदां का वर्गीकरण लिखिए ?
3. सहिष्णुता के सम्बन्ध में बोदां के क्या विचार थे ?
4. 'रिपब्लिक'में सम्प्रभुता पर कौन-कौन से प्रतिबन्ध की चर्चा की गई है ?
5. बोदां राज्य की भाषा किन रूपों में देता है ?
6. बोदां राज्य में किसे स्वतंत्रता देने का पक्षधर नहीं है ?
7. बोदां में प्रमुख मध्यकालीन लक्षण बताईये ?

8. बोदां के अनुसार राज्य की उत्पत्ति कैसे होती है ?

3.3.9.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. बोदां के प्रमुख राजनीतिक विचारों की चर्चा कीजिए ?
2. बोदां के सम्प्रभुता सम्बन्धी विचारों की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए ?
3. आधुनिक राजनीतिक चिंतन में बोदां के योगदान का वर्णन कीजिए ?
4. राज्य, क्रांति और सहिष्णुता सम्बन्धी बोदां के विचारों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए ?
5. 'बोदां का राजनीतिक दर्शन अन्तर्विरोधों का सम्मिश्रण है।' इस कथन की समीक्षा कीजिए ?

3.3.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. फड़िया, डा0 बी0एल0 (2018) पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन, आगरा, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा, 9789351733126
2. गाबा, ओ0पी0 (2017), वेस्टर्न पालिटिकल थाट्स, नोएडा, मयूर पेपरबैक्स, नोएडा
3. सूद, ज्योति प्रसाद (2002) आधुनिक राजनीतिक चिनतन का इतिहास (चार भागों में) मेरठ, के0 नाथ एण्ड कम्पनी, मेरठ

इकाई 4: जॉन आस्टिन के राजनीतिक विचार

इकाई की रूपरेखा

3.1.1 उद्देश्य कथन
3.4.2 प्रस्तावना
3.4.3 परिचय
3.4.4. सम्प्रभुता संबंधी विचार
3.4.5 आलोचना
3.4.6 कानून संबंधी विचार
3.4.7 राजनीतिक विचार
3.4.8 राज्य और स्वतंत्रता
3.4.9 पाठसार/सारांश
3.4.10 अभ्यास/बोधप्रश्न (बहुविकल्पीय, लघुउत्तरीय तथा दीर्घउत्तरीय प्रश्न)
3.4.10.1 बहुविकल्पीय प्रश्न
3.4.10.2 लघुउत्तरीय प्रश्न
3.4.10.3 दीर्घउत्तरीय प्रश्न
3.4.11 कठिन शब्दावली
3.4.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

3.4.1 उद्देश्य कथन:

1. इस अध्याय के अन्तर्गत हम उपयोगितावाद के आधार पर विकसित व्यावहारिक कानून की दार्शनिक पृष्ठभूमि को समझ सकते है। समकालीन सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक माँगों को कानून और सम्प्रभुता के सूत्रों से समझने और स्पष्ट करने की समझ विकसित होगी।
2. जॉन आस्टिन के विचारों के माध्यम से राज्य, सत्ता और नागरिक के बीच सम्बन्ध को सम्प्रभुता के विचारों को स्पष्ट करने के क्रम में स्पष्टतया समझ सकेंगे। कानून के उपयोगितावादी आधार को स्पष्ट करते हुये आस्टिन के राजनीतिक अवदान को समझ सकेंगे।

3.4.2 प्रस्तावना:

1. उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में उपयोगितावादी दर्शन बेंथम और उसके समर्थकों द्वारा लोकप्रिय बनाया गया। जॉन आस्टिन ने उपयोगितावादी आधार और तर्कों के आधार पर सम्प्रभुता को स्पष्ट किया। उन्होंने सम्प्रभुता को न केवल मध्यकालीन व्याख्याओं, प्रभावों और नियन्त्रणों से मुक्त किया बल्कि बोदां की अपूर्ण व्याख्या को भी पूर्ण किया।
2. जॉन आस्टिन ने राज्य की स्थिति, शासितों के साथ उसके समबन्ध को स्पष्ट वैचारिक आधार पर स्पष्ट किया। राज्य की शक्ति का स्रोत क्या होता है? सम्प्रभुता की स्थिति तथा राज्य के कानून को जॉन आस्टिन ने सम्बोधित करते हुये उसे आपस में सम्बन्धित किया। माननीय कानून को पार्थिव व्याख्या की तथा पारलौकिक कानून से सम्बन्धित करने के प्रयास की आलोचना करते हुये मानवीय कानून को स्पष्ट किया।

3.4.3 परिचय:

राजनीतिक चिन्तन में जॉन आस्टिन का महत्व राज्य और कानून की स्थिति तथा उसके सम्बन्ध को स्पष्ट और तार्किक रूप से प्रतिष्ठित करने के लिए है। उसने पूर्व में प्रचलित अस्पष्टता को दूर किया। उसका मानना था कि कानून का कोई अनिश्चित, परालौकिक या अमूत्र्त आधार नहीं होता है। मानव और उसके समाज से सम्बन्धित कानून का सुनिश्चित आधार और स्रोत होता है। जॉन आस्टिन के विधि तथा सम्प्रभुता सम्बन्धी विचार उपयोगितावाद के अनुकूल है। वह बेंथम तथा जेम्स मिल की परम्परा में विधिक क्षेत्र में उपयोगितावादी मानदण्डों और संकल्पना को लागू करता है। जॉन आस्टिन इग्लैण्ड का रहने वाला था। उसका जन्म 1790 में तथा मृत्यु 1859 ई0 में हुई थी। एक वकील के रूप में सार्वजनिक जीवन शुरू करने के बाद जल्दी ही बना न्याय शास्त्र के सैद्धान्तिक विवेचन से सम्बन्धित हो गया। उसकी प्रसिद्धि का प्रमुख कारण उसकी पुस्तक 'लेक्चर्स आफ जूरिसप्रूडेन्स' है जो उसकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुई। यह पुस्तक वास्तव में विभिन्न काल क्रम में उसके द्वारा लिये गये लेखों का संग्रह है। उसने इसके अतिरिक्त 'द प्रोविन्स आफ जूरिसप्रूडेन्स डिटरमान्इड''द प्लान फार कान्स्टीच्यूशन' तथा 'आन द स्टडी आफ जूरिसप्रूडेन्स' नामक पुस्तकें भी लिखी।

जॉन आस्टिन की प्रसिद्धि विधि के दर्शन पर विधिक प्रत्यक्षवाद की सहायता से अपने विचार व्यक्त करने को लेकर है। विधि के क्षेत्र में आस्टिन के विशेष दृष्टिकोण को विश्लेषणीय सम्प्रदाय या स्कूल के नाम से जाना जाता है। वह यथार्थवादी दृष्टिकोण से कानून तथा राज्य के अध्ययन के समर्थक थे। नीति और विधि के अन्तर को स्पष्ट करके उन्होंने धार्मिक मान्यताओं, शाब्दिक उलझनों तथा अस्पष्ट क्षेत्र से विधि को मुक्त कराने का कार्य किया। उनसे पे्ररणा ग्रहण करके बाद के न्यायाशास्त्रियों ने विधि के दर्शन और विधिशास्त्र को लौकिक और वास्तविक बनाया।

3.4.4 सम्प्रभुता सम्बन्धी विचार:

जॉन आस्टिन उपयोगितावादी विचारक था। उपयोगितावादी विचारक राज्य के सम्बन्ध में प्राकृतिक समझौते के सिद्धान्त को अस्वीकार कर एक पृथक उपयोगितावादी मानदण्ड को प्रतिष्ठित करते है। जहाँ मानवीय जीवन में सुविधा या सुख प्रदान करने के मानदण्ड से राज्य के अस्तित्व और आज्ञा को स्वीकार किया जाता है।

जॉन आस्टिन ने सम्प्रभुता पर स्पष्टता से अपने विचार व्यक्त किए। अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'लेक्चर्स आन जूरिसप्रूडेन्स' में सम्प्रभुता की परिभाषा देते हुए उन्होंने कहा कि ''यदि कोई निश्चित मानव श्रेष्ठ जो किसी अन्य समान मानव श्रेष्ठ की आज्ञा का पालन करने का स्वभाव नहीं रखता है उसकी आज्ञा का पालन समाज का बड़ा भाग स्वतः ही करता है। वह निश्चित मानव श्रेष्ठ उस समाज में सम्प्रभु है वह समाज (निश्चित श्रेष्ठ व्यक्ति सहित) एक राजनीतिक और स्वतंत्र समाज है।''

इस परिभाषा से जॉन आस्टिन ने पूर्ववर्ती सभी कमियों से सम्प्रभुता के विचार को मुक्त कराया और विशुद्ध रूप में उसे प्रस्तुत किया। आस्टिन के विवेचन से यह स्पष्ट है कि सर्वप्रथम वह मानता है कि सम्प्रभुता किसी भी राज्य में किसी निश्चित मानव श्रेष्ठ या व्यक्ति समूहों में रहती है। यह व्यक्ति विशेष या समूह अपने स्थिति में सर्वोच्च होता है अन्य सभी व्यक्ति उसकी या उनकी आज्ञाओं का पालन सहज रूप से करते है। इस विचार के साथ आस्टिन ने सम्प्रभुता के विषय में अब तक चली आ रही सभी भ्रान्तियों और अतार्किक मान्यताओं को समाप्त किया। बोदां ने उसे सर्वोच्च शक्ति बताते हुए भी लौकिक जीवन में

उसके स्थान को सुनिश्चित नहीं किया था इस प्रकार उसके विषय में स्पष्टता थी जबकि रूसों के विचार में सम्पूर्ण जनता में निहित होकर वह अमूर्त और दार्शनिक प्रवृत्ति की हो जाती है जिससे विधिक पक्ष को कोई विशेष लाभ नहीं मिलता है। आस्टिन ने सम्प्रभुता को व्यक्ति विशेष लाभ नहीं मिलता है। आस्टिन ने सम्प्रभुता को व्यक्ति विशेष या संस्था विशेष में स्थान देकर निश्चयात्मक स्वरूप प्रदान किया। इसी परिभाषा में यह भाव अन्तर्निहित है कि वह निश्चित श्रेष्ठ व्यक्ति अपने अधिकार क्षेत्र में अन्य सभी व्यक्तियों, संस्थाओं, परम्पराओं व प्रथाओं से उपर और प्रभुत्वशाली है।

दूसरे, व्यक्ति या व्यक्ति समूह की श्रेष्ठता तथा प्रभुत्वशाली होने का अन्तर्निहित गुण यह है कि वह निरकुंश, सर्वोच्च, स्थायी, सर्वव्यापक और असीम है। उसके अधिकार क्षेत्र की कोई सत्ता उसके आदेश का उल्लंघन नहीं कर सकती। छोटी या बड़ी सभी संस्थाए उसके अधीन है। वह न केवल संस्थाओं और व्यक्तियों से उपर है बल्कि वह पूर्ववर्ती मान्य परम्पराओं, सामाजिक रीति-रिवाजों, कानूनों और प्रथाओं से भी प्रतिबंधित नहीं होता। बल्कि ये सभी अपने अस्तित्व के लिये सम्प्रभु की इच्छा पर निर्भर करती है। यहाँ जॉन आस्टिन बोदां से परिमार्जित और स्पष्ट दृष्टि सम्पन्न हो जाता है। बोदां ने सम्प्रभुता को निरकुंश और सर्वोच्च स्वीकार करते हुये भी उस पर ईश्वरीय कानून, प्रथागत कानून इत्यादि की बाध्याताएं आरोपित कर दी थी जो एक अन्तर्विरोध पैदा करती थी।

जॉन आस्टिन ने इन सभी प्रतिबन्धों को अमान्य किया। आस्टिन के अनुसार सम्प्रभु शक्ति प्रतिबन्धविहीन होती है। वह स्वयं अपनी सीमा निर्धारित करती है तथा यह सीमा भी ऐच्छिक होती है। तीसरे, राज्य के भीतर उपस्थित सभी विधियाँ और बनाये जाने वाले सभी कानून सम्प्रभु की मान्यता पर निर्भर होते है। कानून सम्प्रभु की बना सकता है। चलते हुये कानून को मान्यता देना और उससे अस्वीकार करना सम्प्रभु की शक्ति के अन्तर्गत आता है। कानून अपने अस्तित्व के लिए सम्प्रभु शक्ति पर निर्भर होते है। इस प्रकार किसी अनियंत्रित, अराजनीतिक और अव्यवस्थित जनसमूह को सम्प्रभु शक्ति की विधिवत व्यवस्थित रूप प्रदान करती है। सामाजिक प्रथाए और परम्परा तभी तक मान्य हो सकती है जब तक सम्प्रभु शक्ति की स्वीकृति उसके पीछे होती है।

चैथे, राजनीतिक रूप से संगठित समाज में सम्प्रभु व्यक्ति या समूह से भिन्न और अलग लोग सम्प्रभु की आज्ञाओं का पालन स्वाभाविक रूप से करते है। जनता सम्प्रभु को वैध आज्ञा के स्रोत के रूप में मान्यता देती है और उसकी आज्ञाओं का पालन करना अपना कर्तव्य समझती है। सम्प्रभु की आज्ञा का पालन विकल्पहीन और स्वैच्छिक होता है। हाँलाकि स्वेच्छा के अभाव में वह बाध्यकारी भी होता है।

आस्टिन के सम्प्रभुता सम्बन्धी विचार की एक अन्य विशेषता है। उसका नैतिक मूल्यांकन नहीं हो सकता है। उसकी यह संकल्पना पूर्णतया विधिक, तथ्यतः और वस्तुनिष्ठ है। नैतिक मानदण्ड इस सत्ता के विषय में लागू नहीं होते। यह व्यावहारिक जीवन की सैद्धान्तिक अभिव्यक्ति है जो मूल्यों से संचालित नहीं होती है।

इसी परिभाषा में आस्टिन ने राजनीतिक समाज के स्वरूप को स्पष्ट किया है। एक निश्चित सम्प्रभु के कारण ही राजनीतिक समाज अस्तित्व में आता है। यह निश्चित समाज अपने विशिष्ट सम्प्रभु शक्ति के व्यक्ति या व्यक्ति समूहों के कारण दूसरे राजनीतिक समूह से अलग होता है। इस राजीनितिक समूह की सारी विशेषताएं सम्प्रभुता से सम्बन्धित होती है।

सम्प्रभुता की विशिष्ट और मौलिक विशेषताएं होती है। यह स्थायी शक्ति है। इसे कुछ समय के लिए स्थान्तरित या बदला नहीं जा सकता। निश्चित व्यक्ति या व्यक्तियों में रहने के कारण यह निश्चित होती है अपने राज्य क्षेत्र में इसके लिए कोई चुनौती या प्रतिद्वन्दिता नहीं होती है। यह स्वयंभू और अकेला

शक्ति होती है जिसके समक्ष या समतुल्य दूसरी शक्ति नहीं होती। अपने अधिकार क्षेत्र में यह पूर्णतया व्यापक और हर स्थिति में स्वीकार्य होती है। इसका विभाजन असम्भव है। विभाजन के साथ ही शक्ति समाप्त हो जाती है।

इस प्रकार सम्प्रभुता के विचार को आस्टिन ने स्पष्ट किया। उसका यह विचार हाब्स से सबसे अधिक प्रभावित है जो राज्य की सत्ता को सर्वोच्च सिद्ध करने के लिए तार्किक दृष्टि से अपने विचार निरकुंश राजतंत्र तक ले जाता है किन्तु उसने उस तत्व का पर्याप्त व्याख्या नहीं की जो राज्य को राज्य के रूप में स्थापित करता है। यह कार्य आस्टिन ने किया हाँलाकि उसके वैचारिक धरातल को बेंथम के उपयोगितावाद से दृष्टि मिली। बेंथम ने सम्प्रभुता की व्याख्या केवल सकारात्मक भाव से की थी जो अपूर्ण थी जिस प्रकार बोदां की व्याख्या अपूर्ण थी। उसने सम्प्रभु को सुनिश्चित कर आम जनता के साथ उसके सम्बन्धों को स्पष्अ करने के क्रम में राजनीतिक समाज की संकल्पना को भी तय कर दिया। यह राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में पहली बार सम्भव हुआ था।

हाँलाकि आस्टिन के सम्प्रभुता सिद्धानत की आलोचना भी की जाती है। जिसके विषय में जॉनना आवश्यक है।

3.4.5 आलोचना:

जहाँ एक ओर एकात्मवादी सम्प्रभुता के समर्थकों में जॉन आस्टिन के सम्प्रभुता सम्बन्धी विचारों को महत्वपूर्ण और आदरणीय समझा जाता है। वही उनकी व्यापक आलोचना बहुलवादी और समाजशास्त्रीय विचारकों के द्वारा सामने आयी है। सर हेनरी मेन ने अपनी पुस्तक 'एशिएन्ट सोसाइटी' में इसकी आलोचना करते हुए कहा है कि प्राचीन समाज में सम्प्रभु के नाम पर निश्चित श्रेष्ठ व्यक्ति का आस्तित्व नहीं दिखाई देता है। दूसरी ओर इतिहास में निरकुंश शासक भी प्रथाओं और परम्पराओं का सम्मान करते देख गये है। हेनरी मेन के अनुसार प्राचीन काल में तुर्की के शासक या पंजाब के शासक महाराजा रणजीत सिंह जैसे शासकों ने भी अपनी राज्य की परम्पराओं का पालन किया। पूर्ण मध्ययुग में शक्तिशाली दिल्ली सल्लतन के शासक और मुगल बादशाहों ने भी सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक नियमों का पालन किया। मेन या सिद्ध करना चाहता था कि सामाजिक प्रथाएं यथार्थ होती है और राजनीतिक सत्ता को उसका सम्मान करना होता है। ऐतिहासिक तथ्य से आस्टिन के सम्प्रभुता सम्बन्धी विचार पुष्अ नहीं होते है।

दूसरी ओर लाँस्की का कहना है कि सामाजिक संस्थाएं मानव सभ्यता के विकार और स्थायित्व में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है और परस्पर प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित करती है। इसकी उपेक्षा सम्प्रभु नहीं कर सकता। स्वयं कानून सामाजिक आवश्यकता की उपज होता है तथा इन्हीं विविध कानूनों से राज्य की उत्पत्ति होती है। लाँस्की, क्रैब और ड्यूग्वी का मानना है कि राज्य कानून निर्माण नहीं करता बल्कि कानून राज्य का निर्माण करते है। इसका आशय यह है कि मानव समाज की व्यापक और दीर्घकालिक सहमति के फलस्वरूप ही राज्य जैसे जटिल संस्था अस्तित्व में आती है जिसमें विकासवादी तरीकेक से जनसहमति का भाव अन्तर्निहित होता है। किसी भी समाज का शासक इसकी उपेक्षा नहीं कर सकता।

आस्टिन को परिभाषा के अनुसार किसी राजनीतिक समाज में निश्चित श्रेष्ठ व्यक्ति खोजना भी सम्भव नहीं हो सकता। प्राचीन भारत में सभी शासक धर्म से बंधे हुये थे। धर्म वही था जो राज्य के सलाहकार पुरोहित वर्ग और अन्य व्याख्यायित करते थे। पुरोहित स्वयं धर्म की परम्परागत व्याख्याओं से बंधे थे। इस प्रकार सामान्यतया प्राचीन भारत में निश्चित श्रेष्ठ व्यक्ति को खोजना कठिन था। आज के भारत में संविधान,

कार्यपालिका, व्यवस्थापितका और न्यायपालिका के बीच शक्तियों का बंटवारा करता है। स्वयं संविधान में भारत के लोगों को 'शक्ति का स्रोत' बताया गया। निश्चिय ही यहाँ 'निश्चित श्रेष्ठ व्यक्ति' को खोजना असम्भव है। यह आजकल के सभी लोकतांत्रिक शासन और व्यवस्था की विशेषता है।

सम्प्रभुता पर बाहरी प्रतिबन्ध भी होते है। अन्य सम्प्रभु राज्यों के साथ सम्बन्धों में कई बार राज्य अपनी इच्छा व हित से समझौता करते है। भूमण्डलीकृत विश्व में सम्प्रभुता की उन विशेषताओं को राज्य में खोजना असम्भव है। जिसके विषय में आस्टिन ने बताया। इस विश्व में कई गैर राज्य संगठन राज्य की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक गतिविधियों को निर्धारित करते है। ऐसे में सम्प्रभुता को सर्वोच्च और निरकुंश मानना सम्भव नहीं दिखता है।

स्वयं आस्टिन ने जिन राजनीतिक व्यवस्थाओं को अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाले थे। वहाँ भी उसकी संकल्पना शुद्ध रूप में लागू होती नहीं प्रतीत होती है। ब्रिटेन और अमेरिका की राजनीतिक व्यवस्था में निश्चित श्रेष्ठ व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह को सम्प्रभु मानना सम्भव नहीं है। अमेरिका में न तो मतदाता सर्वोच्च है और न ही संघीय कांग्रेस। संघात्मक शासन में सभी स्तरों पर शक्तियाँ बंटी हुई है और एक शक्ति दूसरे में हस्तक्षेप नहीं कर सकती है।

इस प्रकार आस्टिन के सम्प्रभुता सिद्धान्त की आलोचना उसकी सीमाएं निर्धारित कर देती है किन्तु इस बात का महत्व कम नहीं होता कि उसके सम्प्रभुता सम्बन्धी विचार से राज्य की बाध्यकारी शक्ति को यथार्थ और व्यवहारिक रूप से समझने में सहायता मिली।

3.4.6 कानून सम्बन्धी विचार:

जॉन आस्टिन की विशेषज्ञता का क्षेत्र विधि और विधिशास्त्र था। एक प्रतिबद्ध उपयोगितावादी की भाँति उसने प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त का विरोध किया और कानून को लौकिक सत्ता के साथ सम्बन्धित करते हुए कहा कि 'कानून सुनिश्चित सर्वोच्च शक्ति के इच्छा की अभिव्यक्ति है। जिसके अनुसार निर्धारित व्यवहार किया जाना चाहिए। इसके अभाव में वह दण्ड का भागी होता है।'

इस प्रकार आस्टिन की मान्यता है कि कानून सम्प्रभु के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। सम्प्रभु शक्ति स्पष्ट है इसलिये कानून भी स्पष्ट होता है। कानून को उत्पन्न करने वाली सत्ता प्राकृतिक दशा की स्थिति की भाँति अस्पष्ट और अमूत्र्त नहीं है। दूसरे इसके बाद समाज में प्रचलित हर बाध्यकारी कानून को सम्प्रभु शक्ति से स्वीकृति लेना अनिवार्य हो जाता है। तीसरे इसके उल्लंघन के लिये सम्प्रभु सम्बन्धित को दण्ड देने का असीम और निश्चयात्मक अधिकार रखता है।

विधिशास्त्र के व्यापक अध्ययन के उपरान्त आस्टिन ने कानून का वर्गीकरण किया और कहा कि कानून तीन प्रकार के होते है। पहला निश्चित कानून (Proper Law) दूसरा अनश्चित कानून (lmproper Laws) तथा प्रतीकात्मक कानून (Metaphor|cal Laws)।

निश्चियात्मक कानून के अन्तर्गत वह राज्य के कानूनों, दैवीय कानून को स्वीकार करता है। राज्य द्वारा बनायी गई विधियाँ ही मान्य होती है। नागरिक जीवन में केवल इन्हीं विधियों का महत्व होता है। सत्ता और नागरिक के बीच के सम्बन्ध को केवल राज्य विधियाँ ही नियन्त्रित करती है। राज्य के भीतर केवल इन्हीं कानूनों का महत्व होता है तथा मान्यता प्राप्त होती है। आस्टिन ने निश्चित कानून के अन्तर्गत दैवीय कानून को भी माना है। यह ईश्वर द्वारा सम्पूर्ण मानव समाज के लिये निर्मित कानून है। उपयोगितावादी दृष्टिकोण के अनुसार दैवीय कानून की व्याख्या करते हुये आस्टिन कहता है कि इन कानूनों का भी उद्देश्य मानव कल्याण है। यह नैतिक समस्याओं में मानव का मार्गदर्शन करती है। उपरोक्त

दोनों विधियों के अतिरिक्त आस्टिन ने समूहों, संघों तथा स्वैच्छिक संगठनों के लिए बनाये जाने वाले कानूनों को भी निश्चयात्मक कानून के अन्तर्गत माना है।

आस्टिन द्वारा निश्चयात्मक कानून का विभाजन सामाजिक प्रथाओं और रीति-रिवाजों तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के बीच किया गया है। दोनों प्रकार के कानूनों के पीछे सम्प्रभु शक्ति नहीं होती है इसलिए इसमें बाध्यकारी शक्ति निहित नहीं होती है। इसलिए अधिक से अधिक इसे मान्यता कहा जा सकता है जो समाज या अन्तर्राष्ट्रीय जगत में स्वैच्छिक रूप से मान्य की जाती है। किन्तु इसके उल्लघंन पर दण्ड नहीं दिया जा सकता। क्योंकि दण्ड देने वाली एकमात्र शक्ति सम्प्रभु शक्ति होती है। वह इन मान्यताओं का निर्माण नहीं करती है।

इसके अतिरिक्त आस्टिन प्रतीकात्मक कानूनों को भी मान्यता देता है विज्ञान और सामाजिक विज्ञान के नियमों को वह इसके अन्तर्गत वर्गीकृत करता है। जिसका महत्व ज्ञान विज्ञान के अध्ययन, प्राकृतिक जगत की समझ और मानवीय व्यवहार के मूल्यांकन के लिये होता है। रज्य की सम्प्रभु शक्ति का इसके साथ प्रत्यक्ष सम्पर्क या सम्बन्ध नहीं होता है।

3.4.7 राजनीतिक विचार:

जॉन आस्टिन घोषित रूप से उपयोगितावादी विचारक था। इस क्षेत्र में वह बेंथम के सहयोगी और जॉन स्टुअर्ट मिल के पिता जेम्स मिल का सहयोगी था। आस्टिन ने कानून सम्बन्धी विचारों को उपयोगितवादी आधार दिया। प्राकृतिक अधिकार के समर्थकों के विपरित वह स्वयं स्वतंत्रता को सम्प्रभुता सम्पन्न सुव्यवस्थित राज्य के अन्तर्गत ही सम्भव मानता था। उसके अनुसार अधिकार सम्प्रभु शक्ति द्वारा ही विधिवत प्रदान किये जाते है। अधिकार और स्वतंत्रता का कोई अमूत्र्त आधार नहीं हो सकता। स्वयं समाज के भीतर इसे सम्प्रभु शक्ति द्वारा उपयोगितावादी आधारों पर निर्मित और प्रस्तुत किया जाता है।

3.4.8 राज्य और स्वतंत्रता:

राज्य के विषय में भी जॉन आस्टिन उपयोगितावादी दृष्टिकोण से ही विचार काता है। व्यक्ति और राज्य का सम्बन्ध उपयोगितावादी होता है। राज्य के निर्देशों के पालन के पीछे व्यक्तियों के स्वयं के हित की पूर्ति का भाव अन्तर्निहित रहता है। इन सम्बन्धों का ठोस यथार्थ होता है। राज्य नागरिक समुदायों के बीच सर्वश्रेष्ठ रूप से समन्वय करती है। शान्ति व्यवस्था, आर्थिक प्रगति के नियम और सामाजिक व्यवस्था सभी को राज्य सबकी उपयोगिता की दृष्टि से निर्धारित करता है। आस्टिन के उपयोगिवाद को सार्वभौमिक उपयोगितावाद कहा जात है। इसके अनुसार किसी परिपक्व और क्षमतावान राजनीतक समुदाय की पहचान यह होती है जिसमें सभी समुदाय के हित साझे रूप में पूरे होते है।

स्वतंत्रता को परिभाषित करते है कि ‘‘राजनीतिक स्वतंत्रता वह स्वतंत्रता है जिसे एक सम्प्रभु अपने नागरिकों के लिये स्वीकृत करती है।’ अर्थात स्वतंत्रता वही होती है जो विधिवत सम्प्रभु सत्ता द्वारा स्वीकृत हो। व्यक्ति या नागरिक राज्य के विरूद्ध ऐसी स्वतंत्रता का दावा नहीं कर सकते जिसे सत्ता ने सृजित या स्वीकृत न किया हो। राज्य प्रशासन के लिये अमूत्र्त स्वतंत्रता का कोई महत्व नहीं होता। इस प्रकार अपने स्वतंत्रता सम्बन्धी विचारों में जॉन आस्टिन प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त को एक उपयोगितावादी की भाँति अस्वीकृत करते है। आस्टिन यह भी नहीं स्वीकार करते कि राजनीतिक स्वतंत्रता को राज्य के उपर वरीयता दी जानी चाहिये। इन स्वतंत्रता को राज्य के योजना और इच्छा के

अनुरूप ही उपलब्ध होना चाहिये। सत्ता के नियन्त्रण और शक्ति की स्वतंत्रता के बीच संतुलन राज्य का सर्वाधिकार है इसे अमूत्र्त आधारों पर चुनौती नहीं दी जा सकती।

3.4.9 पाठसार/सारांश

राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में आस्टिन का विशेष महत्व विधि सम्बन्धी विचार और सम्प्रभुता के विषय में स्पष्ट संकल्पना के लिए है। आस्टिन ने सम्प्रभुता की संकल्पना को विधिक स्रोत के रूप में स्पष्ट करते हुए उसे मध्ययुगीन तथा अतार्किक बाध्यताओं से मुक्त किया। कानून और नैतिकता के पृथक्करण को उसे मान्यता दी।

दूसरी ओर कानून का वर्गीकरण करते हुए उसने बाध्यकारी कानूनों और ऐच्छिक कानूनों अथवा सामाजिक मान्यताओं में अन्तर किया। आस्टिन का महत्व इस बात के लिये है कि उसने राज्य में सत्ता की स्थिति और अधिकार का स्पष्ट निरूपण किया। आधुनिक राज्य में नागरिक और सत्ता के सम्बन्ध को उसने उपयोगितावादी दृष्टिकोण से व्याख्यायित किया।

आस्टिन का प्रभाव बाद के विचारकों पर पड़ा। ए0वी0 डायसी, जेम्स ब्राइस, हॉलैण्ड, विलोबी जैसे विद्वानों आस्टिन के विचारों से प्रभावित हुआ। जॉन आस्टिन को विशलेषणात्मक विधिशास्त्र का मुख्य प्रतिपादक माना जाता है।

3.4.10 प्रश्न (बहुविकल्पीय, लघुउत्तरी तथा दीर्घउत्तरी)

3.4.11.1 बहुविकल्पीय प्रश्न:

1. जॉन आस्टिन कहाँ का निवासी था?
   (अ) इग्लैण्ड (ब) फ्रांस (स) जर्मनी (द) इटली
2. जॉन आस्टिन द्वारा लिखी रचना है?
   (अ) लेक्सर्च आन जूरिसप्रेडंस (ब) आइडिया आफ जस्टिस
   (स) स्पिरिट आफ लाज (द) आन रिपब्लिक
3. जॉन आस्टिन ने किया -
   (अ) प्राकृतिक अधिकारों का समर्थन (ब) दैवीय अधिकारों का समर्थन
   (स) उपयोगितवादी अधिकारों का समर्थन (द) माक्र्सवादी विचारों का समर्थन
4. जॉन आस्टिन को किसका जन्मदाता कहाँ जाता है?
   (अ) उपयोगितवाद का (ब) प्रत्यक्षवाद का
   (स) दैवीय उत्पत्ति ाके सिद्धान्त का (द) विश्लेषणात्मक न्यायशास्त्र का
5. उपयोगितावाद की शिक्षा जॉन आस्टिन को किसने दी?
   (अ) जॉन स्टुअर्ट मिल (ब) जेटेमी बेथम
   (स) जेमन मिल (द) लार्ड विलियम बैंटिक

3.4.11.2 लघु उत्तरीय प्रश्न :

1. सम्प्रभुता को जॉन आस्टिन ने कैसे परिभाषित किया?
2. जॉन आस्टिन स्पष्ट कानून को कितने भाग में विभाजित करते है?
3. आस्टिन की पुस्तक लेक्चर्स आन जूरिसप्रेडंस कब प्रकाशित हुई?

4. आस्टिन के उपयोगितावाद को सर्वाभौमिक उपयोगितावाद क्यों कहा जाता है?
5. आस्टिन के अनुसार अधिकारों की राज्य में क्या स्थिति होती है?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न:

1. जॉन आस्टिन के सम्प्रभुता सम्बन्धी विचारों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये?
2. आस्टिन के कानून सम्बन्धी विचार सविचार प्रस्तुत कीजिए?
3. आस्टिन के विचारों का राजनीतिक आधार उपयोगितावादी दर्शन में है। इस कथन की व्याख्या कीजिए?
4. राज्य, स्वतंत्रता और अधिकारों के सन्दर्भ में आस्टिन ने उपयोगितावाद का तार्तिक विस्तार किया है? व्याख्या कीजिये?
5. सम्प्रभुता के विचार के विकास के सन्दर्भ में बोदां और आस्टिन की तुलना करते हुये महत्वपूर्ण अन्तरों की व्याख्या कीजिये?

3.4.11 कठिन शब्दावली

1. **उपयोगितावाद:** यह विचारधारा यह मानती है कि मनुष्य सदैव सुख चाहता है और दुःख से बचना चाहता है। वह वही कार्य करना चाहता है जो उसके सुखों में वृद्धि करें। बेंथम ने इसे राजनीतिक रूप से व्यवस्थित किया। उसने कहा कि मनुष्य के सभी क्रियाकलाप के मूल में हित और उपयोगिता है।
2. **एकात्मवादी तथा बहुलवादी:** यह राज्य के स्वरूप तथा सम्प्रभुता से सम्बन्धित अवधारणाएं है। परस्पर विपरित इन अवधारणाएं में एकात्मवाद यह मानता है कि राज्य की सर्वोच्च शक्ति एक निश्चित मानव श्रेष्ठ में रहती है। जबकि बहुलवाद के अनुसार सर्वोच्च शक्ति विभिन्न मानव समुदायों तथा संघों में बंटी रहती है।

3.4.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. फड़िया, बी0एल0 (2018) पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन, आगरा, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा 9789351733126
2. गाबा, ओ0पी0 (2017), वेस्टर्न पालिटिकल थाट्स, नोएडा, मयूर पेपर बैक्स नोएडा
3. सूद, ज्योति प्रसाद (2002) आधुनिक राजनीतिक चिंतन का इतिहास (चार भागों में) मेरठ, के0 नाथ एण्ड कम्पनी, मेरठ

खण्ड- 4 सामाजिक संविदावादी राजनीतिक चिंतन

इकाई-1 सामाजिक समझौता का सिद्धांत : पृष्ठभूमि एवं विकास

इकाई की रूप रेखा

4.1.1 उद्देश्य कथन

4.1.2 प्रस्तावना

4.1.3 राज्य उत्पत्ति के सिद्धांत

4.1.3.1 दैवीय उत्पत्ति का सिद्धांत

4.1.3.2 मातृ सत्तात्मक सिद्धांत एवं पितृ सत्तात्मक सिद्धांत

4.1.3.3 शक्ति का सिद्धांत

4.1.3.3.1 शक्ति सिद्धांत का विकास

4.1.3.3.2 शक्ति सिद्धांत के मूल तत्व

4.1.3.4 विकासवादी सिद्धांत

4.1.3.4.1 रक्त संबंध

4.1.3.4.2 मनुष्य की स्वाभाविक सामाजिक प्रवृत्तियां

4.1.3.4.3 धर्म

4.1.3.4.4 शक्ति

4.1.3.5 मार्क्सवादी सिद्धांत

4.1.3.6 सामाजिक समझौते का सिद्धांत

4.1.3.6.1 सामाजिक समझौते के सिद्धांत काविकास

4.1.3.6.2 थॉमस हॉब्स

4.1.3.6.3 जॉन लॉक

4.1.3.6.4 जीन जैक्स रूसो

4.1.4 सामाजिक समझौते सिद्धांत की आलोचना

4.1.4.1 ऐतिहासिक आधार

4.1.4.2 दार्शनिक आधार

4.1.4.3 तार्किक आधार

4.1.4.5 वैधानिक आधार

4.1.5 समझौता सिद्धांत का महत्व

4.1.6 सारांश

4.1.7 अभ्यास/ बोधात्मक प्रश्न

4.1.7.1 दीर्घ उतरीय प्रश्न

4.1.7.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

4.1.7.3 बहु विकल्पीय प्रश्न

4.1.7.4 बहु विकल्पीय प्रश्नों के उत्तर

4.1.8 कठिन शब्द

4.1.9 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

4.1.1. उद्देश्य कथन

इस अध्याय को पढ़ने के बाद आप-

- राज्य कैसे अस्तित्व में आया? ये जॉन जायेंगे।
- राज्य के उत्पत्ति के सम्बन्ध में कितने मत है ?जॉन सकेंगे।
- सामाजिक समझौते सिद्धांत का महत्त्व समझ सकेंगे।
- समझौते का क्या परिणाम हुआ ये जॉन जायेंगे।

4.1.2 प्रस्तावना

जब हम राजनीतिक चिंतन के लम्बे इतिहास का अध्ययन करते है तो हमें ज्ञात होता है कि किन्ही भी दो विद्वानों के विचार एक जैसे नहीं होते है। महान यूनानी दार्शनिक प्लेटो और अरस्तू के विचारों में समानता के साथ साथ अंतर भी मिलता है।प्लेटो ने आदर्श राज्य के गठन की सम्पूर्ण व्यवस्थित योजना प्रस्तुत की थी लेकिन दूसरी ओर अरस्तू का यह मानना था कि जिस रूप में राज्य विद्यमान है ,उसे स्वीकार करके उसके विकास पर जोर दिया जाना चाहिए। मार्क्स ,एंजिल्स ,लेनिन, स्टालिन और माओ आदि विचारक समान विचार रखते हुए भी राज्य की अवधारणा में अलग अलग विचारों के समर्थक थे। प्रस्तुत अध्याय में हम राज्य की उत्पत्ति के विभिन्न मतों का अध्ययन करेंगे। राज्य ईश्वरीय शक्ति से उत्पन्न हुआ या विकास से या वर्ग संघर्ष का परिणाम है या आपसी समझौते का परिणाम है ,पर विस्तार से चर्चा
करेंगे।

4.1.3 राज्य उत्पत्ति के सिद्धांत

मनुष्य स्वभाव से ही जिज्ञाषु प्राणी है ,उसे अपने वर्तमान से अधिक भूतकाल की जिज्ञासा रहती है। राज्य की उत्पत्ति कैसे हुई,वह कब अस्तित्व में आया ? यह प्रश्न हमेशा से ही राजनीतिक विचारको का प्रमुख विषय रहा है। जिज्ञासा के कारण ही राज्य की उत्पत्ति के इतिहास का पता लगाने का प्रयत्न किया। जब इतिहास से सफलता नहीं मिली तब उसने कल्पना का सहारा लिया।कल्पना का सहारा ले कर विचारको ने कई सिद्धांतो का प्रतिपादन किया जिससे राज्य के उत्पत्ति की व्याख्या होती है।
राज्य की उत्पत्ति सम्बंधित निम्न सिद्धांत प्रचलित है –

- दैवीय उत्पत्ति का सिद्धांत
- पितृ सत्तात्मक सिद्धांत
- मातृ सत्तात्मक सिद्धांत
- शक्ति का सिद्धांत
- ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धांत
- मार्क्सवादी सिद्धांत
- सामाजिक समझौते का सिद्धांत

4.1.3.1 दैवीय उत्पत्ति का सिद्धांत

राज्य के उत्पत्ति के सम्बन्ध में सबसे पुराना विचार है ये ।इस सिद्धांत के अनुसार राज्य मानवीय नहीं बल्कि ईश्वर द्वारा कृत एक संस्था है ।इश्वर राजा के रूप में एक अपना प्रतिनिधि नियुक्त करता है ।यह राजा ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है क्योंकि वह ईश्वर का प्रतिनिधि है ।राजा की आज्ञाओं का पालन करना प्रजा का परम कर्तव्य है ।

इस सिद्धांत का समर्थन कई धर्म ग्रंथो में भी मिलता है । ईसाईयों के धर्म ग्रन्थ बाईबिल में,यहूदियों के धर्म ग्रन्थ ओल्ड टेस्टामेंट में , महाभारत , मनुस्मृति जैसे हिन्दुवों के धार्मिक पुस्तकों में इसी सिद्धांत का समर्थन किया गया है । मिश्र और जापान में भी राजा को सूर्य का पुत्र माना जाता था ।इस सिद्धांत के प्रमुख तत्व थे –

- राजा ईश्वरीय संस्था है ।
- राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है ।
- ईश्वर ही राजाओं को शक्ति प्रदान करता है ।
- ईश्वर का प्रत्येक कार्य अनिवार्य रूप से सृष्टि के हित में होता है ।
- राज्यसत्ता पैतृक होती है अर्थात पिता के बाद पुत्र ही राजा बनेगा ।
- राजा की आलोचना करना धर्म विरुद्ध होता है ।
  आधुनिक युग विज्ञान का युग है और आज के प्रगतिशील संसार ने इस सिद्धांत को अतार्किक ,अप्रजातांत्रिक और रुढ़िवादी कह कर अस्वीकार कर दिया है ।

4.1.3.2 मातृसत्तात्मक सिद्धांतएवंपितृ सत्तात्मक सिद्धांत

राज्य की उत्पति का आधार मातृमूलक या पितृमूलक परिवारों को मानने की धारणा इस सिद्धांत की मान्यता है ।इसका समर्थन हैनरी मैन, मैकलेनन ,जेक्स ,मोरंगन आदि द्वारा किया गया है । दैवीय शक्ति तथा सामाजिक समझौता सिद्धांत के विपरीत यह सिद्धांत काल्पनिक तर्कों पर आधारित नहीं है ।इसका आधार आरंभिक कबायली जन-समूहो के जीवन से संबंधित ऐतिहासिक खोजें या कल्पनाएं हैं । यह सिद्धांत भी राज्य के विभिन्न तत्वों तथा विशेषताओं को समविष्ट करने की क्षमता नहीं रखता।अतः इसे अर्थ-काल्पनिक सिद्धांत की श्रेणी में रखा गया है । क्योंकि इस संबंध में जो तर्क दिए गए हैं उनमें से कुछ तथ्यगत है तो कुछ कल्पना।यह सिद्धांत राज्य की उत्पति के ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धांत का पहला चरण माना जा सकता है ।

- **मातृसत्तात्मक सिद्धांत**

इस सिद्धांत के अनुसार परिवार मानव समाज की प्राथमिकइकाई है ।आरंभिक परिवार मातृ सत्तात्मक थे । तब स्थाई विवाह व्यवस्था नहीं थी। आकस्मिक रूप से स्त्री-पुरुषों में पशुओं की भांति यौन संपर्क हो जाता था।स्त्री जिन बच्चों को जन्म देती थी उनका पालन-पोषण एक परिवार के रूप में वही करती थी ।इस प्रकार रक्त संबंध परिवार का आधार बना ।परिवार की मुखिया स्त्री ही होती थी । सुरक्षा तथा जीवन की अन्य आवश्यकता की पूर्ति के निमित्त ऐसे परिवारों जो रक्त संबंध के आधार पर निकटवर्ती थे ,एक समूह के रूप में रहने लगे ।रक्त सम्बन्ध के आधार पर संगठित विविध मातृमूलक परिवारों के समूह में सबसे सयानी स्त्री समूह के मुखिया मानी जाने लगी ।इस प्रकार बढ़ते बढ़ते ये जन समूह कबीलों के रूप में संगठित हुए । स्थाई विवाह प्रथा ना होने के कारण इन परिवारों के पुरुष कबीलों से अलग भी हो जाया करते थे । परिवार तथा कबीला सामाजिक जीवन की ऐसी प्राथमिक इकाइयाँ है जो मानवकी सामाजिक

प्राकृतिक प्रवित्ति के फलस्वरूप गठित होती है । उनकी व्यवस्था और संचालन प्रक्रिया में राज्य के संगठन तथा संचालन प्रक्रिया के लक्षण विद्यमान रहते हैं। कालांतर में जब ये जन-समूह विस्तृत हो गए तो निश्चित भूखंडों में रहने लगे ।

इन मातृमूलकपरिवारों में कुछ विशिष्ट चिन्हों की पूजा करने की परम्परा थी । ये चिन्हों या तो प्रकृति के रहस्य के प्रतीक होते थे या मातृमूलक कुल या गोत्र के । ये जन-समूह यदा-कदा कुछ अवसरों पर मिलते थे।इन उत्सवों में भी पुरुषो तथा स्त्रियों के मध्य यौन संपर्क होते थे। परंतु यह सावधानी बरती जाने लगी थी कि सगोत्रीय या सजातीय पुरुष तथा स्त्री ऐसा संबंध स्थापित ना करें ।बाद में जो संतान पैदा होती थी वे माता की मानी जाती थी ।इस प्रकार आरंभिक जन समूह मातृसत्तात्मक कबीलों के थे जिनका संचालन नियमन स्त्री-प्रधान व्यवस्था द्वारा होता था।राज्य की उत्पति तथा विकास का यह प्राथमिक रूप था।

पितृ सत्तात्मक सिद्धांत

आरंभिक परिवारों को मातृसत्तात्मक मानने की कल्पना तथ्यगत भले ही हो या ना हो, परंतु तर्क की दृष्टि से सही प्रतीत होती है ।यह संभव है कि कालांतर में इन परिवारों तथा कबीलों के लोगों में स्थाई विवाह प्रथा प्रचलित हो गई होगी ।उनके अंतर्गत परिवार के नियमन तथा संचालन का दायित्व परिवार के पुरुष मुखिया के ऊपर आ गया होगा। इस प्रकार परिवार के विस्तार से गोत्र , कुल तथा कबीले विकसित हुए होंगे ।इन जन समूह का आधार सजातता तथा रक्त संबंध ही रहा। यह जन-समूह भी कुछ चिन्हों की पूजा करने लगे और पुरुष प्रधान जीवन की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए स्थाई भूखंडों में निवास करने लगे ।इस प्रकार पितृ-प्रधान या पुरुष प्रधान कबीलों का अभ्युदय हुआ ।इन कबीलों के नियमन और संचालन में भी वैसे ही लक्षण थे जैसे राज्य में होते हैं । अतः पितृसत्तात्मक कबीलों को राज्य की उत्पत्ति का सिद्धांत माना जाता है।

आलोचना तथा महत्व

आरंभिक कबाईली जन-समूहों के बारे में विभिन्न विद्वानों ने जो धारणाएं दी है उन्हें मात्र कल्पना ही नहीं मानी जानी चाहिए । तर्को की पुष्टि के लिए इन लोगों ने भारतीय आरंभिक कबायली जन-समूह ,हेब्रू , यूनानी तथा अनेक जनसमूह के उदाहरण दिए हैं ।बीसवीं सदी के विकसित तथा सभ्य समाजों से प्रसिद्ध विद्वान भले ही ऐसे आरंभिक कबायली जनजीवन पर विश्वास ना करें , फिर भी यदि अत्यंत पिछड़े क्षेत्रो के कबायली जन-समूह के मध्य उनके जीवन का प्रत्यक्ष दर्शी ज्ञान का अवसर मिले तो इन्हें आरंभिक कबीलो के संबंध में उपर्युक्त धारणाओं की सत्यता पर विश्वास करने में कोई कमी नहीं होगी ।

यह भी सही है कि वर्तमान सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था की जटिलताओं को देखते हुए राज्य की उत्पत्ति को आरंभिक कबाइलीमातृसत्तात्मकया पितृसत्तात्मक जन-समूहों एवं परिवारों में खोजना राज्य के स्वरूप एवं कार्य प्रणाली का समुचित ज्ञान नहीं करा सकता। अधिक से अधिक धारणाएं प्रारंभिक युग के कबायली कुटुंबों के संगठन का ज्ञान करा सकती है । ये सिद्धांत राज्य की उत्पत्ति तथा विकास में अंतर्निहित केवल एक तत्व रक्त संबंध को स्वीकार करते हैं । राजनीतिक दृष्टि से संगठित होने के लिए किसी जनस-मूह को अनेक अन्य बातों की पूर्ति भी करनी पड़ती है। इस प्रक्रिया में धर्म ,सामाजिक परंपराएं, शक्ति ,आर्थिक स्थिति ,कानून, न्याय ,प्रशासन ,अधिकार, कर्तव्य सामान्य उद्देश्य आधिपत्य के साथ साथ जन-समूह में राजनीतिक चेतना का विकास आदि बहुत सी बातें शामिल है। इस दृष्टि से यह सिद्धांत अपूर्ण सिद्ध होता है ।

4.1.3.3 शक्ति का सिद्धांत

इस सिद्धांत के अनुसार राज्य एक ईश्वरीय संस्था नहीं ,बल्कि एक मानवीय संस्था है ,जिसकी उत्पत्ति बल प्रयोग के आधार पर हुई है ।राज्य की उत्पत्ति का कारण शक्ति है ।राज्य और शासन शक्ति पर आश्रित है । शक्ति से अर्थ बल प्रयोग से है ।जब शक्ति संपन्न लोगों ने अपनी शक्ति द्वारा निर्बलो को अपने अधीन कर लिया तब राज्य की उत्पत्ति हुई ।मानव विकास के प्रारंभ में कुछ जो शक्तिशाली व्यक्तियों अपनी शक्ति के प्रयोग द्वारा अन्य निर्बल व्यक्तियों को पराजित कर अपने अधीन कर लेता था। इस प्रकार अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ाकर व जनपद का नेता बन जाता था और तब वह अपने जनपद की सहायता से अन्य निर्बल जनपदों को अपने अधीन करना प्रारंभ करता था । विजय तथा अधीनता की इस प्रक्रिया का अंत उस समय होता था जब विजयी जनपद के पास अपना एक निश्चित प्रदेश हो जाता था । इस सिद्धांत के अनुसार, मानव विकास के प्रारंभ में कुछ शक्तिशाली मनुष्य ने निर्बल मनुष्यों को अपने अधीन कर लिया । शक्तिशाली समूह का नेता पराजित समूह का भी नेता हो गया। धीरे धीरे वही नेता इन समूहों का शासक हो गया। इसी क्रम से जनपद राज्य और साम्राज्य उत्पन्न हुए।राज्य की उत्पत्ति के विषय में इस प्रकार के विचार अनेक विचारको द्वारा व्यक्त किए गए हैं और राज्य की उत्पत्ति और उसके अस्तित्व का आधार शक्ति को माना गया है।

प्राचीन भारतीय ग्रंथों में भी शक्ति के आधार पर राज्य की स्थापना की बात की गई है । जैसे **ऐतरीय ब्राह्मण** और **तैत्तरीय ब्राह्मण** में बताया गया है कि देवों और दानवों के युद्ध में जब देवता पराजित हो गए तो उन्होंने शक्तिशाली इंद्र को अपना राजा बनाया और उसके नेतृत्व में विजय प्राप्त की ।

इतिहास पर नजर डालने से भी यह सिद्धांत कुछ सीमा तक सत्य प्रतीत होता है। भारत में मगध, कुशल ,अवंती आदि जनपद और यूनान में स्पार्टा ,एथेंस आदि गणराज्य अपने पड़ोसियों को हराकर ही शक्तिशाली राज्य बने थे ।चंद्रगुप्त मौर्य और सिकंदर ने भी शक्ति प्रयोग के आधार पर विशाल साम्राज्यों की स्थापना की थी ।

4.1.3.3.1 शक्ति सिद्धांत का विकास

शक्ति सिद्धांत की मान्यता हमें अत्यंत प्राचीन काल से मिलती है ।यूनान के सोफिस्ट विचारको का यही मत था। इसी कारण केलीक्लीज का मत है कि ,**" बलवान की शक्ति ही न्याय और कानून का स्रोत है**, विषमता प्रकृति का नियम है , निर्बल की अपेक्षा बलवान श्रेष्ठतम होता है। वर्तमान समय में भी अनेक राजनीतिक विचारधाराओं द्वारा शक्ति सिद्धांत की पुष्टि की गई है। **अराजकतावादी** राज्य को शक्तिमूलक संस्था घोषित करते हुए राज्य के अंत का प्रतिपादन करते हैं ।इसी प्रकार **व्यक्तिवादी** भी राज्य को शक्ति पर आधारित करते हैं और इसी कारण राज्य को एक **आवश्यक बुराई** के नाम से संबोधित करते हैं। अराजकतावादी और व्यक्तिवादी ही नहीं बल्कि **साम्यवादी** विचारको का भी मत है कि राज्य एक शक्तिमूलक संस्था है और उसका विकास पूंजीपति वर्ग द्वारा निर्धन वर्ग का शोषण करने से हुआ है ।

दार्शनिक आधार पर भी उग्र राष्ट्रवाद तथा सैन्यवाद का समर्थन करने के लिए शक्ति सिद्धांत को स्वीकार किया गया है ।इस संबंध में कहा गया है कि ***शक्तिशाली निर्बल पर राज्य करें***यह प्राकृतिक सत्य है ।

हिटलर और **मुसोलिनी**ने भी शक्ति की प्रशंसा की है और शक्ति के आधार पर अपने क्षेत्र का विस्तार निरंतर प्राकृतिक बताया ।वर्तमान समय में शक्ति सिद्धांत के समर्थकों में **गम्प्लोविज, रेटजहाफर, ओपनहीम ,जेम्स** और **वार्ड** का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है।

4.1.3.3.2 शक्ति सिद्धांत के मूल तत्व

- शक्ति सिद्धांत की व्याख्या और उसके विकास की विवेचना के आधार पर शक्ति सिद्धांत के कुछ तत्व स्वतः स्पष्ट है। ये निम्न हैं–
- राज्य की उत्पत्ति का एकमात्र कारण शक्ति ही है। राज्य बलवानों द्वारा निर्बलो पर अधिकार और प्रभुत्व का परिणाम है।
- प्रकृति का यह शाश्वत नियम है कि शक्ति ही न्याय है।
- आज भी राज्यों के आंतरिक शक्ति और बाहरी सुरक्षा बल प्रयोग के आधार पर ही कायम रखी जाती है।
- इस तरह शक्ति सिद्धांत विजय के फलस्वरूप राज्य की उत्पत्ति को प्रकट करता है और ***जिसकीलाठी उसकी भैंस*** के सिद्धांत के अनुसार राज्य के अधिकारों को न्यायोचित ठहराता है।

आलोचना

इसमें संदेह नहीं कि शक्ति ने राज्य की उत्पत्ति में महत्वपूर्ण योग दिया है और वर्तमान राज्य के अस्तित्व के लिए शक्ति अनिवार्य है।लेकिन इस बात को स्वीकार नहीं किया जा सकता कि केवल शक्ति के प्रयोग से ही राज्य की उत्पत्ति संभव हो गयी। इस कारण अनेक आधारों पर शक्ति की आलोचना की जाती है-

- एक केवल शक्ति ही राज्य की उत्पत्ति संभव नहीं।
- शक्ति राज्य का अस्थाई आधार नहीं हो सकती।
- शक्ति सिद्धांत व्यक्ति की हीन प्रवृत्तियों पर आधारित।
- व्यक्तिगत स्वतंत्रा का अंत।
- आंतरिक एवं अंतरराष्ट्रीय संघर्ष को प्रोत्साहन।
- प्रजातांत्रिक धारणा के विरुद्ध।
- राज्य की आज्ञा पालन के कारण का उल्लेख नहीं।

शक्ति सिद्धांत की इतनी अधिक आलोचना की जाने पर भी इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि राज्य की उत्पत्ति में शक्ति एक तत्व रहा है और शक्ति वर्तमान समय में राज्य के अस्तित्व का एक प्रमुख आधार है।राज्य के प्रचलन में भी औचित्यपूर्ण शक्ति का बहुत अधिक भाग होता है और राज्य के विकास एवं संचालन में भी व्यक्ति की आवश्यकता पड़ती है,यद्यपि शक्ति का प्रयोग उचित ढंग से और जनसाधारण के हित में हीं किया जाना चाहिए।

4.1.3.4 ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धांत

अब तक राज्य की उत्पत्ति के संबंध में जिन सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया ,उनमें दैवीय सिद्धांत , शक्ति सिद्धांत ,सामाजिक समझौता सिद्धांत ,पैतृक सिद्धांत और मातृक सिद्धांत को स्वीकार नहीं किया जा सकता।इन सिद्धांतो में एक बात समान रूप से पाई जाती है कि राज्य का एक विशेष समय पर निर्माण किया गया है , लेकिन वास्तव में राज्य का निर्माण नहीं किया गया यह निरंतर विकास का परिणाम है। इसके साथ ही पैतृक और मातृक सिद्धांत की इस बात को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता कि राज्य परिवार का विस्तार मात्र है, क्योंकि परिवार और राज्य की प्रकृति में कुछ अंतर है।राज्य विकास का परिणाम है और राज्य की उत्पत्ति की सही व्याख्या ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धांत द्वारा

ही की गई है।इस के अनुसार राज्य का विकास एक लंबे समय से चला आ रहा है और आदिकालीन समाज से क्रमिक विकास करते करते इस निवर्तमान राष्ट्रीय राज्य के स्वरूप को प्राप्त किया है।

यह बताना कि कब और किस प्रकार राज्य अस्तित्व में आया, अत्यधिक कठिन है। अन्य सामाजिक संस्थाओं के समान ही विभिन्न परिस्थितियों में सहायता पाकर तथा अनेक पक्षों से प्रभावित होकर यह उत्पन्न हुआ ।राज्य के विकास का क्रम भी एक जैसा नहीं रहा है ।प्रकृति, परिस्थिति और स्वभाव के अंतर के कारण विभिन्न समयो, अवस्थाओं और स्थानों में राज्य के विकास का क्रम भी विभिन्न रहा है ।भाषा और राजनीतिक चेतना के समान ही राज्य का विकास भी धीरे-धीरे हुआ है।

राज्य के विकास में सहायक प्रमुख तत्व ये है-

4.1.3.4.1 रक्त संबंध

यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि सामाजिक संगठन का प्राचीनतम रूप रक्त संबंध पर आधारित था और रक्त संबंध एकता का प्रथम और दृढ़तम बंधन रहा है ।प्रारंभिक समय में जो बात उन्हें पास लाती थी और एक दल के रूप में संगठित होने के लिए प्रेरित करती थी , और यह सामान्य उत्पत्ति में विश्वास ही था और परिवार प्राचीनतम तथा निकटतम रक्त संबंध की इकाई था ।यद्यपि यह प्रश्न भी विवादास्पद है कि कबीला ,कुल या परिवार में पहले कौन अस्तित्व में आया, लेकिन इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता कि परिवार के स्पष्ट व्यक्ति नियंत्रण के आधार पर ही राज्य की स्थापना हुई होगी।

4.1.3.4.2 मनुष्य की स्वाभाविक सामाजिक प्रवृत्तियां

मनुष्य स्वभाव से एक सामाजिक और राजनीतिक प्राणी है समूह में रहने की मनुष्य की प्रवृत्ति ने ही राज्य को जन्म दिया है ।समाज में साथ साथ रहते हुए भी जैसे व्यक्तियों के स्वभाव और स्वार्थगत भेदों के कारण विभिन्न प्रकार के विवाद उत्पन्न , तो इन विवादों को दूर करने के लिए एक संप्रभुता संपन्न राजनीतिक संस्था की आवश्यकता समझी गई और राज्य का उदय हुआ ।इस प्रकार राज्य को बहुत अधिक सीमा तक मनुष्य की स्वाभाविक सामाजिक प्रवृत्तियों का परिणाम कहा जा सकता है।

4.1.3.4.3 धर्म

रक्त- संबंध की तरह धर्म का भी राज्य की स्थापना में महत्वपूर्ण योगदान है ।राज्य के विकास कार्य में रक्त संबंध और धर्म परस्पर घनिष्ठ रूप से संबंधित रहे हैं ।प्रारंभिक समाज में रक्त संबंध और धर्म एक ही थे और दोनों परिवार तथा कबीलों को परस्पर जोड़ने का कार्य साथ साथ करते थे।

प्रारम्भिक समाज में धर्म के दो स्वरूप प्रचलित थे-

पितृ पूजा और प्राकृतिक शक्तियों की पूजा।

व्यक्ति अपने परिवार के वृद्ध व्यक्तियों कि मृत्यु हो जाने के बाद भी उनके प्रति बहुत श्रद्धा रखते थे और उनका विचार था कि शरीर के नष्ट हो जाने पर भी आत्मा शेष रहती है ।अतः इसे प्रसन्न करने के लिए उन्होंने पितृ पूजा प्रारंभ कर दी। इस पूजा ने परिवारों को एकता के सूत्र में बांधा। जो एक ही वंश या रक्त से सम्बन्धित होते थे ,उनके कुल देवता भी एक ही हुए, जो अधिकतर उनके पुरखे होते थे।

उस समय धर्म का एक दूसरा प्रचलित रूप प्राकृतिक शक्तियों की पूजा थी। जंगली अवस्था में जब बुद्धि का विकास नहीं हुआ था और व्यक्ति प्राकृतिक परिवर्तनों को समझने में असमर्थ थे उन्होंने बादल की आवाज , बिजली की कड़क,हवा की सनसनाहट और अगल बगल परिवर्तन में इश्वर की शक्ति को महसूस किया और प्रकृति की प्रत्येक शक्ति उनके लिए देवता बन

गयी ।व्यक्ति पृथ्वी ,सूर्य,अग्नि,हवा ,वर्षा की उपासना करने लगा और एक ही शक्ति के उपासको में परस्पर घनिष्ठ मैत्री भाव उत्पन्न हुआ जो राज्य का अधार बना।

प्रारंभिक समाज में विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों को देवता या भूत-प्रेत समझा जाता था और जब कोई व्यक्ति यह सिद्ध कर देता था कि वह प्राकृतिक शक्तियों को नियंत्रित रख सकता है तो समाज में उसे असाधारण शक्ति और सम्मान प्राप्त हो जाता था और अनेक बार ये तांत्रिक कहे जाने वाले व्यक्ति राजा बन जाते थे।स्पार्टा में ऐसा ही हुआ। इस प्रकार धर्म के द्वारा एक से अधिक रूप में राज्य के विकास में योगदान दिया गया है।

4.1.3.4.4 शक्ति

राज्य संस्था के विकास में शक्ति या युद्ध का स्थान भी विशेष महत्वपूर्ण रहा है।पहले सामाजिक व्यवस्था थी ,जिसे राजनीतिक अवस्था में परिवर्तित करने का कार्य युद्ध के द्वारा ही किया गया।अन्य मनुष्य पर आधिपत्य स्थापित करने तथा संघर्ष एवं आक्रमण की प्रवृत्ति भी मनुष्यों की मूलप्रवृत्तियो से एक है।मानवीय विकास के प्रारंभिक काल में यह प्रवृत्तियां बहुत अधिक सक्रिय थी।कृषि तथा व्यवसाय की उन्नति के साथ जब लोग निश्चित स्थानों पर बस गए तो निजी संपत्ति की धारणा का उदय हुआ।ऐसी स्थिति में निवास स्थान तथा संपत्ति की रक्षार्थ युद्ध होने लगे और युद्ध ने नेतृत्व के महत्व को जनता के सामने रखा। लोग सुरक्षा प्रदान करने की क्षमता रखने वाले शक्तिशाली व्यक्ति का नेतृत्व स्वीकार करने लगे।इस नेता की अधीनता में एक कबीला दूसरे कबीले पर आधिपत्य जमाने की चेष्टा में संलग्न रहा और संघर्ष की इस प्रक्रिया में विजयी कबीले का सैनिक सरदार राजा बन बैठा। बलपूर्वक शक्ति ने प्रभुसत्ता का रूप धारण किया और शासक के प्रति भक्ति तथा निष्ठा की भावना का जन्म हुआ।इस प्रकार युद्ध से राज्य के उत्पत्ति हुई।

4.1.3.4.5 आर्थिक गतिविधियां

राज्य की उत्पत्ति और विकास में आर्थिक गतिविधियों कान भी प्रमुख हाथ रहा। प्लेटो, मैकियावेली, होब्स , लॉक , एडम स्मिथ ने भी राज्य की उत्पत्ति और विकास में आर्थिक तत्वों के योग को स्वीकार किया है ,लेकिन इनसे बहुत आगे बढ़कर **कार्ल मार्क्स** ने तो इस विचार को अभिव्यक्त किया है कि **राज्य आर्थिक परिस्थिति की ही अभिव्यक्ति है**।

मनुष्य अब तक चार आर्थिक अवस्थाओं से गुजरा है जिसके अनुकूल ही उसमें तत्कालीन सामाजिक तथा राजनीतिक संगठन रहे है।

1. **आखेट अवस्था**

   इस अवस्था में मनुष्य के जीवन का एकमात्र साधन शिकार था और इसी कारण मनुष्य का जीवन स्तर और असंगठित ,अस्थिर तथा भ्रमणशील था।

2. **पशुपालन अवस्था**

   इस अवस्था में मनुष्य पशु पालन कर अपना गुजारा करते थे।इस अवस्था में भी उनका जीवन भ्रमणशील ही था, किंतु उनमें सामूहिकता और संगठन का अंश आ गया था।

3. **कृषि व्यवस्था**

   इस में जीवन का आधार कृषि हो जाने पर मनुष्य निश्चित स्थान पर स्थाई रूप से रहने लगे। इससे निजी संपत्ति का उदय हुआ समाज में वर्ग पैदा हो गए और संघर्ष होने
   लगे। ऐसी स्थिति में कानून , न्यायालय और राजनीतिक सत्ता की स्थापना हुई।

4. **औद्योगिक अवस्था**

   आज की अवस्था औद्योगिक अवस्था है जिसमें आर्थिक जीवन की जटिल और विशाल ढांचे ने राष्ट्रीय राज्यों को जन्म दिया है।इस प्रकार आर्थिक विकास के साथ मनुष्य के राजनीतिक

संगठन में भी परिवर्तन हुए हैं और राज्य के विकास पर आर्थिक गतिविधियों के प्रभाव का यह स्पष्ट प्रमाण है।

4.1.3.4.6 राजनीतिक चेतना

राजनीतिक चेतना का तात्पर्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए चेतना है जिनके लिए राज्य की स्थापना की जाती है ।अनेक विद्वानों के अनुसार, राज्य के विकास में राजनीतिक चेतना ने सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व के रूप में कार्य किया है ।जब व्यक्ति किसी निश्चित प्रदेश पर बस गए और उनके द्वारा अपनी आजीविका के स्थाई साधन प्राप्त कर लिए गए तो उनकी यह स्वभाविक इच्छा और चिंता हुई कि दूसरे लोग उनके साधनों को हड़पना ले । इसके चलते नियमों की आवश्यकता अनुभव की गई और यही राजनीतिक चेतना का मूल था।

ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धांत राज्य की उत्पत्ति का सर्वाधिक मान्य सिद्धांत है ।राज्य के विकास में इन तत्वों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है । राज्य इन तत्वों द्वारा विकसित हुआ है ।रक्त संबंध पर आधारित परिवार राज्य का सबसे प्राचीन रूप है,धर्म ने इन परिवारों को एकता प्रदान किया तथा आर्थिक गतिविधियों ने व्यक्तियों को संगठित होने के लिए प्रेरित किया ।शक्ति तथा राजनीतिक चेतना ने राज्य के रूप को स्पष्ट किया। इस प्रकार राज्य का जन्म हुआ ।उसने विकास करते करते अपने वर्तमान स्वरूप को प्राप्त कर लिया। विकासवादी सिद्धांत से हमें राज्य के विकास क्रम का वैज्ञानिक विश्लेषण मिलता है।

4.1.3.5 मार्क्सवादी सिद्धांत

मार्क्सवादियों के अनुसार राज्य ना तो प्राकृतिक है और ना इसकी उत्पत्ति ईश्वर द्वारा हुई है, ना ही यह किसी समझौते का परिणाम है और ना ही यह क्रमिक विकास का फल है ।इसकी उत्पत्ति समाज के विकास की एक निश्चित स्थिति में हुई और वह तब जब मानव समाज दो विरोधी वर्गों में बट गया ।इसके निर्माण में मुख्य योगदान शक्तिशाली वर्ग का है जिसका उद्देश्य कमजोर वर्ग का शोषण करना था ।मार्क्सवादी राज्य को एक प्राकृतिक संस्था ना मानकर एक मानवीकृत संस्था मानते हैं। मार्क्स का मुख्य रुझान राज्य की उत्पत्ति पर नहीं वरन राज्य के स्वरूप पर विचार करना था ।मार्क्सवादियों ने राज्य की उत्पत्ति में वर्ग संघर्ष को सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व माना है । कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो में (1847) मार्क्स ने लिखा है**" आज तक के संपूर्ण समाज का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है"**।

एंजेल्स की पुस्तके जो 1884 प्रकाशित हुई - " परिवार, निजी संपत्ति और राज्यका उत्पत्ति में" राज्य का अस्तित्व अनंत काल से नहीं रहा है ऐसे भी समाज रहे हैं जिसमें राज्य नहीं

था।आर्थिक विकास के महत्वपूर्ण मोड़ पर वर्ग विभाजन और वर्ग संघर्ष के परिणाम स्वरुप राज्य का आविर्भाव हुआ। राज्य की उत्पत्ति की पूर्व की अवस्था को जिसमे कोई राजनीतिक संगठन नहीं था जिसे मार्क्सवादी चिंतकों ने आदिम साम्यवादी की अवस्था को संज्ञा दी है। लेकिन समय के साथ संपत्ति नामक संस्था के उदय से समाज परस्पर दो वर्गों में विभक्त हो गया। संपत्तिशाली और संपत्तिहीन ।एंजेल्स ने राज्य के उत्पति के पहले के युग को आदिम साम्यवाद कहा है ।इसमें उत्पादन के साधन सीमित थे लेकिन निजी ना होने के कारण यह संघर्ष के कारण नहीं थे । राज्य की उत्पत्ति के पूर्व आदिम साम्यवाद की तीन अवस्थाओं की चर्चा एंजेल्स ने की है–

जंगली अवस्था

इस अवस्था में व्यक्ति जंगल में रहता था और फल-फूल, कंदमूल खाकर पशुओं का शिकार करता था ।

बर्बर अवस्था

इस अवस्था में पशुपालन, खेती तथा मुख्य रूप से लोहे की हथियारों के प्रचलन के साथ मनुष्य भाषा और लिपि का विकास करता था।

संक्रांति काल

ये सभ्यता के विकास के एकदम पूर्व अवस्था है - जंगली और बर्बर अवस्था में निजी संपत्ति का उदय नहीं हुआ था , लेकिन बर्बर अवस्था के अंत तक पशुपालन ,कृषि ,व्यापार ,शिल्प उद्योग इत्यादि की उन्नति ने संपत्ति को जन्म दिया ।तब तक समाज का छोटा वर्ग इस पर अपना अधिकार स्थापित कर लोगों को गुलाम बना लेता है और यहीं से शोषण समाज में शुरू होता है।

शोषण की यही परंपरा समाज में एक संस्था के रूप में स्थापित हो जाती है और जिस पर राज्य की नींव रखी गई है। जब समाज धनवान और निर्धन वर्ग में बट जाता है तब राज्य की उत्पत्ति होती है।वर्ग संघर्ष को दबाने का मतलब वर्गो में सुलह या समझौता नहीं है बल्कि ऐसी स्थिति पैदा करना है जिसमें शासक वर्ग शासितों का उत्पीड़न कर सके।

समाजवादी क्रांति के बाद भी राज्य की आवश्यकता रहेगी ताकि उसको रास्ते पर लाया जा सके ।लेकिन यह अधिक समय तक नहीं रहेगा जब शोषक वर्ग की समाप्ति के बाद केवल श्रमिक वर्ग रह जाएगा तब वर्ग भेद मिट जाएगा और राज्य की स्थापना होगी ।मार्क्सवादियों का कहना है कि राज्य की उत्पत्ति का सीधा संबंध निजी संपत्ति से है क्योंकि उसने धनवान और निर्धन वर्ग को जन्म दिया और समाज को राज्य की आवश्यकता ही इसलिए हुई कि उन्होंने बीच वर्ग संघर्ष पैदा हो गया था और उसे शांत करना मुश्किल हो गया था।

आलोचना

- शोषण की भावना को राज्य की उत्पत्ति का आधार माना गलत।
- राज्य को संघर्ष के दमन का साधन मान लेना गलत।
- आधुनिक राज्य शत्रु ना होकर मित्र है।

4.1.3.6 सामाजिक समझौते का सिद्धांत

राज्य की उत्पत्ति का एक महत्वपूर्ण सिद्धांत है ।इस सिद्धांत के अनुसार राज्य ईश्वरीय संस्था ना होकर मानवीय संस्था है। इस सिद्धांत (समझौते) के अनुसार राज्य का निर्माण व्यक्तियों ने पारस्परिक समझौते द्वारा किया है ।समझौते से पूर्व व्यक्ति प्राकृतिक अवस्था में रहते थे। किन्हीं कारणों से व्यक्तियों ने प्राकृतिक अवस्था त्याग कर समझौते द्वारा राजनीतिक समाज की रचना की। इस समझौते से व्यक्तियों के सामाजिक अधिकार प्राप्त हुए।

4.1.3.6.1सामाजिक समझौते के सिद्धांत का विकास

महाभारत के **शांतिपर्व**कौटिल्य की पुस्तक **अर्थशास्त्र**में इसी स्थिति का वर्णन मिलता है कि अराजकता की स्थिति से त्रस्त होकर मनुष्य ने आपस में समझौते के द्वारा राज्य की स्थापना की।

यूनान में सबसे पहले इस विचार का प्रतिपादन किया गया था। रोमन विचारको द्वारा भी इसी विचार का समर्थन किया गया। मध्ययुग में भी इसका समर्थन किया गया।सबसे पहले रिचार्ड हूकर ने वैज्ञानिक रूप से समझौते की तर्क पूर्ण व्याख्या प्रस्तुत की। डच न्यायाधीश ग्रोशियस,पुफेन्डोर्फ़ तथा स्पिनोज़ा ने इसका समर्थन किया लेकिन इस सिद्धांत का वैज्ञानिक और विधिवत प्रतिपादन "संविदावादी विचारक" होब्स, लॉक रूसो द्वारा किया गया है।

16वीं और17वीं सदी में यह विचारधारा बहुत अधिक लोकप्रिय हो गया और लगभग सभी विचारक इसे मानने लगे ।इस सिद्धांत के अनुसार राज्य दैवीय संस्था ना होकर मानवीय संस्था है जिसका निर्माण व्यक्तियों द्वारा पारस्परिक समझौते के आधार पर किया गया है ।इस सिद्धांत के प्रतिपादक मानव इतिहास को दो भागों में बाँटते हैं ।प्राकृतिक अवस्था का काल तथा नागरिक जीवन के प्रारंभ के बाद का कार्य। इस सिद्धांत के सभी प्रतिपादक अत्यंत प्राचीन काल में एक ऐसी प्राकृतिक अवस्था के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं जिसके अंतर्गत जीवन को व्यवस्थित रखने के लिए राज्य जैसी कोई अन्य संस्था नहीं थी ।सिद्धांत के विभिन्न प्रतिपादको में इस प्राकृतिक अवस्था के संबंध में कुछ मतभेद है ।इसे पूर्ण सामाजिक और राजनीतिक अवस्था कहते हैं।इस प्राकृतिक अवस्था के अंतर्गत प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छा अनुसार या प्राकृतिक नियमों के आधार पर अपना जीवन व्यतीत करते थे ।प्राकृतिक अवस्था के संबंध में मतभेद होते हुए भी सब यही मानते हैं कि किन्हीं कारणों से मनुष्य प्राकृतिक अवस्था का त्याग करने को विवश हुए और उन्होंने समझौते द्वारा राजनीतिक समाज की स्थापना की। इस समझौते के परिणाम स्वरुप प्रत्येक व्यक्ति की प्राकृतिक अवस्था पूर्ण रूप से लुप्त हो गई और स्वतंत्रता के बदले उसे राज्य और कानून की ओर से सुरक्षा का आश्वासन प्राप्त हुआ। प्रकृतिक अधिकार के स्थान पर सामाजिक अधिकार प्राप्त हुए।

इस तरह राज्य व्यक्ति के स्वार्थो द्वारा चालित एक ऐसे आदान-प्रदान का परिणाम था जिसमें व्यक्तियों ने उत्तरदायित्वों के बदले विशेषाधिकार प्राप्त किये । सिद्धांत का वैज्ञानिक और विधिवत रूप में प्रतिपादन हॉब्स ,लॉक और रूसो द्वारा किया गया जिन्हें संविदावादी विचारक कहा जाता है।

4.1.3.6.2थॉमस हॉब्स

इंग्लैंड के निवासी थे और राजवंश से संपर्क के कारण उनकी विचारधारा राज्यतंत्रवादी थी।हॉब्सके समय इंग्लैंड में राजतंत्र और प्रजातंत्र के समर्थकों के बीच तनावपूर्ण विवाद चल रहा था। इस विवाद के संबंध में हॉब्स का विश्वास था कि शक्तिशाली राजतंत्र के बिना देश में शांति व्यवस्था स्थापित नहीं हो सकती ।अपने इस विचार का प्रतिपादन करने के लिए उन्होंने 1651 में प्रकाशित पुस्तक ले लेवायथन में समझौता सिद्धांत का आश्रय लिया।आपने सामाजिक समझौते की व्याख्या इस तरह से की –

मानव स्वभाव

हॉब्सके समय में चल रहे इंग्लैंड के गृहयुद्ध ने उसके सम्मुख मानव स्वभाव का घृणित पक्ष रखा ।उसने अनुभव किया कि मनुष्य स्वार्थी, अहंकारी और आत्माभिमानी प्राणी है ।वह सदा शक्ति से स्नेहकरता है और शक्ति प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता है।

प्राकृतिक दशा

इस स्वार्थी, अहंकारी और आत्माअभिमानी व्यक्ति के जीवन पर किसी प्रकार का नियंत्रण न होने का संभावित परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक दूसरे मनुष्य को शत्रु की दृष्टि से देखने लगा और सभी भूखे भेड़ियों के समान एक दूसरे को निगल जाने के लिए घूमने लगे। मनुष्यों को न्याय और अन्याय का कोई ज्ञान नहीं था और प्राकृतिक अवस्था 'शक्ति ही सत्य है' की धारणा पर आधारित थी । स्वयं हॉब्स के शब्दों में,"वहां कोई व्यवसाय नहीं था,कोई संस्कृति नहीं थी, कोई विद्या नहीं थी, कोई भवन निर्माण कला नहीं थी और ना कोई समाज था।मानव जीवन असहाय, दीन ,मलीन ,पाशविक और अल्पकालिक था।"

समझौते का कारण

जीवन और संपत्ति की इस असुरक्षा तथा मृत्यु और संहार के इस भय ने व्यक्तियों को इस बात के लिए प्रेरित किया कि वह इस असहनीय प्राकृतिक व्यवस्था का अंत करने के उद्देश्य से एक राजनीतिक समाज का निर्माण करें।

समझौता

नवीन समाज का निर्माण करने के लिए सब व्यक्तियों ने मिलकर एक समझौता किया ।यह समझौता प्रत्येक व्यक्ति ने शेष व्यक्ति समूह से किया , जिसमें प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक दूसरे व्यक्ति से कहता है कि"मैं इस व्यक्ति या सभा को अपने अधिकार और शक्ति का समर्पण करता हूं जिससे कि वह हम पर शासन करें , लेकिन इसी शर्त पर कि आप भी अपने अधिकार और शक्ति का समर्पण इसे इसी रूप में करें और उसकी आज्ञाओं को माने।"

इस प्रकार सभी व्यक्तियों ने एक व्यक्ति या सभी के प्रति अपने अधिकारों का पूर्ण समर्पण कर दिया और शक्ति या सत्ता उस क्षेत्र में सर्वोच्च सत्ता बन गई ।यही राज्य का प्रारंभ है ।इस समझौते के अंतर्गत शासक कोई पक्ष नहीं है और यह समझौता सामाजिक है, राजनीतिक नहीं है ।वह सत्ता इस समझौते का परिणाम है और इस प्रकार उसका पद समझौते से कहीं अधिक उच्च है ।राजसत्ता पूर्ण निरंकुश अटल तथा अखंड है।

नवीन राज्य का रूप

हॉब्सके समझौते द्वारा एक ऐसे निरंकुश राजतंत्रात्मक राज्य की स्थापना की गई जिसका शासक संपूर्ण शक्ति संपन्न है और जिसके प्रजा के प्रति कोई कर्तव्य नहीं है ।शासित वर्ग को शासक वर्ग के विरुद्ध विद्रोह करने का कोई अधिकार प्राप्त नहीं है।

4.1.3.6.3 जॉन लॉक

जॉन लॉक इंग्लैंड का दार्शनिक था जिसने अपने सिद्धांत का प्रतिपादन 1690 में प्रकाशित पुस्तक **टू ट्रीटीज आन गवर्नमेंट**में किया है। इस पुस्तक के प्रकाशन के 2 वर्ष पूरे इंग्लैंड में गौरवपूर्ण क्रांति हो चुकी थी , जिसके द्वारा राजा के विरुद्ध पार्लियामेंट की अंतिम सत्ता को स्वीकार कर लिया गया था ।लॉक ने अपनी पुस्तक में इन परिस्थितियों का स्वागत करते हुए सीमित या वैधानिक राजतंत्र का प्रतिपादन किया।लॉक के अनुसार सामाजिक समझौता सिद्धांत की व्याख्या निम्न प्रकार है-

मानव स्वभाव

लॉक के अनुसार मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और उसमें प्रेम सहानुभूति सहयोग और दया की भावनाएं बुद्धिमान है । मानव स्वभाव की इस सामाजिकता के कारण प्राकृतिक अवस्था संघर्ष की अवस्था नहीं हो सकती थी बल्कि यह तोसहयोग और सुरक्षा व्यवस्था थी ।

प्राकृतिक अवस्था

प्राकृतिक अवस्था नियमविहीन भी नहीं थी बल्कि उसके अंतर्गत यह नियम प्रचलित था-

"तुम दूसरों के प्रति वैसा ही व्यवहार करो जैसा व्यवहार तुम दूसरों से अपने प्रति चाहते हो"। प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य को प्राकृतिक अधिकार प्राप्त थे और प्रत्येक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के अधिकारों का आदर करता था ।इसमें मुख्य अधिकार जीवन, स्वतंत्र और संपत्ति के थे।**समझौते का कारण**

इस आदर्श प्राकृतिक अवस्था में कालांतर में व्यक्तियों को कुछ ऐसी असुविधाएं अनुभव हुई कि इन सुविधाओं को दूर करने के लिए व्यक्तियों ने प्राकृतिक अवस्था का त्याग करना उचित समझा।लॉक के अनुसार यह सुविधाएं निम्न थी

(क) प्राकृतिक नियमों की कोई स्पष्ट व्यवस्था नहीं थी ,
(ख) इन नियमों की व्याख्या करने के लिए कोई योग्य सभा नहीं थी,
(ग) इन नियमों को मनवाने के लिए कोई शक्ति नहीं थी ।

समझौता

हॉब्स के सिद्धांत के अंतर्गत राज्य का निर्माण करने के लिए केवल एक समझौता किया गया लेकिन लॉक वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि दो समझौते किए गए । पहले समझौते द्वारा प्राकृतिक अवस्था का अंत किया गया और समाज की स्थापना की गई।इस समझौते का उद्देश व्यक्तियों की जीवन, स्वतंत्रता और संपत्ति की रक्षा है ।पहले समझौते के बाद शासक और शासित के मध्य एक दूसरा समझौता हुआ ,जिसमें शासित वर्ग के द्वारा शासक को कानून बनाने , उनकी व्याख्या करने और उन्हें लागू करने का अधिकार दिया गया है ।लेकिन शासक की शक्ति पर यह प्रतिबंध लगा दिया गया कि उसके द्वारा निर्मित कानून अनिवार्य रूप से प्राकृतिक नियमों के अनुकूल और अनुरूप होंगे तथा जनता के हित में ही होंगे।

नवीन राज्य का स्वरूप

लॉक के सामाजिक समझौता सिद्धांत के अंतर्गत शासक और शासित के मध्य जो समझौता संपन्न हुआ है , उससे यह स्पष्ट है कि सरकार स्वयं एक लक्ष्य नहीं बल्कि एक लक्ष्य की प्राप्ति का साधन मात्र है और वह लक्ष्य है शांति और व्यवस्था स्थापित करना और जनकल्याण ।लॉक इस विचार का प्रतिपादन करता है कि यदि सरकार अपने उद्देश्य में अ सफल हो जाती है तो समाज को इस प्रकार की सरकार के स्थान पर दूसरी सरकार स्थापित करने का पूर्ण अधिकार है ।इस प्रकार लॉक के द्वारा एक ऐसी शासन व्यवस्था का समर्थन किया गया जिसमें वास्तविक एवं अंतिम शक्ति जनता में निहित होती है और सरकार का अस्तित्व तथा रूप जनता की इच्छा पर निर्भर करता है।

4.1.3.6.4 जीन जैक्स रूसो

रूसो ने सामाजिक समझौता सिद्धांत का प्रतिपादन 1762 में प्रकाशित पुस्तक **द सोशलकॉन्ट्रैक्ट** में किया है ।हॉब्स और लॉक की तरह ही रूसो के द्वारा इस सिद्धांत का प्रतिपादन किसी विशेष उद्देश्य नहीं किया गया था । लेकिन रूसो ने जिस प्रकार से अपने सिद्धांत का प्रतिपादन किया उससे वह प्रजातंत्र का अग्रदूत बन गया । रूसो के द्वारा अपने सामाजिक समझौते सिद्धांत की व्याख्या निम्न प्रकार की गई-

मानव स्वभाव

अपनी पुस्तक **द सोशलकॉन्ट्रैक्ट** में लिखा है कि,मनुष्य स्वतंत्र पैदा होता है लेकिन वह सर्वत्र जंजीरों में जकड़ा हुआ है ।इस वाक्य से रूसो इस तथ्य का प्रतिपादन करता है कि "मनुष्य मौलिक रूप से अच्छा है और सामाजिक बुराइयां ही मानवीय अच्छाई में बाधक बनती है।"

प्राकृतिक अवस्था

प्राकृतिक अवस्था के व्यक्ति के लिए रूसो **आदर्श बर्बर** शब्द का प्रयोग करता है । यह आदर्श बर्बर अपने में ही इतना संतुष्ट था कि ना तो उसे किसी साथी की आवश्यकता थी और ना किसी का अहित करने की उसकी इच्छा थी। इस प्रकार प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति एक भोले और अज्ञान बालक की भांति सादगी और परम सुख का जीवन व्यतीत करता था। इस प्रकार प्राकृतिक अवस्था पूर्ण स्वतंत्रता एवं समानता और पवित्र तथाकपट रहित जीवन की अवस्था थी, लेकिन इस प्राकृतिक अवस्था में विवेक का नितांत अभाव था।

समझौते का कारण

प्राकृतिक अवस्था आदर्श अवस्था थी , लेकिन कुछ समय बाद ऐसे कारण उत्पन्न हुए जिन्होंने इस अवस्था को दूषित कर दिया ।कृषि के अविष्कार के कारण भूमि पर स्थाई अधिकार और उसके परिणाम स्वरुप संपत्ति तथा तेरी-मेरी की भावना का विकास हुआ। जब प्रत्येक व्यक्ति अधिक से अधिक भूमि पर अधिकार करने की इच्छा करने लगा तो प्राकृतिक शांतिमय जीवन नष्ट हो गया और समाज की लगभग वही दशा हुई जो हॉब्सकी प्राकृतिक दशा में थी ।संपत्ति को समाज की स्थापना के लिए उत्तरदाई ठहराते हुए रूसो कहता है कि "वह पहला व्यक्ति समाज का वास्तविक जन्मदाता था जिसने एक बड़े से जमीन को बाड़े से गिरकर कहा कि यह जमीन मेरी है और जिसे अपने इस कथन के प्रति विश्वास करने वाले सरल व्यक्ति मिल गए।" इस प्रकार प्राकृतिक दशा का आदर्श रूप नष्ट होकर युद्ध,संघर्ष और विनाश का वातावरण उपस्थित हो गया। युद्ध और संघर्ष के वातावरण का अंत करने के लिए व्यक्तियों ने पारस्परिक समझौते द्वारा समाज की स्थापना का निश्चय किया।

समझौता

इस असहनीय स्थिति से छुटकारा पाने के लिए सभी व्यक्तियों ने एक ही स्थान पर एकत्रित हुए और अपने सभी अधिकारों का समर्पण कर दिया ।लेकिन अधिकारों की यह संपूर्ण समर्पण किसी व्यक्ति विशेष के लिए नहीं बल्कि पूर्ण समाज के लिए किया गया था ।समझौते के परिणाम स्वरुप समाज की एक सामान्य इच्छा उत्पन्न होती है और सभी व्यक्ति सामान्य इच्छा के अंतर्गत रहते हुए कार्य करते हैं । रूसो के शब्दों में समझौते के अंतर्गत , " प्रत्येक अपने व्यक्तित्व और अपनी पूर्ण शक्ति को सामान्य प्रयोग के लिए , सामान्य इच्छा के सर्वोच्च निर्देशक के अधीन समर्पित कर देता है तथा एक समूह के रूप में अपने व्यक्तित्व तथा अपनी पूर्ण शक्ति को प्राप्त कर लेता है।" इस प्रकार के हस्तांतरण से सभी पक्षों को लाभ है ।

इस प्रकार रूसो के समझौते द्वारा उस लोकतंत्र समाज की स्थापना होती है जिसके अंतर्गत संप्रभुता संपूर्ण समाज में निहित होती है और यदि सरकार सामान्य इच्छा के विरुद्ध शासन करती है तो जनता को ऐसी सरकार को हटाने का अधिकार प्राप्त होता है।

4.1.4 सामाजिक समझौते सिद्धांत की आलोचना

17वीं और 18वीं शताब्दी में यह सिद्धांत बहुत ही लोकप्रिय था। लेकिन 18 वीं सदी के अंत और 19वीं सदी के राजनीतिक विचारको ने इस सिद्धांत की कड़ी आलोचना की ।सिद्धांत की आलोचना ऐतिहासिक ,दार्शनिक, तार्किक और वैधानिक आधारों पर की जाती है।

4.1.4.1 ऐतिहासिक आधार

समझौता अनैतिहासिक

ऐतिहासिक दृष्टि से सामाजिक समझौता सिद्धांत एक कल्पना मात्र है ,क्योंकि इतिहास में इस बात का कहीं उदाहरण नहीं मिलता कि आदिम मनुष्यों ने पारस्परिक समझौते के आधार पर राज्य की स्थापना की हो । संविदा सिद्धांत के समर्थक अपने पक्ष में 11 नवंबर 1620 के मेफ्लावर पैक्ट का उदाहरण देते हैं ।जिसमें मैफ्लावर नामक जहाज पर बैठे हुए इंग्लैंड से अमेरिका जाने वाले अंग्रेजों ने अनुबंध किया था कि "हम लोग शांति और सुख का जीवन व्यतीत करने के उद्देश्य से एक राजनीतिक समाज की रचना करेंगे।" लेकिन इस उदाहरण से समझौता सिद्धांत की पुष्टि नहीं होती ,क्योंकि समझौता सिद्धांत में वर्णित

प्राकृतिक अवस्था के लोगों और मैफ्लावर पैक्ट में संबंधित लोगों की राजनीतिक चेतना में बहुत अधिक अंतर

है।मैफ्लाक्टर पैक्ट से संबंधित लोग प्राकृतिक अवस्था में नहीं रह रहे थे बल्कि उन्हें राजनीतिक संगठन और राजनीतिक संस्थाओं का पूर्ण ज्ञान था और उन्होंने एक राज्य में प्राप्त अनुभव के आधार पर ही दुसरे क्षेत्र में राजनीतिक संस्थाएं स्थापित की थी।

प्राकृतिक अवस्था की धारणा गलत

सामाजिक समझौता सिद्धांत मानवीय इतिहास को प्राकृतिक अवस्था और सामाजिक व्यवस्था इस प्रकार के दो कालो में बांट देता है और एक ऐसी अवस्था की कल्पना करता है जिसके अंतर्गत किसी भी प्रकार का समाज और राज्य नहीं था , लेकिन ऐतिहासिक दृष्टि से यह काल विभाजन नितांत असत्य है ।इतिहास में कहीं पर भी हमें ऐसी अवस्था का प्रमाण नहीं मिलता जब मानव संगठन विहीन अवस्था में रहता हो।

राज्य विकास का परिणाम है, निर्माण का नहीं

इतिहास के अनुसार राज्य और इसी प्रकार के अन्य मानवीय संस्थाओं का विकास हुआ है, निर्माण नहीं ।स्वभाव से ही सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य आरंभ में परिवारों में फिर कुलो , फिर कबीलों और फिर जनपदों या राज्य में संगठित हुआ है। अतः समझौता सिद्धांत की इस बात को स्वीकार नहीं किया जा सकता कि राज्य का किसी एक विशेष समय पर निर्माण किया गया हो।

4.1.4.1 दार्शनिक आधार

ऐतिहासिक आधार पर समझौता सिद्धांत की आलोचना की गई, उन्हें दृष्टि में रखते हुए अनेक विचारको ने इस बात का प्रतिपादन किया कि चाहें ऐतिहासिक दृष्टि से कोई समझौता ना हुआ हो लेकिन दार्शनिक दृष्टिकोण से समझौता सिद्धांत के औचित्य पर संदेह नहीं किया जा सकता ।उनके मतानुसार, इस सिद्धांत के आधार पर राज्य के स्वरूप एवं व्यक्ति और राज्य के पारस्परिक संबंधों को उचित रूप में समझा जा सकता है ।लेकिन दार्शनिक आधार से भी अधिक आलोचनाएं की जाती है –

राज्य की सदस्यता ऐच्छिक नहीं

इस सिद्धांत के अंतर्गत राज्य को एक ऐसे संगठन के रूप में चित्रित किया गया है जिसकी सदस्यता ऐच्छिक हो ।लेकिन राज्य की सदस्यता ऐच्छिक नहीं बल्कि अनिवार्य होती है और व्यक्ति उसी प्रकार राज्य के सदस्य होते हैं जिस प्रकार परिवार के। यदि राज्य एक क्लब या व्यापारिक संस्था की तरह स्वेच्छा से बनाया गया संगठन होता तो व्यक्ति को यह स्वतंत्र होती कि वह जब चाहे तब उसमें शामिल हो जाए और जब चाहे उससे अलग हो जाए । अतः इस सिद्धांत द्वारा किया गया राज्य के स्वरूप का प्रतिपादन नितांत त्रुटिपूर्ण है।

राज्य और व्यक्ति के संबंधों की अनुचित व्याख्या

जिस प्रकार संतान और माता पिता के बीच जो संबंध पाए जाते हैं उनकी व्याख्या किसी समझौते के आधार पर नहीं की जा सकती , उसी प्रकार व्यक्ति और राज्य के बीच पाए जाने वाले संबंधों की व्याख्या भी किसी समझौते के आधार पर नहीं की जा सकती । वस्तुतः व्यक्ति और राज्य के बीच पारस्परिक संबंध समझौते पर नहीं ,मानवीय स्वभाव पर ही आधारित है।

राज्य कृत्रिम संस्था नहीं है

इस सिद्धांत के अनुसार राज्य में मनुष्य की कृति है, लेकिन वस्तुत राज्य कृत्रिम संस्था नहीं बल्कि मानवीय स्वभाव पर आधारित प्राकृतिक संस्था है। राज्य मनुष्यों के स्वाभाविक सामाजिक प्रवृत्ति का ही परिणाम है।

विद्रोह का पोषक

समझौता सिद्धांत राज्य को व्यक्तिगत सनक का परिणाम बता कर विद्रोह ,क्रांति और अराजकता को प्रोत्साहित करता है और नागरिकों के व्यवस्थित जीवन के अंत का कारण बन जाता है।

प्राकृतिक अवस्था में अधिकारों का अस्तित्व संभव नहीं

इस सिद्धांत के समर्थकों का और मुख्य रूप से लॉक का विचार है कि व्यक्ति प्राकृतिक अवस्था में प्राकृतिक अधिकारों का उपयोग करते थे, लेकिन प्राकृतिक अधिकारों और प्राकृतिक सफलता की धारणा नितांत भ्रमपूर्ण है।अधिकारों का उदय समाज में ही होता है और एक राज्य के अंतर्गत रह कर ही अधिकारों का उपयोग किया जा सकता है।

4.1.4.3तार्किक आधार

अतार्किक

सामाजिक समझौता न केवल इतिहास और दर्शन, बल्कि तर्क की दृष्टि से भी नितांत असंगत है।यह बात समझ में नहीं आती कि प्राकृतिक अवस्था में रहने वाले व्यक्तियों , जो कि राज्य संस्था से नितांत अपरचित थे , एकाएक ही राजनीतिक चेतना का उदय कैसे हो गया ? हमारा व्यवहारिक अनुभव हमें यह बताता है कि राजनीतिक चेतना सामाजिक जीवन में ही पैदा होती है ,प्राकृतिक अवस्था में नहीं ।प्राकृतिक अवस्था में रहने वाले व्यक्तियों की स्थिति इतनी जल्दी एवं आश्चर्यजनक परिवर्तन की व्याख्या तर्क के आधार पर संभव नहीं है।

4.1.4.4 वैधानिक आधार

सामाजिक समझौता सिद्धांत वैधानिक आधार पर भी खरा नहीं उतरता है -

प्राकृतिक अवस्था में समझौता संभव नहीं

यदि तर्क के लिए यह मान लिया जाए आदिम मनुष्य अपनी सामाजिक चेतना में इतना आगे बढ़ चुका था कि वह समझौता कर सके , तो प्राकृतिक अवस्था में किए गए किसी भी समझौते का वैधानिक दृष्टि से कोई महत्व नहीं है क्योंकि किसी समझौते को वैध रूप प्राप्त होने के लिए आवश्यक है इसके पीछे राज्य की स्वीकृति का बल हो , लेकिन प्राकृतिक अवस्था में राज्य का अस्तित्व ना होने के कारण सामाजिक समझौते के पीछे इस प्रकार की कोई शक्ति नहीं
थी ।क्योंकि समझौता वैध नहीं है , अतः उसे प्राप्त सब अधिकार भी झूठे हो जाते हैं।

समझौता वर्तमान समय में मान्य नहीं

कोई भी समझौता जिन निश्चित लोगों के मध्य होता है उन्हें पर लागू होता है। अतः किसी अज्ञात समय में अज्ञात व्यक्तियों द्वारा किया गया समझौता उसके बाद के समय और वर्तमान लोगों पर लागू हो , वह कानूनी दृष्टि से अमान्य है।इसी पर तर्क देते हुए डा आशीर्वादम ने कहा है कि,"यदि पूर्वजों ने खट्टे अंगूर खाए, तो उनके बच्चों के दांत क्यों उतरे।"

4.1.5 समझौता सिद्धांत का महत्व

यद्यपि सामाजिक समझौता सिद्धांत की बहुत सारी आलोचनाएं हुई है और यह सिद्धांत अस्वीकृत हो गया है ,लेकिन राजनीतिक विचारों के इतिहास में यह सिद्धांत पर्याप्त महत्वपूर्ण है।

इस सिद्धांत के द्वारा राज्य की उत्पत्ति के दैवीय सिद्धांत का खंडन किया गया, जिसके अंतर्गत राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता था।

इस सिद्धांत के द्वारा इस सत्य का प्रतिपादन किया गया कि शक्ति या शासक की व्यक्तिगत इच्छा नहीं , बल्कि जन सहमति ही राज्य का आधार है।यह सिद्धांत इस मौलिक तथ्य का समर्थक है कि राजा अपनी शक्ति प्रजा से प्राप्त करता है और राजा को मनमानी करने का अधिकार नहीं हो सकता।

सामाजिक समझौता का सिद्धांत द्वारा प्रभुत्व-सम्बन्धी विचारधारा में महत्वपूर्ण योगदान दिया गया है ।हॉब्स के विचारों के आधार पर आस्टिन ने वैधानिक संप्रभुता के विचार का प्रतिपादन किया ।लॉक ने राजनीतिक प्रभुत्व के सिद्धांत को प्रेरणा प्रदान की और रूसो के सामान्य इच्छा संबंधी विचारों से लोकप्रिय संप्रभुता संबंधी धारणा को बल मिला ।इस प्रकार समझौता सिद्धांत ने राजनीतिक विचारधारा के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

4.1.6 सारांश

राज्य की उत्पति के सम्बन्ध में ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धांत ही सर्वाधिक मान्य है जिसके अनुसार किसी एक तत्व के द्वारा नही , वरन मूल सामाजिक प्रवृत्ति ,रक्त सम्बन्ध , धर्म,शक्ति,आर्थिक गतिविधियाँ और राजीनीतिक चेतना सभी के द्वारा सामूहिक रूप से राज्य का विकास किया गया है ।रक्त सम्बन्ध पर आधारित परिवार राज्य का सबसे प्राचीन रूप था ।धर्म ने इन परिवारों को एकता प्रदान की और आर्थिक गतिविधियों ने व्यक्तियों को संगठित होने के लिए प्रेरित किया। इसके साथ ही शक्ति और राजनीतिक चेतना ने राज्य के रूप को स्पष्टता और व्यापकता प्रदान की। इस प्रकार राज्य का उदय हुआ और उसने विकास करते-करते अपने वर्तमान स्वरूप को प्राप्त किया।

4.1.7 अभ्यास /बोधात्मक प्रश्न

1.7.1 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

- राज्य की उत्पति के विभिन्न सिद्धांतो को बताइए।
- "राज्य न तो इश्वर की कृति है, न वह उच्चकोटि के शारीरिक बल का परिणाम है, न वह किसी प्रस्ताव या समझौता की सृष्टि है और न वह केवल परिवार का विस्तार मात्र है।" यह जिस सिद्धांत से सम्बन्धित है उसकी व्याख्या करिये।
- राज्य की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धांत कौन कौन से है? इनमें से कौन सा सिद्धांत सर्वाधिक संतोषप्रद है और क्यों ?
- राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक समझौता सिद्धांत की आलोचनात्मक विवेचना कीजिये।
- "राज्य का विकास हुआ है निर्माण नहीं" इस कथन का विस्तार कीजिये।

1.7.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

- राज्य के उत्पति के विभिन्न सिद्धांतो के केवल नाम बताइए।
- मार्क्सवादी दृष्टिकोण क्या है ?
- आपके विचार में राज्य की उत्पति का कौन सा सिद्धांत सही है?
- हॉब्स का मनुष्य स्वभाव में कैसा था ?
- रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा क्या है ?

1.7.3 बहुविकल्पीय प्रश्न

1. सामाजिक समझौता सिद्धांत के समर्थक कौन थे -

(अ) हॉब्स, लॉक , रूसो

(ब) बेन्थम

(स) ग्रीन

(द) लेनिन

2. सोसल कांट्रेक्ट किसकी लिखित पुस्तक है ?

(अ) हॉब्स

(ब) लॉक

(स) रूसो

(द) मार्क्स

3. राज्य की उत्पत्ति का सबसे प्राचीन सिद्धांत कौन सा है?

(अ) दैवीय सिद्धांत

(ब) शक्ति सिद्धांत

(स) ऐतिहासिक सिद्धांत

(द) मार्क्सवादी सिद्धांत

4. "राजा और इश्वर में इतनी समानता है कि यह कहना ठीक है कि राजा इश्वर है" यह कथन किसका है ?

(अ) मैकियावेली

(ब) जेम्स प्रथम

(स) रूसो

(द) फिलिमोर

5. राजनीतिक चेतना राज्य की उत्पत्ति के किस सिद्धांत का आधार है?

(अ) दैवीय सिद्धांत

(ब) विकासवादी सिद्धांत

(स) शक्ति का सिद्धांत

(द) हॉब्स का सामाजिक संविदा का सिद्धांत

1.7.4 बहुविकल्पीय प्रश्नो के उत्तर

1. (अ) हॉब्स, लॉक , रूसो
2. (स) रूसो

3. (अ) दैवीय सिद्धांत
4. (ब) जेम्स प्रथम
5. (ब) विकासवादी सिद्धांत

4.1.8 कठिन शब्द

कबायली – घूमने वाली जाति
पुरखे- पूर्वज

4.1.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

- डा. बी. एल. फड़िया , पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन ,साहित्य भवन पब्लिकेशन ,आगरा ,1992 , आईएसबीएन-978-93-5173-312-6
- प्रो. मेहता एवं खन्ना,राजनीति विज्ञान,एस बी पी डी पब्लिशिंग हॉउस, 2015
- डा. आर.के.आनंद,डा. जीवन महता, डा. एन. डी.अरोड़ा,राजनीति विज्ञान के सिद्धांत , साहित्य भवन पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.)लि.,2007
- जीवन महता, राजनीतिक चिंतन का इतिहास, साहित्य भवन पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.)लि.,2008 ,आईएसबीएन-978-93-5073-409-9
- डा. भूपेश मणि त्रिपाठी, राजनीतिक सिद्धांत,स्व प्रकाशित ,2013, आईएसबीएन-978-93-5087-469-1
- डा. पुखराज जैन,राजनीतिक चिंतन का इतिहास,2006, साहित्य भवन पब्लिकेशन,आगरा, आईएसबीएन-81-7288-031-6
- डा. सुरेश चन्द्र सिंहल, प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल पब्लिकेशन, आगरा
- डा. जे.सी. जौहरी,राजनीति विज्ञान,एस बी पी डी पब्लिकेशन,आगरा आईएसबीएन-978-93-5167-451-1
- जीवन महता, पाश्चात्य राजनीतिक चिंतक ,2012 ,एस बी पी डी पब्लिशिंग, आगरा
- एडी आशीर्वादम,कृष्णकांत मिश्र,राजनीति विज्ञान 2016, एस. चन्द एंड कंपनी (प्रा.) लिमिटेड, रामनगर ,नई दिल्ली ,आईएसबीएन-978 -81-219-0896-2

इकाई-2 थामस हॉब्स का राजनीतिक चिंतन

इकाई की रूपरेखा
4.2.2 प्रस्तावना
4.2.3 थामस हॉब्स का जीवन परिचय
4.2.4 थामस हॉब्स की रचनाएं
4.2.5 हॉब्स के चिंतन पर प्रभाव डालने वाली परिस्थितियां
4.2.5.1 विज्ञान का विकास
4.2.5.2 इंग्लैंड का गृहयुद्ध
4.2.5.3 यात्राएँ और संपर्क
4.2.6 हॉब्स की अध्ययन पद्धति :वैज्ञानिक भौतिकवाद
4.2.6.1 वैज्ञानिक भौतिकवाद
4.2.7 हॉब्स का सामाजिक समझौता सिद्धांत
4.2.7.1 मानव स्वभाव का स्वरूप
4.2.7.2 प्राकृतिक अवस्था
4.2.7.3 प्राकृतिक अधिकार और प्राकृतिक कानून
4.2.7.4 समझौते का कारण
4.2.7.5 सामाजिक समझौते द्वारा राज्य की उत्पत्ति
4.2.7.6 राज्य का स्वरूप
4.2.7.7 हॉब्स के सामाजिक समझौते सिद्धांत की विशेषताएं
4.2.8 हॉब्स का संप्रभुता सिद्धांत
4.2.9 हॉब्स के राजदर्शन में निरंकुशतावाद एवं व्यक्तिवाद के तत्व
4.2.10 हॉब्स के अनुसार शासन और कानून
4.2.10.1 राजतन्त्र – श्रेष्ठ शासन
4.2.10.2 कानून
4.2.10.3 राज्य और चर्च के संबंध मेंहॉब्स के विचार
4.2.11 सारांश
4.2.12 अभ्यास / बोधात्मक प्रश्न
4.2.12.1 दीर्घ उतरीय प्रश्न
4.2.12.2 लघु उत्तरीय प्रश्न
4.2.12.3 बहु विकल्पीय प्रश्न
4.2.12.4 बहु विकल्पीय प्रश्नों के उत्तर
4.2.13 कठिन शब्द
4.2.14 संदर्भ ग्रन्थ सूची

4.2.1 उद्देश्य कथन

इस अध्याय को पढ़ने के बाद आप-

- हॉब्स के जीवन परिचय को जॉन जायेंगे।
- हॉब्स की रचनाओ और मुख्य रूप से लेवियाथन के बारे मे जॉन जायेंगे।
- हॉब्स के सामाजिक समझौते सिद्धांत का महत्त्व समझ सकेंगे।
- हॉब्स के सभी सिद्धांत के बारे मे जॉन जायेंगे।
- हॉब्स का राजनीति मे क्या योगदान है ये समझ सकेंगे।
-

4.2.2 प्रस्तावना

थामस हॉब्स पहला दार्शनिक था जिसने राजनीतिक चिंतन में निरंकुशतावाद एवं धर्मनिरपेक्षतावाद के लिए एक वैज्ञानिक आधार बनाया तथा भौतिक विज्ञानो में प्रयुक्त होने वाली पद्धति को दर्शन तथा राजनीतिक चिंतन का आधार देकर राजनीति को विज्ञान का स्वरूप दिया। उसको राजनीति शास्त्र के क्षेत्र में सामाजिक समझौता सिद्धांत की नवीन परंपरा को विधिवत जन्म देने और विकसित करने का श्रेय प्राप्त है। यद्यपि सामाजिक समझौता विचार का वर्णन प्राचीन और मध्ययुगीन विचारकों के द्वारा भी किया गया लेकिन इसे एक सिद्धांत की तरह विशुद्ध रूप से सर्वप्रथम प्रतिपादित करने का श्रेय हॉब्स को ही प्राप्त है। वैज्ञानिक चिंतन प्रणाली, ऐतिहासिक एवं भौतिकवादी समीक्षा, तर्क सिद्ध व्याख्या, सुतीक्ष्ण शैली एवं विचार उत्तेजक लेख , यह सभी हॉब्स की देन है। अंग्रेजी भाषा की जातियों ने जितने राजनीतिक दार्शनिको को जन्म दिया उन्हें सबसे महान हॉब्सहै और उसका नाम तब तक अमर रहेगा जब तक लोग राजनीतिक समस्याओं पर विचार करते रहेंगे। इस इकाई मे हम हॉब्स के सभी विचारों का विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे।

4.2.3 थामसहॉब्स का जीवन परिचय

हॉब्स का जन्म सन 1588 ईस्वी में मेम्सबेरी के पास वेस्टपोर्ट में हुआथा। उनके पिता वेस्टपोर्ट में पादरी थे। क्रोधी स्वभाव के कारण उसके पिता ने एक अन्य पादरी पर हमला कर दिया जिसके कारण उन्हें अपने तीन बच्चों और पत्नी को छोड़कर निर्वासित होना पड़ा। पिता की अनुपस्थिति में हॉब्स का पालन पोषण उसके चाचा ने किया। वह बचपन से ही विलक्षण प्रतिभा का धनी था। उसने 4 वर्ष की अवस्था मे ही अच्छी तरह पढ़ना लिखना सीख लिया और 6 वर्ष की अवस्था में ग्रीक और लैटिन का अध्ययन शुरू किया। मेम्सबरी में ही उन्होंने 1596 से 1603 ईस्वी तक लैटिन और ग्रीक भाषा का इतना गहन अध्ययन किया कि 14 वर्ष की आयु में उसने यूरीपाइडीज की दी मीडिया का ग्रीक से लैटिन भाषा में अनुवाद किया। 15 वर्ष की आयु में ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में प्रवेश हुआ और 5 वर्ष बाद वह विश्वविद्यालयों में प्रचलित तत्कालीन स्कालेस्टिक शिक्षा पद्धति के प्रति घृणा लेकर स्नातक हुआ। 1608 ईस्वी में जब उसकी आयु केवल 20 साल की थी वह इंग्लैंड के कैवन्डिश नामक एक संभ्रांत उच्च कुल में विलियम कैवेन्डिश का शिक्षक नियुक्त हुआ। उसका इस परिवार के साथ जीवन भर संबंध बना रहा और इसने उसके बौद्धिक विकास पर गहरा प्रभाव डाला। 1610 ईस्वी में अपने शिष्य के साथ यूरोप की पहली यात्रा करते हुए उसे वहां दार्शनिक विद्वानों के तथा नवीन भौतिक विज्ञान के संपर्क में आने का अवसर मिला और यह ज्ञात हुआ कि ऑक्सफोर्ड का दर्शन बहुत पुराना पड़ चुका है। इसके

बाद ही इस परिवार के साथ अपने संपर्क के कारण उसे तत्कालीन इंग्लैंड के बेकन एवं बेन जॉन्सन जैसे बुद्धिजीवियों से परिचित होने का अवसर मिला।

1628 में हॉब्स कैवेन्डिश परिवार को छोड़कर क्लिंटन के पुत्र का अध्यापक नियुक्त हुआ। इस परिवार के साथ 3 वर्ष तक रहा जिसमें वह प्रथम दो वर्ष उसने विदेश यात्रा में बिताये। अपनी इस यात्रा में वह गणित और ज्यामिति की नई खोजों से परिचित हुआ। उनका परिचय उन नवीन विचारको से हुआ जो यांत्रिक आधार पर विज्ञान का क्रमबद्ध रूप से पुनर्निर्माण करने के आकांक्षी थे। 49 वर्ष की आयु में वह यूक्लिड की पुस्तक देखते ही रेखागणित का प्रेमी हो गया। इसी समय से उसे यह विश्वास हो गया कि सब अनुभूतियां गति का परिणाम है। प्रकृति में गति सर्वव्यापक है और समस्त भौतिक जगत तथा मानसिक प्रक्रियाएं शहजातीय तत्वों की गतिमात्र है। हॉब्स ज्यामिति से इतना प्रभावित हुआ कि उसने ज्यामिति की पद्धति का प्रयोग ना केवल प्राकृतिक घटनाओं की व्याख्या करने बल्कि मनोविज्ञान और राजनीतिक विज्ञान के क्षेत्र में भी किया। सन 1634 से 1637 तक यूरोप की यात्रा की। इसी भ्रमण काल में उसने इटली में गैलिलियो से और पेरिस मे फ्रेंच दार्शनिक देकार्ते से भेंटकी।

1640 ईसवी में राजा और संसद में संघर्ष छिदने पर उसका ध्यान गणितशास्त्र से राजनीति शास्त्र की ओर आकृष्ट हुआ। उसने निरंकुश राजसत्ता के समर्थन में एक पुस्तक लिखी और इस कारण इंग्लैंड में अपना रहना संकटपूर्ण समझते हुए वह भागकर फ्रांस चला गया।11 वर्षों तक वह फ्रांस में रहा इसी अवधि में उसने **डी सिवे** की रचना की जो 1642 ई. में प्रकाशित हुई।इसी कालावधि में वह पेरिस में इंग्लैंड से भाग कर आए हुए युवराज तथा भावी राजा चार्ल्स द्वितीय का गणितशास्त्र का अध्यापक भी रहा। सन 1651 में उसका प्रसिद्ध ग्रंथ **लेवियाथन** प्रकाशित हुआ।1655 में उसने **डी कारपोर** तथा 1659 में **डी होमिने** प्रकाशित किया। इससे वह नास्तिक शिरोमणि समझा जाने लगा और ब्रिटिश शासन में उसके जीवन पर पुनः संकट के बादल मंडराने लगे।लेकिन 1660 में क्रामवेल द्वारा स्थापित कॉमनवेल्थ की समाप्ति हुई , इंग्लैंड में राजतंत्र की पुनर्स्थापना हुई और पेरिस में उससे गणित पढ़ने वाला युवराज चार्ल्स द्वितीय के नाम से ब्रिटेन की राजगद्दी पर बैठा, जिससे उसके जीवन का संकट टल गया।राजघराने में हॉब्स का सम्मान बढ़ गया और चार्ल्स ने उसके लिए पेंशन की व्यवस्था कर दी ,लेकिन उसके धार्मिक विचारों के कारण बिशप गण धीरे-धीरे उसकी विरोधी बनते गए।कुछ विशपो ने उसे नास्तिक के रूप में चिता पर जलाने का सुझाव दिया।इससे वह इतना आतंकित हुआ कि अपने को धार्मिक सिद्ध करने के लिए वह गिरजाघर में जाना शुरू कर दिया। राजा ने **हॉब्स** को विवादास्पद लेख ना लिखने की सलाह दी।1668 में उसने **डायलॉग ऑन द सिविल वॉर्स** की रचना की जिसमें गृहयुद्ध की विवेचना करते हुए उसने इसका उत्तरदायित्व संसद के समर्थकों पर डाला तथा उन वैध राजतंत्रवादियों की आलोचना की, जो इंग्लैंड में राजा का शासन और शक्तियां संसद द्वारा सीमित करना चाहते थे।इसी अवधि में लिखे गए ग्रंथ **डायलॉग आफ दी कामन लाज** में उसने यह प्रतिपादित किया कि राजा ही सर्वोच्च न्यायाधीश एवं एकमात्र विधि निर्माता है।जनता में उसे नियंत्रित करने की कोई क्षमता नहीं है।1679 में 91 वर्ष की आयु में हॉब्स का निधन हो गया।

4.2.4 थामसहॉब्स की रचनाएं

हॉब्स ने अनेक ग्रंथों की रचना की, लेकिन राजनीतिक क्षेत्र से संबंधित उसके निम्नलिखित ग्रंथ उसके नाम को अमर कर गए-

- डी-सिवे (1642)
- एलिमेंट्स ऑफ़ लॉ (1650)

- लेवियाथन (1651)
- डी-कारपोरे (1655)
- डी-होमिने (1651)

डी-सीवे में हॉब्स ने संप्रभुता की व्याख्या करते हुए उसकी परिभाषा प्रस्तुत की थी।

डी-कारपोरे में हॉब्स ने मानव स्वभाव का विवेचन करते हुए यह स्पष्ट कियाकि जनता को संप्रभु शासक का विरोध क्यों नहीं करना चाहिए।**एलिमेंट्स आफ ला** में उसने विधि की व्याख्या की है।**लेवियाथन** में हॉब्स के राजनीतिक विचारों का सर्वोत्तम परिचय मिलता है। यह हॉब्स की अमर कृति है।उसके चार भाग है ,पहले भाग में प्राकृतिक अवस्था, दूसरे में राज्य की उत्पत्ति, तीसरे में चर्च और राज्य का संबंध तथा अंतिम चौथे भाग में कैथोलिक चर्च के आलोच्य पक्षों का विवरण दिया गया है।लेवियाथन एक विशालकाय समुद्री राक्षस है जिसके माध्यम से हॉब्स समझौते से उत्पन्न संपूर्ण प्रभुसत्ता संपन्न राज्य शक्ति का स्वरुप प्रतिपादित करना चाहता है।उसने अपनी रचना के मुखपृष्ठ पर इसे सब मनुष्यों से मिलकर बनने वाले एक विराट पुरुष या महामानव के रूप में चित्रित किया है।महामानव (लेवियाथन) की सारी देह छोटे-छोटे मनुष्यों से भरी हुई है ,जो यह सूचित करती है कि सब ने अपने अधिकार इसे देकर सामाजिक समझौते से प्रभुसत्ता संपन्न लेवियाथन का निर्माण किया है।मुकुट मंडित लेवियाथन के दाएं हाथ में तलवार तथा बाएं हाथ में धर्मदण्ड धारण किए हुए महामानव खड़ा हुआ है।इससे तात्पर्य है कि शासन और धर्म दोनों क्षेत्रों में उसे सर्वोच्च अधिकार प्राप्त है।इसीलिए **वेपर** ने लिखा है कि , " उसकी कृति राजनीतिक विचारों के इतिहास में संपूर्ण संप्रभुता की प्रथम व्याख्या है।"

4.2.5 हॉब्स के चिंतन पर प्रभाव डालने वाली परिस्थितियां

हॉब्स के चिंतन पर प्रभाव डालने वाली परिस्थितियां,कारण तथा तत्व निम्नलिखित हैं :

4.2.5.1 विज्ञान का विकास

पहली परिस्थिति जिसने हॉब्स को सर्वाधिक प्रभावित किया ,वह थी नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों के क्रम का प्रारंभ। ऑक्सफोर्ड में अध्ययन करते हुए उसे मध्ययुगीन दर्शन के प्रति घृणा हो गई थी।अतः स्वाभाविक रूप से उसका ध्यान नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों की ओर आकृष्ट हुआ। इस समय कैपलर ,गैलीलियो तथा देकार्ते ने यंत्र विज्ञान की स्थापनाकी थी।

हार्वे तथा गिलबर्ट ने शरीर विज्ञान तथा चुंबकत्व के संबंध में खोजे प्रस्तुत की थी।हॉब्स गैलीलियो के गति नियम से अत्यधिक प्रभावित हुआ और उसे अपने राजनीतिक चिंतन का आधार बनाया।

4.2.5.2 इंग्लैंड का गृहयुद्ध

इसके अतिरिक्त दूसरी परिस्थिति थी, तत्कालीन इंग्लैंड की अस्थिर राजनीतिक दशा। उस समय इंग्लैंड में निरंकुश राजतंत्र की समर्थक और विरोधी दोनों प्रकार की विचारधाराओं में तीव्र संघर्ष हो रहा था। इससे इंग्लैंड में अराजकता और अव्यवस्था का वातावरण विद्यमान था। फलतः , किसी भी व्यक्ति का ना तो जीवन सुरक्षित था और ना उसकी संपत्ति।यह युग नए आर्थिक परिवर्तनों का युग भी था।सामंतों के खिलाफ व्यापारी वर्ग का उदय हो रहा था, लेकिन उसे किसी प्रकार के राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं थे।अतः उन्हें प्राप्त करने के लिए सामंतों का प्रभाव घटाने के लिए वह पार्लियामेंट की शक्ति में वृद्धि के लिए आंदोलन कर रहा था ,जबकि सामंतवादी वर्ग पुरानी व्यवस्था को बनाए रखने के लिए कृत संकल्प था।इन परस्पर विरोधी विचारधाराओं के कारण सन 1639 में इंग्लैंड में गृह युद्ध भड़क उठा।इस गृह युद्ध के कारण जनजीवन असुरक्षित हो गया।उसने अपने समय की असुरक्षा और अराजकता की इन भावनाओं

के दमन के लिए एक सर्व शक्तिशाली और निरंकुश राजतंत्र का अपनी रचनाओं के द्वारा प्रबल समर्थन किया।

4.2.5.3 यात्राएँ और संपर्क

हॉब्स को यूरोपीय यात्राओं तथा विभिन्न संपर्कों ने बहुत अधिक प्रभावित किया ।शैक्षणिक भ्रमण के उद्देश्य से यूरोपीय महाद्वीप की यात्रा कई बार की और उसकी चिंतन धारा को निर्धारित करने में इन भ्रमणों का महत्वपूर्ण स्थान है ।सर्वप्रथम, 1610 ईस्वी में अपने शिष्य कैंवेडिस के साथ उसने फ्रांस और इटली की यात्रा की ।इस यात्रा के फलस्वरूप उसे यूरोपीय महाद्वीप के बौद्धिक जीवन की प्रथम झांकी मिली ।1628 ईस्वी में उसने क्लिंटन के पुत्र के साथ यूरोपीय महाद्वीप का पुनः भ्रमण किया और गणित तथा ज्यामिति की नई खोजों से परिचित हुआ। इन नई खोजों ने उसकी चिंतन धारा को एक नई दिशा प्रदान की।सन 1634 से 1637 तक उसने तीसरी बार यूरोपीय महाद्वीप की यात्रा की ।इसी भ्रमण काल में उसने इटली में गैलिलियो से भेंट की और पेरिस में दार्शनिक देकार्ते के मित्रों के संपर्क में आया। इस यात्रा में हॉब्स को यह अनुभूति हुई की प्रकृति में गति सर्वव्यापक है और समस्त भौतिक जगत एवं मानसिक प्रक्रिया गतिमात्र है ।फलस्वरुप हॉब्स विश्व को यंत्रवत समझने लगा जिसमें समस्त घटनाएं परमाणुओं की गतिशीलता के ही रूप है।

4.2.6 हॉब्स की अध्ययन पद्धति :वैज्ञानिक भौतिकवाद

हॉब्स पर अपने समय में होने वाली वैज्ञानिक खोजों का बड़ा प्रभाव था ।इस प्रभाव के कारण उसने अपने युग की राजनीतिक समस्याओं के अध्ययन के लिए अपने से पूर्ववर्ती विचारको की अध्ययन पद्धति से बिल्कुल भिन्न अध्ययन पद्धति का प्रयोग किया ।उसने ना तो मध्य युग के प्रचलित धार्मिक ग्रंथों पर आधारित प्रमाणवादी पद्धति और ना बोंदा जैसे लेखकों के द्वारा प्रयुक्त ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग किया ।इसके विपरीत, उसने विशुद्ध भौतिकवादी दृष्टिकोण को अपनाया, जो पूर्णतः तार्किक और बुद्धिवादी दृष्टिकोण था ।इस दृष्टिकोण के समर्थन में अपने विचार व्यक्त करते हुए उसने कहा कि, "इतिहास के पाठ अधिकांशतः मूल्यहीन है, कामनवेल्थ की रचना के लिए विशेष नियम और सिद्धांतों का पता लगाना आवश्यक है ,जिनकी वैज्ञानिक अथवा शाश्वत वैधता हो ।उसके लिए इतिहास से अधिक अच्छा मार्गदर्शक सिद्धांत विवेक का है ।"

वास्तव में हॉब्स वैज्ञानिक सिद्धांतो के आधार पर एक सम्पूर्ण दर्शन की रचना करना चाहता था और राजनीतिक दर्शन उसके इस सम्पूर्ण चिंतन का एक अंग था ,भाग मात्र था ।हॉब्स के इस सम्पूर्ण दर्शन को ही भौतिकवादकहा गया है ।

4.2.6.1 वैज्ञानिक भौतिकवाद

वैज्ञानिक भौतिकवाद का शाब्दिक अर्थ दो पद्धितियो का सम्मिश्रण है ।

वैज्ञानिकशब्दका अर्थ है–व्याख्या ,कार्य-कारण संबंध ,व्यवस्था और निष्कर्ष निकालने की प्रवृत्ति और हॉब्स में यही सब मिलता है।हॉब्स इन्ही आधारों पर अपनी राजदर्शन का निर्माण करता है ।जैसे वह पहले मानव स्वभाव और उसके चरित्र का अध्ययन करता है उसकी भावनाएं, इच्छा,विचारों का विश्लेषण करता है और तभी वह इस परिणाम पर आता है कि इस प्रकार के प्राणी के साथ व्यवहार करने तथा उसके कार्यों को नियंत्रित करने के लिए राज्य को कैसा होना चाहिए ? वह समझौते द्वारा राज्य की उत्पत्ति बतलाता है पर इसके पूर्व एक प्राकृतिक अवस्था का चित्रण भी करता है जिसके पश्चात नागरिक समाज का निर्माण आवश्यक हुआ था ।इस प्रकार हॉब्स व्यवस्थित और क्रमागत आधार पर सर्वप्रथम

मानव स्वभाव का विश्लेषण ,फिर प्राकृतिक कानून , फिर प्राकृतिक अवस्था और अंत में समझौते द्वारा राज्य का निर्माण करता है।

भौतिकवाद शब्द का अर्थ है कि धार्मिक अंधविश्वासों ,नैतिकता और ईश्वर में विश्वास इन सब से पृथक वास्तविकता वस्तु-जगत है ।वह वातावरण में विश्वास करता है और उसके दर्शन में व्यक्ति को वातावरण से अधिक महत्व देता है ।भौतिकवादियों के अनुसार हॉब्स इन अर्थों में पूर्णतया भौतिकवादी है ।वह व्यक्ति को अधिक महत्व देता है ।उसके मनोविज्ञान के कारण ही समझौते और शक्तिशाली राजतंत्र की स्थापना होती है ।हॉब्स का विश्वास था कि संसार में पदार्थ के अतिरिक्त और कुछ भी सत्य नहीं है और जो कुछ प्रकृति या पदार्थ नहीं है वह विश्व का अंग नहीं है।

हॉब्स की संपूर्ण प्रणाली संसार के तीनों भाग- प्रकृति,पदार्थ और मनुष्य एवं राज्य की व्याख्या भौतिक सिद्धांत के आधार पर हुई है।वह भौतिक वातावरण को बहुत महत्व देता है ।उसके अनुसार यही मानव मनोविज्ञान का आधार एवं आरंभ बिन्दू है।

वैज्ञानिक भौतिकवाद की दृष्टि से हॉब्स का राजनीतिक चिंतन के इतिहास में स्थान विवादास्पद है ।जब लेवियाथन प्रकाशित हुआ तब सभी ने उसे नास्तिकवाद एवं वैज्ञानिक भौतिकवाद की घोर निंदा की थी ।**हेनरी मोर** तथा **कडवर्थ**जैसे दार्शनिकों ,**कम्बरलैंड** जैसे धर्मशास्त्रियों तथा फिल्मर जैसे राजनीतिक दार्शनिकों ने उसके नास्तिकवाद तथा भौतिकवाद के सिद्धांतों की कड़ी आलोचना की ।

इन सब आलोचनाओं के बावजूद भी कहा जा सकता है कि हॉब्स ने सामाजिक विज्ञानो में वैज्ञानिक पद्धति के विकास में महान योगदान दिया है ।अब तक के इतिहास में राजनीतिक पद्धति की आवश्यकता के प्रति कोई चेतना नहीं थी ।हॉब्स ने यह अनुभव किया कि एक विकसित पद्धति के बिना राजनीति विज्ञान, विज्ञान नहीं बन सकता ।हॉब्स इस दिशा में निर्देशन देने वाला वह सर्वप्रथम विचारक था ।जिसकी मान्यता थी कि राजनीतिक पद्धति में भौतिक विज्ञानो की पद्धतियों से बहुत कुछ लिया जा सकता है ।उसने अपने पूर्ववर्ती अनेक राजनीतिक चिंतको और राजनीतिक विचारधाराओं को प्रभावित किया है ।उसके भौतिकवाद की छाप मोंटेस्क्यु और कार्ल मार्क्स पर देखी जा सकती है। इसमें उपयोगितावाद का भी आरम्भ मिलता है ।अतः कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक भौतिकवाद पर अपने दर्शन को आधारित कर हॉब्स ने राजनीतिक इतिहास के विकास में महान योगदान दिया है।

4.2.7 हॉब्स का सामाजिक समझौता सिद्धांत

हॉब्स की राजनीतिक विचारधारा में सबसे पहले उसके सामाजिक समझौते सिद्धांत का स्थान आता है ।उसके समझौता संबंधी विचार उसके प्रसिद्ध ग्रंथ लेवियाथन में अंकित है उसने सामाजिक समझौता सिद्धांत की व्याख्या निम्न प्रकार से की है –

4.2.7.1मानव स्वभाव का स्वरूप

हॉब्स के समय चल रहे इंग्लैंड के गृह युद्ध ने उसके सम्मुख मानव स्वभाव का घृणित पक्ष ही रखा ।वह मनुष्य को स्वार्थी , झगड़ालू ,नीच,दुष्ट, विवेकहीन तथा आत्म केंद्रित मानता था।हॉब्स के अनुसार संपूर्ण ब्रह्मांड एक यंत्र है जिसका निर्माण उन पुर्जो से हुआ है जो यांत्रिक नियम के अनुसार चलते हैं ।मनुष्य इसी ब्रह्मांड का लघु रूप है वह भी एक यंत्र के समान है। उसका निर्माण भी ब्रह्मांड की भांति विश्व में संचालित पुर्जो से हुआ है ।

हॉब्स का उद्देश उस नियम की खोज करना है जिसके अनुसार मनुष्य का स्वभाव संचालित होता है ।वस्तुतः मानव प्रकृति का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करके ही हॉब्स अपने राजनीतिक सिद्धांत का निर्माण

करना चाहता है। उसके अनुसार मनुष्य संवेदनाओं का जीव है ।मनुष्य की विचार शक्ति भी संवेदनाओं से उत्पन्न होती है ।इंद्रियों के माध्यम से जब गति केंद्रीय स्नायु संस्थान में पहुंचती है तो वहां संवेदना के रूप में प्रकट होती है और मस्तिष्क इसी संवेदना को **विचार** कहा जाता है ।

हॉब्स के अनुसार राज्य में दो प्रकार की गतियां है- ऐच्छिक और अनैच्छिक। यदि उसकी भावना के अनुकूल संवेग होता है तो **अभिलाषा** कहलाता है और यदि प्रतिकूल होता है तो **विरक्ति** या घृणा कहलाता है ।इस प्रकार उसने भौतिक शास्त्र के आधार पर यह परिणाम निकाला कि अभीष्ट पदार्थों की प्राप्ति के लिए उनकी ओर गति करना या प्रवृत होना **अभिलाषा** और अनभिष्ट पदार्थों से हटने की ओर गति करना **विरक्ति** या घृणा है ।अतः हॉब्स के अनुसार मनुष्य में वस्तुओं के प्रति आकर्षण और विकर्षण पाया जाता है । वस्तुओं का आकर्षण उसमें इच्छा को जन्म देता है । किसी चीज के प्रति विकर्षण उसमे घृणा पैदा करता है । अतः मनुष्य के लिए किसीवस्तु का अच्छा या बुरा होना उसकी भावना है ।मनुष्य की सुख-दुख, आशा-निराशा, भय ,साहस , क्रोध आदि की मनोभावनाएं और वासनाए अभिलाषा और विरक्ति के कारण होने वाली प्रवृत्ति और निवृत्ति का परिचय है ।

हॉब्स के अनुसार अच्छाई या बुराई का विचार भी हमारी गति की दशा से निश्चित होता है।"जिन वस्तुओं से वह आकर्षित होता है, उन्हें अच्छी कहता है ,जिन्हें वह नापसंद करता है उन्हें बुरी कहता है ।अच्छाई या बुराई वस्तुओं में नहीं बल्कि मानव भावना में है ।"

हॉब्स के अनुसार मनुष्य आनंद प्राप्त करना चाहता है।समय-समय पर अपनी इच्छाओं को पूर्ण करना तथा वांच्छित वस्तुओं को प्राप्त करना ही आनंद है। जिन साधनों से अपनी इच्छाएं पूर्ण करते हुए आनंद प्राप्त किया जाता है,उन साधनों को ही शक्ति कहते हैं।चूँकि मनुष्य की आनंद अनंत है , इसलिए मनुष्य के जीवन में एक ही शक्ति की प्राप्ति के बाद दूसरी शक्ति प्राप्त करने की इच्छा निरंतर बनी रहती है।

हॉब्स के अनुसार प्रकृति ने सब मनुष्यो को समान बनाया है ।यह संभव है कि कोई व्यक्ति शारीरिक बल की दृष्टि से दूसरे व्यक्ति के अपेक्षा निर्बल हो ,लेकिन वह मानसिक दृष्टि से बुद्धिमान तथा धूर्तता एवं मक्कारी में उसकी अपेक्षा अधिक बलवान हो सकता है ।

क्योंकि मनुष्यों में लक्ष्य प्राप्ति की योग्यता समान होती है जिससे प्रतिद्वंद्विता और संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है। वे एक दूसरे को हराना और नष्ट करना चाहते हैं । " मनुष्य प्रतिस्पर्धा के चलते लाभ के लिए ,अविश्वास के चलते रक्षा के लिए एवं वैभव प्राप्ति के चलते प्रसिद्धि के लिए आपस में संघर्ष करते हैं ।मनुष्य तीन कारणों से आपस में संघर्ष करता रहता है -**प्रतिद्वान्द्विता** ,**भय** और **कीर्ति** पाने और उसे बढ़ाने की लालसा। प्रतिद्वान्द्विता ,भय और कीर्ति प्राप्त करने की आकांक्षा सतत संघर्ष उत्पन्न करती है।जब दो व्यक्ति एक ही वस्तु को पानी के लिए प्रयास करते हैं तो उनमें प्रतिद्वंद्विता शुरू हो जाती है ।जब एक व्यक्ति इस आकांक्षा में व्यथीत रहता है कि दूसरे की शक्ति उससे अधिक ना बढ़ जाए तो वह भयाक्रांत होता है ।मनुष्य में यह इच्छा भी स्वभाविक है कि अन्य व्यक्ति उसकी प्रशंसा करें, अपने से बड़ा तथा ऊँचा समझे । अतः सब व्यक्तियों के एक दूसरे के साथ संबंध स्पर्धा,अविश्वास और कीर्ति की कामना से निर्धारित होते हैं ।यद्यपि मनुष्य शांति चाहता है, लेकिन उसे सदैव दूसरे से भय लगता है ।वह अपनी संपत्ति और अधिकार बढ़ाना चाहता है अतः अपने साथियों के साथ साथ साथ संघर्ष में संलग्न रहता है।

4.2.7.2 प्राकृतिक अवस्था

हॉब्स राज्य की उत्पत्ति के पहले की स्थिति को प्राकृतिक दशा का नाम देता है ।उसने मानव स्वभाव के चित्रण के सिलसिले में मनुष्य को जो स्वार्थी,अहम्वादी, संघर्षमय तथा इच्छाओं की पूर्ति में लीन बतलाया है उसके अनिवार्य परिणाम स्वरूप प्राकृतिक अवस्था की कल्पना की है ।

उसके अनुसार प्राकृतिक अवस्था सतत युद्ध की अवस्था के अतिरिक्त और कुछ हो नहीं सकती जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्वार्थी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर एक दूसरे से युद्ध करता होगा। राज्य से पूर्व मनुष्य के किसी सामाजिक जीवन की कल्पना हॉब्स ने नहीं की है इसलिए सामाजिक नैतिकता से मुक्त व्यक्ति पशुता के ऊपर भला कैसे उठ सकता है ?

हॉब्स द्वारा वर्णित प्राकृतिक अवस्था पूर्णतः अराजकता की अवस्था है ।यह अवस्था राज्य और उसकी बल शक्ति की उत्पत्ति की पूर्व थी ।जिसकी लाठी उसकी भैंस का सिद्धांत लागू

था। मनुष्य जो चाहता था करता था, जिसे चाहता था मार डालता था क्योंकि वह जीवन में अकेला था,अतः हमेशा भय और असुरक्षा से ग्रस्त रहता था। शक्तिशाली निर्बल व्यक्तियों के अधिकारों को हड़प रहे थे ।सर्वत्र शक्ति धोखाधड़ी और वंचना का बोलबाला था ।इस दिशा में उचित-अनुचित, न्याय-अन्याय, धर्म-अधर्म का कोई विचार नहीं था ।हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक दशा में उद्योग या कला-कौशल का विकास नहीं हो सकता, क्योंकि मनुष्य को यह भरोसा ही नहीं उससे प्राप्त हो सकने वाले लाभ का उपयोग कर सकेगा ।इस अवस्था में किसी प्रकार की संस्कृति,सभ्यता, भवन निर्माण, ज्ञान-विज्ञान, कला-साहित्य का विकास नहीं हो सकता ।मनुष्य को सदैव भय और मृत्यु की आशंका बनी रहती है ।

उसके अनुसार प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य का जीवन एकाकी,निर्धन ,कुत्सित, पशुतुल्य तथा छोटा होता है ।प्राकृतिक अवस्था **सब की सबके विरुद्ध संघर्ष** की स्थिति थी ।मनुष्य इस अवस्था में नरपशु और रक्त पिपासु थे,शत्रुओं का दमन करने ,शक्ति बढ़ाने और यश प्राप्त करने के लिए सब प्रकार की हिंसा और हत्या का अवलंबन करते थे ।

4.2.7.3 प्राकृतिक अधिकार और प्राकृतिक कानून

हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक अधिकार से अभिप्राय है अपने जीवन के संरक्षण के लिए मनुष्य को कोई भी कार्य करने की स्वतंत्रता होना । लेकिन सभी मनुष्यों के प्राकृतिक अधिकार समान होने से सबको एक दूसरे की हत्या और लूट मार का अधिकार मिल जाता है । इससे जीवन असुरक्षित हो जाता है ।पर सभी मनुष्य उसे सुरक्षित बनाये रखना चाहते है ।अतः वे प्राकृतिक अवस्था में भी आपसी सुरक्षा के लिए बुद्धि द्वारा कुछ कानून बनाते हैं । ये प्राकृतिक कानून कहलाते हैं ।

हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक अधिकार और प्राकृतिक कानून में बहुत अंतर है ।प्राकृतिक अधिकार का अर्थ है कि "प्रत्येक मनुष्य को आत्मरक्षा हेतु आवश्यक समस्त कार्यों को करने की स्वतंत्रता है ।" प्राकृतिक मनुष्य की अवधारणा इससे भिन्न है ।उसके द्वारा मनुष्य को ऐसे कार्य करने से रोका जाता है जो उसकी सबसे प्रबल इच्छा अर्थात प्राण रक्षा के लिए घातक

हो। प्राकृतिक अधिकार से स्वतंत्रता का आभास होता है और प्राकृतिक कानून से दायित्व

का।

हॉब्स ने अपनी पुस्तक **लेवियाथन** में विभिन्न प्रकार के 19 प्राकृतिक कानूनों गिनाये है जिसमें से तीन अत्यधिक महत्वपूर्ण है ।

प्रथम कानून यह है कि प्रत्येक मनुष्य शांति की खोज करें और शांति से रहे ।शांति स्थापना से ही उसे हिंसा-जनित मृत्यु से छुटकारा मिल सकता है ।वह उसकी सबसे प्रबल इच्छा होती

है ।अपनी इस इच्छा की पूर्ति में हो तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक समस्त मनुष्य अपने प्राकृतिक अधिकारों का परित्याग ना करें ।

दूसरा कानून यह है कि सब मनुष्य अपने प्राकृतिक अधिकारों का परित्याग करें ।इसके लिए यह आवश्यक है कि वह सार्वजनिक और पारस्परिक हो, अर्थात सब मनुष्य एक साथ अपने प्राकृतिक अधिकारों का परित्याग करें ।प्रत्येक मनुष्य दूसरे को यह वचन दे कि यदि सब मनुष्य ऐसा करने को तैयार हो तो " मैं भी अपने प्राकृतिक अधिकारों का परित्याग करने को तैयार हूं।" यदि यह परित्याग सार्वजनिक एवं पारस्परिक नहीं होगा और कुछ व्यक्तियों को प्राकृतिक अधिकार प्राप्त रहेंगे तो उसको अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने की स्वतंत्रता होगी । अतः सबके लिए एक साथ प्राकृतिक अधिकारों का परित्याग आवश्यक है।

तीसरा नियम उसने यह रखा कि मनुष्य को अपने वचन का पालन करना चाहिए। यदि मनुष्य को अपने प्राकृतिक अधिकारों का परित्याग का वचन दें और फिर उसका पालन ना करें, तो शांति की खोज और स्थापना के समस्त प्रयत्न व्यर्थ हो जाएंगे।अतःहॉब्स दिए गए वचन के पालन पर बड़ा जोर देता है ।उसके अनुसार वचन का पालन करना ही न्याय कार्य है और जो वचन भंग करता है वह अन्याय का दोषी होता है।

इन तीन कानूनों का महत्व इस आधार पर है कि निरंकुश एकतंत्र का समर्थन करने के लिए यह सैद्धांतिक आधार है। प्रथम कानून के द्वारा शांति की स्थापना के लिए राजनीतिक व्यवस्था की अनिवार्यता को भी स्वीकार किया गया है ।दूसरे कानून के द्वारा यह सिद्ध करने की चेष्टा की गई है कि राजा के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार प्रजा को नहीं है ।तीसरे कानून के द्वारा हॉब्स ने यह सिद्ध किया कि राजा या राज्य एक समझौता है जिसके उल्लंघन का प्रयास किसी व्यक्ति को नहीं करना चाहिए।

4.2.7.4 समझौते का कारण

प्राकृतिक अवस्था में संघर्ष की स्थिति से संत्रस्त और चिंतित होकर मनुष्य की बुद्धि और विवेक ने यह सोचा कि आत्म संरक्षण के लिए इस भयावह दशा का अंत किया जाना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, प्राकृतिक अवस्था की कुछ कठिनाइयां थी और उन्हीं के कारण हॉब्स के अनुसार राज्य की स्थापना की उत्पत्ति होती है। राज्य की उत्पत्ति के कारण निम्न थे-

प्राकृतिक अवस्था में अशांति, हिंसा, युद्ध, घृणा और असुरक्षा का वातावरण था ।ऐसी दशा में यह आवश्यक था कि ऐसी संप्रभु सत्ता की स्थापना की जाए जो सुरक्षा की व्यवस्था कर सके। प्राकृतिक अवस्था में प्राकृतिक कानून तो थे पर इन कानूनों की व्याख्या करने वाले कोई सर्वोच्च सत्ता नही थी । जिससे इन कानूनों का मनमाना अर्थ लगाया जाता था ।अतः विधि व्याख्याकार की आवश्यकता के कारण प्रभुसत्ता की स्थापना आवश्यक हुई ।

प्राकृतिक अवस्था में प्राकृतिक नियमों का पालन कराने वाली कोई सत्ता नहीं थी।अपने स्वार्थ के वशीभूत होने के कारण लोग उनका उल्लंघन करते थे जिससे संघर्ष पनपता था। इस स्थिति के निवारण के लिए भी संप्रभुता की स्थापना की आवश्यकता हुई ।

प्राकृतिक कानूनों का पालन लगातार तभी हो सकता था जब उनका उल्लंघन करने वालों को उचित दण्ड देने वाली शक्ति का अस्तित्व हो । इस कारण भी एक संप्रभुता की स्थापना हो गई।

4.2.7.5 सामाजिक समझौता द्वारा राज्य की उत्पत्ति

प्राकृतिक अराजक अवस्था से छुटकारा पाने के उद्देश्य से हॉब्स के अनुसार मनुष्यों ने आपस में एक समझौता, संविदा ,अनुबंध या करार करके अराजक दशा का अंत किया। प्रत्येक व्यक्ति इस आशय से

शपथ लेता है – "मैं इस व्यक्ति को या व्यक्ति समूह को इस शर्त पर अपना अधिकार देता हूं कि वह स्वयं अपने पर शासन करने के अधिकार का परित्याग करता हूं कि तुम भी अपने अधिकार इसी प्रकार व्यक्ति को दोगे और स्वशासन के अधिकार को छोड़ दोगे।"ऐसा करने पर सारा जन समुदाय एक व्यक्ति ने संयुक्त हो जाता है ,इसे राज्य या लैटिन भाषा में नगर कहते हैं ।इससे पहले समाज और राज्य की सत्ता नहीं थी ।इस तरह जब सभी मनुष्य संविदा की प्रतिज्ञा करते हैं तो संविदा करने वाले व्यक्तियों का समूह 'राज्य' कहलाता है। जिस व्यक्ति या व्यक्ति समूह को संविदा करने वाले मानव अपने अधिकार सौंपते हैं, वह दीर्घकाय लेवियाथन है और वह जनता की शांति व प्रतिरक्षा के लिए पृथ्वी पर मानव देव की भांति है।

4.2.7.6 राज्य का स्वरूप

इस प्रकार समझौते द्वारा हॉब्स ऐसी दमनात्मक शक्ति की सृष्टि करता है जो इसके पहले नहीं थी ।वह समझौते द्वारा दो कार्यों की पूर्ति करता है –

प्रथम,वह एक व्यवस्थित और सभी समाज की स्थापना करता है ।

द्वितीय,वह एक ऐसे राज्य की स्थापना करता है जिसमें मनुष्य अपने समस्त प्राकृतिक अधिकारों का परित्याग कर एक निरंकुश प्रभु का निर्माण करते हैं।

वह कहता है कि समझौते के द्वारा निर्मित राज्य व्यक्तियों को आश्वासन देता है कि उसकी वाह्य और आंतरिक शत्रुओं से रक्षा की जाएगी। ऐसा तभी हो सकता है जब सब मनुष्य राज्य की आज्ञा पालन करने का आश्वासन दे और राज्य की संपूर्ण शक्ति किसी एक व्यक्ति या व्यक्तियों के समुदाय में परिवर्तित कर दी जाये ।ऐसा व्यक्ति ही सबकी इच्छाओं को एक शक्तिशाली इच्छा के रूप में परिवर्तित कर सकता है ।जो व्यक्ति इस शक्ति का प्रतीक होगा वह संप्रभु या राज्य कहलाएगा ।हॉब्स का संप्रभु पूर्ण रूप से निरंकुश है ।

संक्षेप में, समझौते के बाद समाज एवं राज्य का प्रादुर्भाव हुआ तथा कला, साहित्य, विज्ञान व्यापार आदि का श्री गणेश हुआ।हॉब्स के शब्दों में,"उस महान दैत्य उस मर्त्य प्रभु का इसी प्रकार से जन्म होता है ।यह वही मर्त्य प्रभु है जिसकी कृपा पर, अमर ईश्वर की छत्रछाया में हमारी शांति और सुरक्षा निर्भर है।" सामाजिक समझौते द्वारा हॉब्स निरंकुश राजतंत्रात्मक राज्य की स्थापना करता है।

4.2.7.7 हॉब्स के सामाजिक समझौता सिद्धांत की विशेषताएं

हॉब्स द्वारा प्रतिपादित सामाजिक समझौता सिद्धांत की निम्नलिखित विशेषताएं हैं

1. इसकी पहली विशेषता यह है कि समझौता सामाजिक है, शासकीय नहीं। शासकीय अनुबंध में शासक और शासितो में समझौता होता है ,लेकिन हॉब्स का समझौता राजा और प्रजा के मध्य ही नहीं है, किंतु विभिन्न व्यक्तियों के बीच हुआ है।संविदा करने वाले पक्ष व्यक्ति हैं जो आपस में एक दूसरे के साथ संविदा करके संप्रभु की सृष्टि करते हैं ।अतः संविदा की शर्त शासक पर लागू नहीं होती।
2. शासक या संप्रभु सत्ता समझौते में किसी भी पक्ष के रुप में सम्मिलित नहीं है ,अतः वह जो कुछ भी करती है उसके लिए वह किसी के प्रति उत्तरदाई नहीं होती तथा वह पूर्णतः निरंकुश होती है।
3. इसकी तीसरी विशेषता यह है कि जिन उद्देश्यों से अनुबंध की रचना हुई ,वे अनुबंध के अंग मान लिए गए। इसका अर्थ यह है कि जब तक उनकी पूर्ति होती रहेगी तब तक अनुबंध जारी रहेगा ।
4. इस की चौथी विशेषता यह है कि यह मनुष्य के भय पर आधारित है ।हिंसा जनित मृत्यु का भय ही मनुष्य को इस अनुबंध को करने के लिए बाध्य करता है।

5. पांचवी विशेषता यह है किशासक सर्वोच्च विधायक होता है ।उस के आदेश से ही नियम या विधि होते हैं।
6. छठी विशेषता यह है कि समझौते से प्राकृतिक अवस्था में एकाकी रहने वाले व्यक्तियों ने समाज का निर्माण किया है ,अतः यह सामाजिक समझौता है।
7. सप्तम विशेषता ,प्रजा द्वारा किसी भी कारण से किया जाने वाला आज्ञा भंग अन्यायपूर्ण है क्योंकि वह अपनी व्यैक्तिक इच्छा को प्रभु की इच्छा में विलीन कर देने वाले उपर्युक्त समझौते के प्रतिकूल है।
8. आठवीं विशेषता, समझौते द्वारा विविध संघर्षरत इच्छाओं का स्थान एक प्रतिनिधियात्मक इच्छा ग्रहण कर लेती है। इस प्रकार शासक के हाथ में एक सामूहिक सत्ता आ जाती है ।वह एक कृत्रिम व्यक्ति है ।चूँकि वह संविदा करने वाले प्रत्येक व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों को प्राप्त कर लेता है, अतः वह प्रत्येक व्यक्ति का प्रतिनिधि है।

सामाजिक समझौते के सिद्धांत को प्रतिपादित कर हॉब्स यह सिद्ध करता है कि वह ना तो राज्य को ईश्वर द्वारा उत्पन्न मानता है और ना किसी प्राकृतिक विकास का परिणाम ।बल्कि वह राज्य को मानव निर्मित एक ऐसा कृत्रिम साधन मानता है जिसे व्यक्ति द्वारा अपने कुछ निश्चित आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए निर्मित किया गया है ।

4.2.8 हॉब्स का संप्रभुता सिद्धांत

हॉब्स द्वारा प्रतिपादित संप्रभुता का सिद्धांत उसके सामाजिक समझौते के सिद्धांत से प्रभावित है ।हॉब्स के शब्दों में,"व्यक्ति की रक्षा हेतु बिना तलवार के अनुबंध केवल शक्तिहीन कोरे शब्द हैं।" समझौते से स्थापित संप्रभु सर्वोच्च सत्ता संपन्न और निरंकुश है ।उसका प्रत्येक आदेश कानून और उसका प्रत्येक कार्य न्यायपूर्ण है। उसे जनता के जीवन को नियंत्रित करने का असीमित अधिकार प्राप्त है तथा जनता को किसी भी प्रकार से उसे चुनौती देने या उसका विरोध करने का अधिकार प्राप्त नहीं है ।हॉब्स कहता है कि जनता का एकमात्र कार्य संप्रभु के आदेशों का पालन करना है, चाहे वे आदेश ईश्वरी और प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध ही क्यों ना हो, जनता के लिए उसका पालन करना ही न्यायपूर्ण और वैध है।

उसके अनुसार संप्रभु को जनता की संपत्ति छीनने का, यहां तक कि उसके प्राण लेने का अधिकार भी है क्योंकि जनता की संपत्ति और प्राण उसकी सत्ता से ही सुरक्षित है ।हॉब्ससमस्त ऐसी संस्थाओं का विरोधी है जो संप्रभु की शक्ति को सीमित करने का प्रयास करती है। वह शक्ति के पृथक्करण एवं मिश्रित शासन व्यवस्था का भी विरोध करता है ।उसके अनुसार ऐसी व्यवस्थाएं अराजकता उत्पन्न करने वाली होती हैं ।वह कहता है कि इंग्लैंड में उस के समय में होने वाले गृह युद्ध का यही कारण था , जिसकी वजह से लोग यह सोचते थे कि सर्वोच्च सत्ता राजा और संसद में विभाजित है।

उसके अनुसार संप्रभु के निम्न कार्यों से उसकी असीमित और निरंकुश शक्तियों का परिचय मिलता है-

- वह जनता के विचार और सिद्धांतों का नियंत्रण करें।
- उसे जनता की संपत्ति पर पूरा अधिकार है ,वह इसे अपनी इच्छा अनुसार छीनने का भी अधिकार रखता है।
- उसे अपने प्रजाजनों के सब विवादों के निर्णय करने का अंतिम अधिकार है।
- उसे अन्य देशों से युद्ध छेड़ने और संधि करने का तथा अपनी नीति को क्रियान्वित करने के लिए प्रजाजनों के संपूर्ण साधनों पर पूर्ण नियंत्रण रखने का अधिकार है।

- प्रभु शासन के सब अधिकारियों की सत्ता का मूल स्रोत है।

हॉब्स की प्रभुसत्ता का विचार**बोंदा**के विचार से महत्वपूर्ण भेद रखता है। बोंदा संप्रभुता पर ईश्वर के नियम, प्रकृति के नियम तथा राज्य के मौलिक नियमों के तीन प्रकार के प्रतिबंध स्वीकार करता है ,लेकिन हॉब्स अपनी प्रभुसत्ता पर ऐसा कोई प्रतिबंध नहीं मानता । बोंदा के अनुसार राजा को प्रजा की निजी संपत्ति छीनने का अधिकार नहीं है , हॉब्स उसे यह अधिकार प्रदान करता है । बोंदा का संप्रभुता का सिद्धांत एक अपूर्ण सिद्धांत था और उसने उसे सभी प्रकार की मर्यादाओं से मुक्त कर पूर्णता प्रदान की।

संप्रभुता पर बोंदा द्वारा आरोपित दैवीय कानून, प्राकृतिक कानून, अंतरराष्ट्रीय कानून, संवैधानिक कानून तथा संपत्ति के अधिकारों के बंधनों को जिनसे उसने उसे मर्यादित कर दिया था, मानने से इनकार कर दिया ।इस तरह हॉब्स की संप्रभुता की धारणा असीमित संप्रभुता की धारणा है,निरंकुशता और अविभाज्यता उसकी प्रमुख विशेषताएं हैं ,उसका स्वरूप कानूनी है। राज्य के समस्त शासन संचालन में संप्रभु सर्वोच्च है ,वही विधि निर्माता है, विधि को लागू करने वाला है तथा वहीं मुख्य न्यायाधिपति है।हॉब्स शक्ति के पृथक्करण में विश्वास नहीं करता ।उसका संप्रभु धरती पर ईश्वर की तरह शक्तिशाली है ,सैनिक और असैनिक शक्तियों का एकमात्र अधिष्ठाता है ।राज्य का संपूर्ण प्रशासनिक वर्ग उसके द्वारा नियुक्त होता है और अपने कार्यों के लिए उसके प्रति उत्तरदायी होता है। वही उन्हें अपने पद से हटा सकता है। यही नहीं राज्य के द्वारा प्रदान किए जाने वाले सभी सम्मान व उपाधियों का प्रदानकर्ता भी वही है। सभी समस्याओं के संबंध में अंतिम निर्णय लेने का अधिकार भी उसे ही प्राप्त है। अतः हॉब्स के संप्रभु के राज्य में व्यक्तियों को ना तो अंतिम निर्णय लेने का अधिकार है ना तो अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार है और ना उसमें उसकी व्यवस्था ही है ।संप्रभु के आदेशों का पालन करने के अतिरिक्त नागरिकों को और किसी प्रकार का अधिकार नहीं है ।

हॉब्स का संप्रभु शासन और प्रशासन के सभी क्षेत्र में सर्वोच्च और निरंकुश है और राज्य सत्ता का प्रयोग करके नागरिकों ने अपनी इच्छा अनुसार कार्य कराने के लिए बात कर सकने का अधिकारी और सामर्थ्यवान है।

4.2.9 हॉब्स के राजदर्शन में निरंकुशतावाद एवं व्यक्तिवाद के तत्व

4.2.9.1 निरंकुशतावाद के तत्व

हॉब्स के राजनीतिक चिंतन की सबसे बड़ी विशेषता है निरंकुश तथा अपरिमित संप्रभुता का सिद्धांत। यद्यपि हॉब्स से पूर्व ही बोंदा यह कह चुका था कि संप्रभुता राज्य की सर्वोच्च शक्ति है जिस पर कानून का बंधन या सीमा नहीं है। फिर भी वह इतना अवश्य ही मानता था कि प्राकृतिक कानून ,ईश्वरीय कानून तथा अपनी संपत्ति की रक्षा करने का व्यक्ति का अधिकार-यह सब संप्रभुता की सीमाएं निर्धारित करते हैं ।इस प्रकार उसके सिद्धांत में एक और स्पष्ट लेकिन निश्चित असंगति पाई जाती है ।इस असंगति का प्रमुख कारण कि उसने संप्रभुता की धारणा का पूर्ण रूप से विशेषण नहीं किया ।इस कमी की पूर्ति 60 वर्ष बाद हॉब्स ने अपनी रचनाओं में की ।उसने अपनी पुस्तक **लेवियाथन** में राज्य के निरंकुशतावाद का एक सिद्धांत विकसित किया और संप्रभु को उन समस्त बाधाओं और सीमाओं से मुक्त कर दिया।

हॉब्स द्वारा प्रतिपादित सामाजिक समझौते के परिणाम स्वरुप **निरंकुश राज्य** की उत्पत्ति होती है । प्राकृतिक अवस्था शाश्वत संघर्ष की अवस्था थी जिसका अंत करने के लिए लोगों ने एक सामान्य सत्ता की स्थापना पर बल दिया ।इसके लिए प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के साथ एक समझौता या अनुबंध करता है। प्रत्येक व्यक्ति इस आशय की शपथ लेता है,"मैं इस व्यक्ति को या व्यक्ति समूह को इस शर्त पर

अपना अधिकार देता हूं तथा स्वयमेव अपने पर शासन करने के अधिकार का परित्याग करता हूं कि तू भी अपने अधिकार इसी व्यक्ति को देगा और स्वशासन के अधिकार छोड़ देगा ।" ऐसा करने पर सारा जनसमुदाय एक व्यक्ति में संयुक्त हो जाता है ।इसे राज्य या**कामनवेल्थ** कहते हैं। उसने इस **लेवियाथन** भी कहा है ।दूसरे शब्दों में यही संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न शासक या सर्वोच्च अधिकार प्राप्त संप्रभु है ।

हॉब्स के संप्रभु या लेवियाथन की निम्नलिखित विशेषताएं हैं-

1. संप्रभुता असीमित

हॉब्स की संप्रभुता की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी असीमितता । संप्रभुताधारी ईश्वरीय, प्राकृतिक या अन्य किसी भी कानून से बाध्य नहीं है ।राजकीय कानून संप्रभु की आज्ञाए मात्र है और वह उन से ऊपर है। उस पर यदि कोई अंकुश और नियंत्रण लगाए तो वह संप्रभु ही नहीं रह जाता ।इस प्रकार संप्रभुता पूर्णतया असीम और निरंकुश है।

2.संप्रभु समस्त विधेयात्मक कानूनों का स्रोत

हॉब्स के संप्रभु की एक अन्य विशेषता यह है कि वह समस्त विधेयात्मक कानूनों का स्रोत है। दूसरे शब्दों में संप्रभुता का अर्थ है समस्त प्रजाजन के लिए मान्य होने वाले कानूनों के निर्माण करने की शक्ति होना ।हॉब्सके अनुसार यह शक्ति मात्र संप्रभु में ही निहित होती है और संप्रभु ही कानूनों का व्याख्याता भी है ।

3.संपत्ति का सृष्टा और नियामक

हॉब्स के अनुसार संपत्ति की सृष्टि भी संप्रभु ही करता है क्योंकि संपत्ति के कानूनी अधिकार का जन्म राज्य के साथ ही हुआ है ।संपति का सृष्टा संप्रभु होने के कारण संप्रभु जब चाहे व्यक्ति से उसकी संपत्ति ले सकता है ।इस प्रकार हॉब्सबोंदा के इस विचार को स्वीकार नहीं करता कि कर लगाने के लिए जन स्वीकृति आवश्यक है।

4.प्रशासनिक शक्तियों का एकमात्र स्रोत

हॉब्स का संप्रभु प्रशासनिक शक्तियों का एकमात्र स्रोत है ।यह प्रशासनिक अधिकारियों की नियुक्ति करता है और समस्त अधिकारी उसके द्वारा प्रदान की गई शक्तियों का प्रयोग करते है।

5.संप्रभु न्याय का स्रोत

हॉब्स के अनुसार न्याय का एकमात्र स्रोत भी संप्रभु ही है । शासक को न्याय का स्रोत और न्यायाधीशों को सिंहासन के नीचे के सिंह कहकर हॉब्स ने न्यायिक स्वतंत्रता के सिद्धांत का खंडन किया है। इस प्रकार हॉब्स की विचारधारा में शक्ति विभाजन तथा नियंत्रण या संतुलन के लिए भी कोई स्थान नहीं है।

6. अधिकार केवल संप्रभु में निहित

राज्य में हॉब्स विद्यमान किसी भी व्यक्ति ,परिवार ,चर्च या अन्य किसी समुदाय के अधिकारों को स्वीकार नहीं करता और इस बात का प्रतिपादन करता है कि व्यक्ति और समुदायों का एकमात्र स्रोत संप्रभु है ।उन्हें केवल वे ही अधिकार प्राप्त हो सकते हैं जो संप्रभु के द्वारा स्वीकार किए जाए ।व्यक्ति या समुदाय संप्रभु के विरुद्ध किसी भी अधिकार का दावा नहीं कर सकते।

7. युद्ध और शांति का निर्णायक

हॉब्स ना केवल आंतरिक क्षेत्र में बल्कि अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में भी संप्रभुता की असीमिताता का प्रतिपादन करता है और उसके अनुसार युद्ध और शांति का एकमात्र निर्णायक संप्रभु ही

है। संप्रभु के द्वारा दूसरे राज्यों के साथ युद्ध ,शांति या समझौते का मार्ग अपनाया जा सकता है। उसे अपनी इच्छा अनुसार सैनिक शक्ति के प्रयोग का अधिकार है।

8.संप्रभुता अविभाज्य और अदेय

हॉब्स के अनुसार संप्रभुता अविभाज्य और अदेय है ।संपूर्णताधारी संप्रभुता का कोई भी गुण किसी अन्य को हस्तांतरित नहीं कर सकता और ना ही किसी अन्य को उसके प्रयोग में भागीदार बना सकता है।

9.संप्रभुता का क्षेत्राधिकार सर्वव्यापी

संपूर्णता का क्षेत्राधिकार राज्य में सर्वव्यापी है और कोई भी व्यक्ति या समुदाय इससे मुक्ति का दावा नहीं कर सकता।

10.चर्च संप्रभु के अधीन

हॉब्स की विचारधारा में स्वाधीन और स्वतंत्र चर्च के लिए कोई स्थान नहीं है ।हॉब्सके शब्दों में,"चर्च ईसाई धर्म में विश्वास रखने वाले व्यक्तियों का एक संघ है जो एक संप्रभु के अधीन संगठित है और संप्रभु की आज्ञा से ही अपना सम्मेलन कर सकता है ।" संप्रभु को ही धार्मिक ग्रंथों की व्याख्या करने का अधिकार है। राज्य के अंतर्गत अन्य निगमों की भांति चर्च का भी प्रधान संप्रभु होता है।

4.2.9.2 व्यक्तिवाद के तत्व

हॉब्स ने जहाँ एक ओर निरंकुश तथा असीमित संप्रभुता का प्रतिपादन किया है वहाँ दूसरी ओर उसकी विचारधारा में व्यक्तिवाद के भी दर्शन होते है ।हॉब्स कि विचारधारा में व्यक्तिवाद के निम्न रूप दिखाई देते है –

1. **मानव स्वभाव सम्बन्धी धारणा**

   हॉब्स की मानव स्वभाव सम्बन्धी धारणा व्यक्तिवादी विचारधारा के अनुकूल ही है, समाजवाद या आदर्शवाद के अनुकूल नहीं है ।हॉब्स अरस्तू के समान व्यक्ति को एक सामाजिक प्राणी नहीं मानता , बल्कि असामाजिक प्राणी मानता है ,जो आत्म केन्द्रित है और अहम् और लोभ से प्रेरित होता है ।हॉब्स कि विचारधारा के अंतर्गत यह व्यक्तिवाद का मनोवैज्ञानिक तत्व है और इसके आधार पर केवल व्यक्तिवादी धारणा की ही रचना हो सकती है ।

2. **राज्य साधन है,व्यक्ति साध्य**

   हॉब्स आपके चिंतन में राज्य एक साधन है व्यक्ति साध्य । राज्य के लिए व्यक्ति का निर्माण नहीं होता बल्कि व्यक्ति की सुरक्षा और शांति के लिए राज्य का निर्माण होता है ।हॉब्स के दर्शन में व्यक्ति या व्यक्तिगत स्वार्थ की अतिरिक्त जन समुदाय या सामान्य इच्छा या सार्वजनिक हित नाम की कोई धारणा नहीं है।

3. **राज्य एक कृत्रिम संस्था है**

   हॉब्स के समझौता संबंधी विचारों से यह अर्थ निकलता है कि समाज या राज्य तो सिर्फ एक कृत्रिम संस्था है ।जिसका उपयोग मनुष्य अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए करता है।

4. **आत्मसंरक्षण का अधिकार**

   हॉब्स के अनुसार अपने जीवन की रक्षा के लिए प्राकृतिक दशा का अंत करने के उद्देश्य से मनुष्य ने सामाजिक समझौता किया था , राज्य की अधीनता स्वीकार की थी। राज्य के बन जाने से उसके शेष सब अधिकार समाप्त हो जाते हैं लेकिन आत्मसंरक्षण का अधिकार समाप्त नहीं होता ।राज्य के अस्तित्व का उद्देश्य व्यक्ति के जीवन की रक्षा है ।यदि राज्य का कोई नियम नागरिक के जीवन पर आघात करता है तो वह इसका विरोध कर सकता है।हॉब्स के शब्दों में," जनता प्रभु की आज्ञा किया उसी समय तक मानने के लिए बाध्य है, जब तक उसमें जनता

को संरक्षण प्रदान करने की शक्ति हो। प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह प्रभु की ऐसी आज्ञा का पालन ना करें जिनमें उसे अपने आप को मारने, घायल करने या अंग-भंग करने का आदेश हो।"हॉब्स का व्यक्ति सेना में भर्ती होने से मना कर सकता है और केवल इतना ही नहीं हॉब्स तो व्यक्ति को जेल से भाग जाने का परामर्श देता है।

5. **राज्य के कार्यों की निषेधात्मक धरना**

आर्थिक क्षेत्र में भी हॉब्स अहस्तक्षेप की नीति का समर्थन करता है। उसने कहा है कि उसके राज्य में व्यक्तियों को खरीदने, बेचने, आर्थिक संविदा करने , भोजन व्यवसाय आदि चुनने एवं अपनी इच्छा के अनुकूल अपने बच्चों को शिक्षित करने का अधिकार प्राप्त है। वस्तुतः उसने आर्थिक क्षेत्र में अहस्तक्षेप की नीति का विचार दिया जो आधुनिक व्यक्तिवादियों के विचार से पूर्णता मेल खाता है।

5.2.10. हॉब्स के अनुसार शासन और कानून

4.2.10.1राजतंत्र- श्रेष्ठ शासन

हॉब्स की संप्रभुता की धारणा पर ही उसकी शासन एवं कानून संबंधी धारणा आधारित है। उसके शासन के वर्गीकरण का आधार यह है कि प्रभुत्व-शक्ति कितने व्यक्तियों में निहित होती है।इस आधार पर वो शासन के तीन रूप बतलाता है। संप्रभुता यदि एक व्यक्ति में निहित हो तो वह राजतंत्र है,यदि कुछ व्यक्तियों में निहित है तो वह कुलीनतंत्र और यदि सभी व्यक्तियों में निहित है तो वह लोकतंत्र है।वह कहता है कि इन तीनों रूपों के अतिरिक्त ना तो शासन का कोई अन्य रूप होता है और ना ही अरस्तू की तरह उसका कोई भ्रष्ट स्वरूप।हॉब्स मिश्रित शासन व्यवस्था का विरोधी है।उसके अनुसार यह एक मूर्खतापूर्ण विचार है।उसके द्वारा बताए गए शासन के उपरोक्त तीनों रूपों में राजतंत्र को सर्वश्रेष्ठ मानता है क्योंकि यह एक स्थायित्व और समृद्धि लाने वाली और संघर्षों को कम करने वाली व्यवस्था है।

4.2.10.2. कानून

हॉब्स के विचारों के अनुसार संप्रभुता का स्वरूप वैधानिक संप्रभुता का स्वरूप है। अतः उसका संप्रभु कानूनों द्वारा नियंत्रित नहीं है।वह कानून निर्माता तो है लेकिन स्वयं के संबंध में उन कानूनों का पालन करने के लिए बाध्य ही नहीं है।कानून की परिभाषा करते हुए हॉब्स कहता है कि , "वास्तविक कानून उस व्यक्ति का आदेश है जिसे दूसरों को आदेश देने का अधिकार प्राप्त है।" अतः उसकी संप्रभुता दूसरों को आदेश देने की शक्ति है।उसके अनुसार कानून संप्रभु का आदेश है।इस प्रकार हॉब्स कानून की विधिशास्त्रीय व्याख्या करता है और राज्यदेशों के अतिरिक्त और किसी को कानून नहीं मानता।वह प्राकृतिक कानून रीति-रिवाज और दैवीय कानून को विधि सम्मत कानून के रूप में स्वीकार नहीं करता क्योंकि उसका कहना है कि यह सब इसलिए समाज में कानून के रूप में मान्य हैं क्योंकि उन्हें संप्रभुता का समर्थन प्राप्त होता है।संप्रभुता के समर्थन की अनुपस्थिति में कानून के रूप में इसका कोई महत्व नहीं होता।

4.2.10.3 राज्य और चर्च के संबंध मेंहॉब्स के विचार

अपनी प्रसिद्ध ग्रन्थ लेवियाथन के एक बहुत बड़े भाग को हॉब्स ने राज्य-चर्च से संबंधों की व्याख्या करने में व्यय किया है।इस संबंध में वह किसी तरह की पूर्व धारणाओं से प्रभावित नहीं है। अतः राज्य-चर्च संबंधों का आधार क्या होना चाहिए इसके संबंध में उसने खुले दिमाग से चिंतन किया है और ऐसे निष्कर्ष निकाले हैं , जिनके आधार पर उसे नास्तिक और शैतान तक कह दिया गया।अपने पूर्ववर्ती विचारको से भिन्न मत प्रकट करते हुए हॉब्स चर्च की राज्य से अलग सत्ता को स्वीकार नहीं करता। वह उसे राज्य

संप्रभुता के अधीन मानता है और इसलिए कहता है कि चर्च को संपूर्ण के आदेश के अनुसार ही अपना संगठन बनाना चाहिए और संचालन करना चाहिए ।हॉब्स स्पष्ट शब्दों में यह घोषित करता है कि चर्च राज्य का एक अंग मात्र है और संप्रभु सामाजिक क्षेत्र में ही नहीं आध्यात्मिक क्षेत्र में भी सर्वोच्च है ।हॉब्स राज्य से अलग किसी भी रूप में चर्च की सत्ता को स्वीकार नहीं करता क्योंकि उसकी मान्यता है कि ऐसा होने पर समाज दो सर्वोच्च शक्तियों की स्थापना हो जाएगी जिससे अव्यवस्था और अराजकता का विस्तार होगा और जिस उद्देश्य सामाजिक समझौता किया गया है वह उद्देश्य विफल हो जाएगा ।अतः राज्य-चर्च संबंधों के निर्धारण में हॉब्स मैकियावेली से एक कदम आगे है । मैकियावेली राज्य औरचर्च को सिर्फ पृथक करता है जबकि चर्च को राज्य के अधीन कर देता है।

4.2.11 सारांश

हॉब्स की विचारधारा राजनीतिक चिंतन को महान देन है । व राजनीति शास्त्र की विस्तृत एवं व्यस्थित पद्धति का निर्माण करने वाला पहला अंग्रेज विचारक है ।प्रभुसत्ता का प्रतिपादन यद्यपि इसके पूर्व भी किया जा चुका था लेकिन एक निरंकुश और असीम प्रभुसत्ता का सुनिश्चित एवं पूर्ण विवरण सर्वप्रथम हॉब्स ने हीं किया। वास्तव में हॉब्स ने प्रभुसत्ता को वह रूप दिया जो आज तक चला रहा है ।हॉब्स के समझौता सिद्धांत द्वारा इस शाश्वत सत्य का प्रतिपादन हुआ की राजसत्ता सर्वोपरि होती है और उसके आदेशों का पालन राज्य के नागरिकों के लिए अनिवार्य है ।उसकी एक महान देन उसका व्यक्तिवाद है ।प्रभुसत्तावादी हॉब्स विचारों में व्यक्तिवाद का समर्थन मिलता है ।उसने व्यक्ति के कल्याण और सुरक्षा को साध्य घोषित किया । उसने राज्य को निरंकुश अधिकार इसी दृष्टि से दिए कि वह समाज में शांति स्थापित रखे, व्यक्तियों का जीवन व संपत्ति सुरक्षित रखें।

4.2.12 अभ्यास /बोधात्मक प्रश्न

2.12.1 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

- "प्राकृतिक अवस्था में मानव जीवन एकाकी,निर्धन,तुच्छ, जंगली,और अल्प था ।" इस कथन के आधार पर हॉब्स द्वारा प्रतिपादित प्राकृतिक अवस्था का वर्णन करिए ।
- "हॉब्स की विचारधारा संप्रभुता का शक्तिशाली कथन होने के साथ साथ व्यक्तिवाद का भी एक शक्तिशाली वक्तव्य है ।" स्पष्ट कीजिये ।
- हॉब्स के सम्प्रभुता सम्बन्धी सिद्धांत का वर्णन कीजिये ।
- हॉब्स के जीवन का संक्षिप्त परिचय दीजिये और उन स्रोतों को बताइए जिन्होंने उसके विचारो को प्रभावित किया ।
- "हॉब्स एक व्यक्तिवादी के रूप में अपने विचारो का प्रारम्भ करता है लेकिन उसके विचारो का अंत निरंकुशतावाद में होता है" इस कथन की विवेचना कीजिये ।

4.2.12.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

- हॉब्स के चिन्तन पर प्रभाव डालने वाली परिस्थितियों के बारे में संक्षिप्त लेख लिखिए ।
- हॉब्स के अनुसार कानून की परिभाषा लिखिए ।

- हॉब्स के लेवायाथन की विषय वास्तु लिखिए।
- हॉब्स की अध्ययन पद्धति बताइए।
- हॉब्स के मानव का स्वभाव बताइए।

4.2.12.3 बहुविकल्पीय प्रश्न

1. थामस हॉब्स का जन्म हुआ था-

(अ) इंग्लैण्ड

(ब) इटली

(स) यूनान

(द) पेरिस

2. हॉब्स ने डीसवे की रचना किस सन में की ?

(अ) 1651

(ब) 1655

(स) 1658

(द) 1642

3.हॉब्स कि सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रख्यात पुस्तक है -

(अ)डीहोमिने

(ब) डीसवे

(स) लेवियाथन

(द) कापोरे

4.राजदर्शन में हॉब्स की प्रसिद्धि का मुख्य कारण-

(अ) राजनीतिवाद

(ब) वैज्ञानिक भौतिकवाद

(स) दार्शनिकवाद

(द) मनोविज्ञानवाद

5. किसके अनुसार वास्तविक कानून उस व्यक्ति का आदेश है जिसे दुसरे को आदेश देने का अधिकार प्राप्त है -

(अ) कैटलिन

(ब) टर्मन

(स) जॉन लाक

(द) सेबाइन

4.2.12.4 बहुविकल्पीय प्रश्नो के उत्तर

1. (अ) इंग्लैण्ड

2. (द) 1642

3.(स) लेवियाथन

4.(ब) वैज्ञानिक भौतिकवाद

5.(ब) टर्मन

4.2.13 कठिन शब्द

आलोच्य – आलोचना योग्य

अवलंबन- सहारा लेना

मर्त्य – शरीर

कामनवेल्थ– ब्रिटेन के इतिहास में उन राजनीतिक इकाइयों को कहा जाता था जो राजाओ बजाय नागरिको साधारण नागरिको के सर्वहित के नाम पर स्थापित हुई हो।

4.2.14 संदर्भ ग्रंथ सूचि

- डा. बी. एल. फड़िया , पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन ,साहित्य भवन पब्लिकेशन ,आगरा ,1992 , आईएसबीएन-978-93-5173-312-6
- प्रो. मेहता एवं खन्ना,राजनीति विज्ञान,एस बी पी डी पब्लिशिंग हॉउस, 2015
- डा. आर.के.आनंद,डा. जीवन महता, डा. एन. डी.अरोड़ा,राजनीति विज्ञान के सिद्धांत , साहित्य भवन पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.)लि.,2007
- जीवन महता, राजनीतिक चिंतन का इतिहास, साहित्य भवन पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.)लि.,2008 ,आईएसबीएन-978-93-5073-409-9
- डा. भूपेश मणि त्रिपाठी, राजनीतिक सिद्धांत,स्व प्रकाशित ,2013, आईएसबीएन-978-93-5087-469-1
- डा. पुखराज जैन,राजनीतिक चिंतन का इतिहास,2006, साहित्य भवन पब्लिकेशन,आगरा,आईएसबीएन-81-7288-031-6
- डा. सुरेश चन्द्र सिंहल, प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल पब्लिकेशन, आगरा
- डा. जे.सी. जौहरी,राजनीति विज्ञान,एस बी पी डी पब्लिकेशन,आगरा आईएसबीएन-978-93-5167-451-1
- जीवन महता, पाश्चात्य राजनीतिक चिंतक ,2012 ,एस बी पी डी पब्लिशिंग, आगरा
- एडी आशीर्वादम,कृष्णकांत मिश्र,राजनीति विज्ञान 2016, एस. चन्द एंड कंपनी (प्रा.) लिमिटेड, रामनगर ,नई दिल्ली ,आईएसबीएन-978 -81-219-0896-2

इकाई-3 जॉन लॉक का राजनीतिक चिंतन

इकाई की रूपरेखा

4.3.1. उद्देश्य कथन

4.3.2 प्रस्तावना

4.3.3 जॉन लॉक का जीवन परिचय

4.3.4 जॉन लॉक की रचनाएं

4.3.5 लॉक के चिंतन को प्रभावित करने वाले तत्व एवं परिस्थितियां

- **4.3.5.1 राजनीतिक अस्थिरता**
- **4.3.5.2 हूकर का दर्शन**
- **4.3.5.3 हॉब्स का व्यक्तिवादी विचार**

4.3.6 जॉन लॉक की अध्ययन पद्धति

4.3.7 जॉन लॉक का सामाजिक समझौता सिद्धांत

- **4.3.7.1 मानव स्वभाव की धारणा**
- **4.3.7.2 प्राकृतिक अवस्था**
- **4.3.7.3 प्राकृतिक अवस्था की असुविधाएं**
- **4.3.7.4 सामाजिक समझौते द्वारा राज्य की उत्पत्ति**
- **4.3.7.5 लॉक के सामाजिक समझौते की विशेषताएं**
- **4.3.7.6 लॉक के सामाजिक समझौते की आलोचना**

4.3.8 लॉक के राज्य की विशेषताएं

- **4.3.8.1 राज्य सहमति पर आधारित**
- **4.3.8.2 राज्य जन कल्याण का एक साधन**
- **4.3.8.3 सीमित और मर्यादित राज्य**
- **4.3.8.4 वैधानिक राज्य**
- **4.3.8.5 सहिष्णु राज्य**
- **4.3.8.6 निषेधात्मक राज्य**

4.3.9 लॉक के शासन या सरकार संबंधी विचार

- **4.3.9.1 सरकार की स्थापना**
- **4.3.9.2 सरकार के कार्य**
- **4.3.9.3 सरकार के अंग**
- **4.3.9.4 शक्ति पृथक्करण**
- **4.3.9.5 सरकार के रूप**

4.3.10 लॉक का विद्रोह संबंधी अधिकार

4.3.11 लॉक : व्यक्तिवाद

- **4.3.11.1 राज्य का अधिकार व्यक्तियों की सहमति**
- **4.3.11.2 राज्य के निर्माण के उद्देश्य व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा**
- **4.3.11.3 व्यक्ति के पक्ष में राज्य पर सीमायें**

4.3.11.4 व्यक्ति द्वारा राज्य का विरोध

4.3.11.5 व्यक्ति की धार्मिक स्वतंत्रत

4.3.12 सारांश

4.3.13 अभ्यास / बोधात्मक प्रश्न

4.3.13 .1 दीर्घ उतरीय प्रश्न

4.3.13 .2 लघु उत्तरीय प्रश्न

4.3.13.3 बहु विकल्पीय प्रश्न

4.3.13.4 बहु विकल्पीय प्रश्नों के उत्तर

4.3.14 कठिन शब्द

4.3.15 संदर्भ ग्रन्थ सूची

4.3.1 उद्देश्य कथन

इस अध्याय को पढ़ने के बाद आप-

- जॉन लॉक के जीवन परिचय को जॉन जायेंगे।
- लॉक की रचनाओ और के बारे मे जॉन जायेंगे।
- लॉक के सामाजिक समझौते सिद्धांत का महत्त्व समझ सकेंगे।
- हॉब्स तथा लॉक के समझौते सिद्धांत की तुलना जॉन जायेंगे।
- लॉक के अन्य राजनीति सम्बन्धी सिद्धांतो को जॉन सकेंगे।

4.3.2 प्रस्तावना

राजनीतिक दर्शन के इतिहास में जॉन लॉक का नाम विशेष रूप से और सम्मान के साथ लिया जाता है। शास्त्रीय ज्ञान की दृष्टि से हॉब्स श्रेष्ठ था ,लेकिन राजनीतिक प्रभाव की दृष्टि से लॉक का अधिक महत्व था । पश्चिमी यूरोप और अमेरिका की आधुनिक सवैधानिक सांस्कृतिक विचार धारा में उसका योगदान अतुलनीय है ।राजसत्ता सहमति पर ही आधारित रह सकती है, ऐसी घोषणा करके उसने दण्डवाद, साम्राज्यवाद,और निरंकुश शासन का पुरजोर विरोध किया।

संक्षेप में , जॉन लॉक उदारवाद, जनतंत्र, नागरिको के मौलिक अधिकारों का प्रभावशाली प्रवक्ता है । इस इकाई में हम लॉक के सभी रचनाओं अध्ययन पद्धति,समझौता सिद्धांत,राज्य की विशेषताए,शासन सम्बन्धी विचार,संपत्ति सम्बन्धी विचार ,क्रांति सम्बन्धी विचार, व्यक्तिवाद आदि विचारो का विस्तार से अध्ययन करेंगे।

4.3.3 जॉन लॉक का जीवन परिचय

लॉक का जन्म सन 1632 में सामरसेट शायर के रिंगटन नामक स्थान में हुआ था। उसके पिता एक वकील थे ।जब लॉक की उम्र 12 वर्ष की थी ,तब इंग्लैंड में गृहयुद्ध शुरू हो गया था। उसके पिता सन 1642 में पार्लियामेंट की ओर से लड़ने वाली सेना में भर्ती हो गए और स्वयंसेवकों की एक कंपनी के कप्तान बने ।जॉन लॉक ने लिखा है कि जब मुझे कुछ समझने का होश आया तो मैंने अपने को तूफान में पाया ।लॉक की प्रारंभिक शिक्षा घर पर हुई बाद में उसे वेस्टमिनस्टर के पब्लिक स्कूल में भेजा गया ।सन

1652 ईस्वी में उसने ऑक्सफोर्ड के क्राइस्टचर्च कॉलेज में प्रवेश कियाजहां से उसने 1656 में बी.ए. तथा 1658 में 26 वर्ष की उम्र में एम.ए.की डिग्री प्राप्त की ।ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से एम.ए. करने के बाद वह वही यूनानी भाषा, काव्यशास्त्र और दर्शन का अध्यापक नियुक्त किया गया परंतु इस कार्य में उसका मन नहीं लगा और उसने बिशप के रूप में चर्च में प्रवेश पाने का प्रयास किया ।लेकिन चर्च के कठोर नियमों का पालन करना उसकी क्षमता से बाहर था । उसने सन 1660 के बाद ऑक्सफोर्ड के प्रसिद्ध चिकित्सक डेविड टामस से चिकित्साशास्त्र का अध्ययन प्रारंभ किया और शीघ्र ही वह एक कुशल डाक्टर बन गया ।

सन 1666 में एक ऐसी घटना घटी जिसने लॉक के भविष्य को एक नया मोड़ दिया ।उस समय के एक सुप्रसिद्ध राजनीतिज्ञ और ह्विग दल के संस्थापक लार्ड एश्ली जो बाद में अर्ल आफ शेफ्ट्सबरी के नाम से पुकारे गए,जो इलाज के लिए डाक्टर टामस के पास आक्सफोर्ड आये।डाक्टर टामस ने लॉक का परिचय एश्ली से करवाया । वो लॉक से इतने प्रभावित हुए उन्होंने लॉक को लन्दन आकर उसे उनका निजी डाक्टर बनने को कहा ।लॉक 1667 में लार्ड एश्ली के निजी डाक्टर तथा निजी सचिव के रूप में कार्य प्रारंभ किया और 15 वर्षों तक इस पद पर कार्य करता रहा।लार्ड एश्ली पार्लियामेंट की ओर से राजा के विरुद्ध लड़ने वाली सेनाओं के फील्ड मार्शल, संसद के अधिकारों के प्रबल समर्थक और उदारवाद के परम भक्त राजनीतिज्ञ थे ।उनके संपर्क में रहने से लॉक को ब्रिटिश राजनीति और राजनीतिज्ञों को निकट से देखने अवसर मिला ।1672 में **एश्ली लार्ड** चांसलर बने ताब लॉक को भी उनकी कृपा से महत्वपूर्ण शासकीय पद मिला । जब राजा एश्ली को चांसलर के पद से सन **1673** में अपदस्थ कर दिया तो लॉक को भी अपने पद से हाथ धोना पड़ा ।इन दिनों लॉक का स्वास्थ्य ठीक नहीं था वह अपने इलाज के लिए 1675 में फ्रांस चला गया और 4 वर्षों तक नहीं रहा। सन**1679** मेराजा ने को उसके पद पर प्रतिष्ठित कर दिया तब लॉक भी वापस इंग्लैंड आकर उसके साथ काम करने लगा , लेकिन **1681** में राजा पुनः एश्ली से नाराज हो गया । क्योंकि वह प्रोटेस्टेंट धर्मावलंबी व्यक्ति को राजगद्दी पर बिठाने के षड्यंत्र में संलग्न था ।उसे इंग्लैंड छोड़कर हॉलेंड भागना पड़ा । हालैंड में जब उसे आशंका हुई कि वहां की सरकार उसे पकड़कर ब्रिटिश सरकार को सौंप देगी ,तो वह वेश बदलकर और छिपकर की जाने के बाद भी इंग्लैंड में भयभीत रहने लगा अतः हालैंड चला गया।सन 1679 तक वहीं रहा ।तत्कालीन स्टूअर्ट वंशी राजा को गद्दी से उतारने तथा विलियम आफ ऑरेंज को को गद्दी पर बिठाने के षड्यंत्र में लॉक ने भी सक्रिय रूप से भाग लिया था ।1688 ईस्वी की क्रांति सफल होने पर भी उसी जहाज से इंग्लैंड लौटा जिस जहाज से विलियम की पत्नी मेरी इंग्लैण्ड आई । विलियम ने राजगद्दी पर बैठने पर लॉकको उसकी सेवाओं के पुरस्कार स्वरूप 'कमिश्नर आफ अपील्स' का पद दिया जिसे लॉक ने स्वीकार कर लिया । सन 1700 में स्वास्थ्य की दुर्बलता के कारण उसने इस पद से त्याग दे दिया ।1704 में उसका निधन हो गया।

4.3.4 जॉन लॉक की रचनाएं

जॉन लॉक की गणना इंग्लैंड के महान लेखको में की जाती है ।उसने राजनीतिशास्त्र ,अर्थशास्त्र धर्मशास्त्र ,शिक्षा,दर्शन, विज्ञान आदि विभिन्न विषयों पर 30 से भी अधिक ग्रंथ लिखे। राजनीति शास्त्र के संबंध में उसके महत्वपूर्ण ग्रंथ निम्नलिखित है-

- एक मनुष्य स्वभाव के संबंध में निबंध (एस्से कंसर्निंग ह्यूमन अंडरस्टैंडिंग,1690)
- शासन पर दो निबंध (टू ट्रीटीज ऑन गवर्नमेंट,1690)
- सहिष्णुता पर पहला पत्र (फर्स्ट लेटर ऑन टॉलरेशन,1689)

- सहिष्णुता पर दूसरा पत्र (सेकंड लेटर ऑन टॉलरेशन, 1690)
- सहिष्णुता पर तीसरा पत्र (थर्ड लेटर ऑन टॉलरेशन,1692)
- शिक्षा से संबंधित कतिपय विचार (सम थॉट्स कन्सर्निंग एजुकेशन,1693)
- कैरोलिना का मौलिक संविधान (द फंडामेंटल्स ऑफ कांस्टीच्युशन,1692)

इन सभी रचनाओं में से **शासन पर दो निबंध**लॉक की महत्वपूर्ण रचना है ।इस ग्रंथ के बारे में **प्रोफ़ेसर वाहन** ने लिखा है कि दोनों निबंध एक दुनाली बंदूक की तरह है जिसमे एक नली फिल्मर की ओर और दूसरी हॉब्स की ओर निशाना साधे हुए हैं ।पहले निबंध में फिल्मर द्वारा प्रतिपादित राजा के दैवी अधिकारों के सिद्धांतों का जोरदार खंडन किया गया है ।फिल्मर के अनुसार प्राचीनतम सम्राट कुलों के पिता थे।ईश्वर ने आदम को, अपनी संतति के ऊपर पूरा अधिकार दिया ।यह अधिकार पितृसत्तात्मक और राजतंत्रात्मक था ।राजतंत्रात्मक शासन

पितृसत्तात्मक होने के कारण स्वभाविक ईश्वर प्रदत्त है ।उसने यह भी बताया कि इंग्लैंड के स्टुअर्ट राजाओं के अधिकार वंशानुक्रम ढंग से,आदम से ही निःसृत है। राजाओं को देवी अधिकारवाद और पितृसत्तात्मक अधिकारवाद का इस प्रकार फिल्मर ने समर्थन किया था। दूसरे निबंध में लेवियाथन में हॉब्स द्वारा प्रतिपादित निरंकुशतावाद का विरोध किया गया है ।वस्तुतः लॉक के ग्रंथ का उद्देश निरंकुशतावाद के आधारों का खंडन करना था और यह सिद्ध करना था कि 1688 की रक्तहीन क्रांति से राजा विलियम को प्राप्त राज्यसत्ता जनता की सहमति पर आधारित थी ।लॉक का द्वितीय निबंध राजनीतिक चिंतन की दृष्टि से बहुत उपयोगी है क्योंकि उसमें उन्होंने सरकार के मूल प्रश्नों को उठाया तथा राजसत्ता और कानून के औचित्य को सिद्ध किया है और बतलाया है कि राज्य की आज्ञा को मानना क्यों आवश्यक है ।लॉक का द्वितीय निबंध राजनीति चिंतन की दृष्टि से बहुत उपयोगी है क्योंकि उसमे उन्होंने सरकार के मूल प्रश्नों को उठाया है तथा राजसत्ता व कानून के औचित्य को सिद्ध किया है और यह बतलाया है कि राज्य की आज्ञा को मानना क्यों आवश्यक है ?

लॉक की इस पुस्तक का प्रकाशन यद्यपि 1690 में हुआ, लेकिन कैंब्रिज विश्वविद्यालय के प्रोफेसर पीटर लास्लेट ने अपने नवीन अनुसंधान से यह सिद्ध किया कि यह संपूर्ण रचना 1683 से पहले ही तैयार हो गई ।लॉक ने इसे 7 वर्ष पश्चात ग्रंथ लेखक का नाम ना देते हुए इसलिए प्रकाशित किया कि उसे यह भय था कि स्टुअर्ट शासक पुनः सत्तारूढ़ हो गए तो लेखक को दंड भोगना पड़ेगा ।उसके जीवन काल में ही 1690,1694 और 1698 में इस ग्रन्थ के तीन संस्करण प्रकाशित हुए, यद्यपि इन तीनों में ही अशुद्धियां थी। उसके निधन के बाद ही उसके द्वारा संशोधित तिथि के आधार पर इस ग्रंथ का शुद्ध संस्करण प्रकाशित हुआ।ह इस ग्रंथ के प्रकाशन में लॉक ने लिखा है कि यह पुस्तक विलियम ऑफ़ आरेंज के सिंहासनरूढ़ होने का औचित्य सिद्ध करने का प्रयास है।

4.3.5 लॉक के चिंतन को प्रभावित करने वाले तत्व एवं परिस्थितियां

4.3.5.1 राजनीतिक अस्थिरता

लॉक का समय राजनीतिक दृष्टि से उथल-पुथल का समय था ।वह उस समय की परिस्थितियों घटनाओं और विचारों से प्रभावित हुआ । वह 1688 की गौरवपूर्ण क्रांति की घटना से प्रभावित हुआ ।नवंबर 1688 में राजकुमार विलियम तथा रानी मेरी का इंग्लैंड में स्वागत किया गया और दिसंबर में जेम्स द्वितीय वहां से भागकर फ्रांस की शरण ली ।इस प्रकार रक्तहीन क्रांति पूरी हो गई और **बिल ऑफ राइट्स**

राजसत्ता का नया अधिकार पत्र पार्लियामेंट द्वारा 1689 में पारित कर दिया गया इस अधिकार पत्र के आधार पर राज्य की संप्रभुता पार्लियामेंट में पारित कर दिया गया। इस अधिकार पत्र के आधार पर राज्य की संप्रभुता पार्लियामेंट में निहित मान ली गई और राजा को उसके अधीन करके उसके उत्तराधिकार के नियमों का निर्धारण किया गया।वित्त और सेना को संसद के अधीन करके उसके वार्षिक अधिवेशन को अनिवार्य बना दिया गया जिससे भविष्य में कोई भी राजा उसकी अवहेलना नहीं कर सके।

4.3.5.2 हूकर का दर्शन

हूकर के दर्शन से लॉक बहुत प्रभावित हुआ । हूकर का कहना था कि सरकार सामाजिक हित की प्रतिनिधि है और इसलिए व समुदाय के प्रति उत्तरदायी है। लॉक द्वारा प्रतिपादित सहमति की अवधारणा का आधार हूकर का विचार दर्शन ही है।

4.3.5.3 हॉब्स का व्यक्तिवादी विचार

हॉब्स के व्यक्तिवादी विचारों ने भी लॉक को प्रभावित किया है।कोई भी अंग्रेज बिना व्यक्तिगत हित की भावना के सामाजिक हित को मान्य नहीं करता।समाज के व्यक्तियों के समूह के रूप में स्वीकार करते हैं और सामाजिक हित को व्यक्तिगत हितों का संग्रह।राज्य की रचना हॉब्सके दर्शन में व्यक्तिगत हित के लिए की गयी । इस व्यक्तिगत हित के प्रलोभन का संचरण शायद लॉक भी नहीं कर सकता था ,विशेषकर ऐसे युग में जब व्यक्ति की उपेक्षा समाज कर नहीं सकता था और कोई भी सिद्धांत लोगों की दृष्टि तब तक माने नहीं होता था जब तक व्यक्ति उसमें अपना निजी हित देख लेता था।लॉक के सिद्धांत को इसलिए कुछ लोग हूकर और हॉब्स के दर्शन का योग मानते हैं।

4.3.6 जॉन लॉक की अध्ययन पद्धति

जहां हॉब्सकी पद्धति दार्शनिक, तार्किक एवं चिंतनात्मक है ,वहां लॉक की पद्धति अनुभववादी और विवेकवादी है।वह मानता था कि अनुभव ज्ञान का स्रोत है।अनुभव के बिना ज्ञान की कल्पना नहीं की जा सकती।लॉक के अनुसार मनुष्य के मस्तिष्क में जन्मजात कोई विचार नहीं होता।जन्म के समय मनुष्य का मस्तिष्क कोरे कागज की तरह होता है ,जो भी विचार मनुष्य के मस्तिष्क में उठते हैं, अनुभव धारा ही उत्पन्न होते हैं। सभी विचारों की उत्पत्ति दो स्रोतों से होती है-

संवेदना से और प्रत्यक्ष बोध से

इन स्रोतों द्वारा प्राप्त अनुभव मनुष्य के मस्तिष्क में प्रवेश करता है तो बुद्धि द्वारा उसका विश्लेषण किया जाता है। इसके फलस्वरूप जटिल विचारों की उत्पत्ति होती है।यह जटिल विचार स्वयं ज्ञान नहीं ,बल्कि ज्ञान के साधन होते हैं।ज्ञान तब उत्पन्न होता है जबकि बुद्धि अपने विचारो की परस्पर तुलना करती है।इस सिद्धांत के द्वारा लॉक ज्ञान की उत्पत्ति के विवेक मूलक तत्व का प्रतिपादन करता है।चूँकि विचारों के द्वारा ज्ञान होता है और सभी विचारों की उत्पत्ति अनुभव से होती है ,इसलिए अनुभव से परे किसी ज्ञान की कल्पना नहीं की जा सकती।इसी विचार के कारण लॉक को **अनुभववाद का प्रतिपादक** कहा जाता है।लॉक के अनुभववादी पद्धति में तीन मुख्य बातें हैं –

प्रथम ज्ञान की उत्पत्ति का एकमात्र स्रोत अनुभव है।

द्वितीयज्ञान विवेक मुलक होता है क्योंकि वास्तविक ज्ञान तभी प्राप्त होता है जबकि बुद्धि विचारों में पारस्परिक संबंधों की स्थापना करती है।

तृतीय मनुष्य के ज्ञान का क्षेत्र उसके अज्ञान के क्षेत्र से बहुत छोटा होता है।लॉक के अनुसार मनुष्य एक ससीम प्राणी है जो इस अनंत ,असीम ब्रह्मांड की सभी बातों को जॉन नही सकता है।

लॉक ने इस अनुभववादी एवं विवेकमूलक पद्धति को अपनाकर राज्य की उत्पत्ति, राज्य के स्वरूप एवं शासन संबंधी सिद्धांतों की विवेचना की है।

4.3.7 जॉन लॉक का सामाजिक समझौता सिद्धांत

सामाजिक समझौता सिद्धांत को वैज्ञानिक ढंग से प्रतिपादित करने वाले दार्शनिकों में हॉब्स और रूसो के साथ-साथ लॉक का नाम उल्लेखनीय है ।लॉक के सामाजिक समझौते का सारांश है कि निरंकुश राजतंत्र के स्थान पर वैधानिक राजतंत्र की स्थापना और पार्लियामेंट की अंतिम सत्ता को स्वीकार करना नितांत न्यायसंगत था । लॉक के समझौता संबंधी विचार हॉब्सके विचारों से मेल नहीं खाते। उसके समझौता संबंधी विचारों की व्याख्या निम्न है-

4.3.7.1 मानव स्वभाव की धारणा

हॉब्स की भांति लॉक ने भी मानव स्वभाव की व्याख्या की है लेकिन हॉब्सने मनुष्य में केवल पाश्विक प्रवृत्तियों को देखा जबकि लॉक ने उसके मानवीय गुणों पर बल दिया ।लॉक के अनुसार मनुष्य की प्रमुख विशेषता बुद्धिमान तथा विचारवान प्राणी होना है ।वह अपनी विवेकबुद्धि से एक नैतिक व्यवस्था की सत्ता स्वीकार करता है और इसके अनुसार कार्य करना अपना कर्तव्य समझता है ।उसके अनुसार मनुष्य स्वभाव से ही एक सामाजिक प्राणी है जो पारस्परिक सहयोग ,प्रेम, दया और सद्भावना के आधार पर दूसरे व्यक्तियों के साथ संबंध रखते हुए अपना जीवन व्यतीत करता है ।लॉक का मनुष्य एक नैतिक प्राणी है और कर्तव्य की पुकार सुनता है, वह परोपकारी भी है और शांतिप्रिय भी है ।

4.3.7.2 प्राकृतिक अवस्था

लॉकका मनुष्य स्वभावतः परोपकारी, दयालु ,सहयोगी और समाजप्रिय है तथा उसी के अनुसार उसने प्राकृतिक अवस्था की भी कल्पना की है जिसमें मनुष्य परस्परिक युद्ध की अवस्था में ना रहकर पारस्परिक सहयोग की अवस्था में रहते हैं ।

लॉककी प्राकृतिक अवस्था की कई विशेषताएं हैं –

- प्राकृतिक अवस्था में सभी मनुष्य समान है क्योंकि सभी सृष्टि के एक ही स्तर पर और सब एक ही सर्वशक्तिमान और अनंत बुद्धि-संपन्न सृष्टा की कृतियां है।
- प्राकृतिक अवस्था शांति एवं पारस्परिक सद्भावना पर आधारित होने के कारण सभी व्यक्ति सामान व स्वतंत्र माने जाते हैं ,कोई किसी को हानि पहुंचाने का प्रयास नहीं करता ,सब समान रूप से प्राकृतिक समाज के लाभो को प्राप्त करते हैं और कोई किसी के अधीन नहीं होता ।
- प्राकृतिक अवस्था में लोग पूर्णतः स्वतंत्र होते हैं, लेकिन यह स्वतंत्रता स्वच्छंदता या से स्वेच्छाचारिता नहीं है क्योंकि प्राकृतिक अवस्था का नियंत्रण प्राकृतिक नियमों के द्वारा होता है ।बुद्धि पर आधारित नैतिक नियम ही प्राकृतिक नियम है ।जैसे दूसरे की हत्या करना प्राकृतिक नियमों के प्रतिकूल है क्योंकि इसका ज्ञान हमें इस प्रकार के तर्क से होता है, जैसे व्यक्ति अपने जीवन को नष्ट करने का अधिकार नहीं रखता वैसे ही वह दूसरों के जीवन को भी नष्ट नहीं कर सकता ।वह जो व्यवहार अपने लिए नहीं चाहता वैसा व्यवहार दूसरों के साथ भी नहीं करना चाहिए ।

लॉक के मतानुसार प्राकृतिक अवस्था में तीन प्रकार के अधिकार प्राप्त थे –

1.जीवन का अधिकार

लॉक के अनुसार आत्मसंरक्षण मनुष्य की सबसे प्रबल आकांक्षा है और उसकी सब क्रियाओं का प्रधान प्रेरक तत्व है।इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए किए जाने वाले बुद्धि संगत कार्य मनुष्य के विशेषाधिकार है ।अर्थात लॉक के अनुसार अपना जीवन सबको प्यारा है और उसको सुरक्षित रखना सब का प्राकृतिक अधिकार है।

2.स्वतंत्रता का अधिकार

लॉक के अनुसार स्वतंत्र का अर्थ स्वेच्छाचारिता नहीं है ।लॉक के शब्दों में अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करना तथा किसी की इच्छा के अनुसार कार्य करने को बाध्य न होना प्राकृतिक अवस्था की स्वतंत्रता है ।जबकि प्राकृतिक नियमों के द्वारा स्थापित व्यवस्था के अनुसार कार्य करना ही सफलता है ।अतः प्रत्येक व्यक्ति को नैतिक सीमाओं में रहते हुए अपनी स्वतंत्रता के उपभोग करने का प्राकृतिक अधिकार प्राप्त है।

3.संपत्ति का अधिकार

लॉक के अनुसार संपत्ति का अधिकार एक महत्वपूर्ण अधिकार है। इसमें जीवन और स्वतंत्रता के अधिकार भी सम्मिलित है ।लॉक के अनुसार जिस चीज को मनुष्य ने अपनी शारीरिक श्रम द्वारा प्राप्त किया उस पर उसका प्राकृतिक अधिकार है। उसने बताया कि ईश्वर ने भूमि और उसकी सभी वस्तुएं सब व्यक्तियों को सामूहिक रुप से प्रदान की है ।व्यक्ति का शरीर ही उसके पास ऐसी संपत्ति है जिस पर उसका एकमात्र अधिकार होता है ।जब व्यक्ति अपने शारीरिक श्रम को ईश्वर प्रदत्त सामूहिक वस्तुओं के साथ मिश्रित करता है तो वह उन्हें अपनी व्यक्तिगत संपत्ति बना देता है।लॉक के अनुसार श्रम के माध्यम से व्यक्तिगत संपत्ति का निर्माण होता है ।उसके अनुसार व्यक्ति का संपत्ति संबंधी अधिकार आदिम समाज से , जिसे उसने प्राकृतिक अवस्था कहा है, उसके पहले का है।

4.3.7.3 प्राकृतिक अवस्था की असुविधाएं

यद्यपि लॉक की प्राकृतिक अवस्था इस विवेक जनित प्राकृतिक नियम पर आधारित है कि,"तुम दूसरों के प्रति वही बर्ताव करो जिसकी तुम दूसरों के प्रति आशा करते हो।" यह प्राकृतिक अवस्था स्वर्ण युग की अवस्था है क्योंकि यह अवस्था पारस्परिक संघर्ष की अवस्था नहीं थी, इसमें शांति और विवेक का आधिक्य था।

प्राकृतिक अवस्था की स्वर्णिम चित्रण के बावजूद लॉक के अनुसार उसमें तीन कठिनाइयां थी:**प्रथम** प्राकृतिक अवस्था की एक कठिनाई यह कि उसमें ऐसी कोई निश्चित, प्रकट एवं सर्वसम्मत विधि नहीं होती, जिसके द्वारा उचित तथा अनुचित तथा मतभेदों का निर्णय हो सके।

द्वितीय कठिनाई यह है कि प्राकृतिक नियम या विधान को तथा इसके अनुरूप निर्णयों को क्रियान्वित करने के लिए प्राकृतिक दशा में कोई साधन या संस्था नहीं होती।

तृतीयकठिनाई यह है कि इसमें सब व्यक्तियों को न्याय करने और दण्ड देने का अधिकार होता है ,अर्थात दंड देने वाली कोई निष्पक्ष संस्थानहीं होती।

इन तीनों असुविधाओं को दूर करने की दृष्टि से मनुष्यो ने एक सामाजिक समझौता किया ।समझौते द्वारा राज्य का निर्माण किया।लॉक अनुसार राजसत्ता की स्थापना मनुष्यों के पारस्परिक भय से छुटकारा पाने के उद्देश्य नहीं बल्कि प्राकृतिक अवस्था में रहने की कुछ कठिनाइयों के निवारण के उद्देश्य होती है।

4.3.7.4 सामाजिक समझौते द्वारा राज्य की उत्पत्ति

प्राकृतिक अवस्था के इन असुविधाओं को दूर करने के लिए लॉक के मतानुसार मनुष्य ने एक समझौता किया।सब मनुष्यों के समान होने के कारण यह समाज के सब मनुष्यों के साथ किया जाने वाला अनुबंध

था,इसलिए इसे सामाजिक अनुबंध कहते हैं ।इसमें सभी व्यक्तियों ने भाग लिया था । इसमें प्रत्येक व्यक्ति ने केवल प्राकृतिक कानून को लागू करने का तथा उसका उल्लंघन के लिए दण्ड देने का अधिकार सारे समाज को अर्पित कर दिया था शेष सभी प्राकृतिक अधिकार व्यक्ति के जो प्राकृतिक अवस्था में थे वह उसे प्रदान नहीं किए।इस तरह जो शक्ति समाज को प्रदान की गई वह सीमित थी ।इस संविदा से **सिविल समाज**उत्पन्न हुआ और यह प्राथमिक संविदा थी ।इसके उपरांत एक दूसरी गौणसंविदा के माध्यम से शासन की स्थापना की गयी ।शासन की स्थापना एक साधन के रूप में की गई जिससे राजनीतिक समाज के उद्देश्यों की पूर्ति हो सके। मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों को कानूनी रूप देने के लिए तथा इन कानूनों को दण्ड व भय से कार्यान्वित करने के लिए शासन स्थापित किया गया ।लॉककी समझौते की व्याख्या करते डा. अशिर्वादम ने लिखा है , "लॉक ने जिन दो संविदाओं की चर्चा की है उनमे से पहली द्वारा नागरिक समाज की तथा दूसरी द्वारा सरकार की स्थापना होती है ,अर्थात पहली संविदा जनता के बीच हुई थी और दूसरी एक ओर समूची जनता तथा दूसरी ओर शासक के बीच हुई ।पहले समझौते द्वारा समाज को जो अधिकार व्यक्तियों द्वारा व्यक्तियों ने सौंपे,वे समाज द्वारा सरकार को प्रदान कर दिए जाते हैं । सरकारी समझौते में चूँकि सरकार भी एक पक्ष होती है ,अतः उसके ऊपर समाज द्वारा कुछ शर्त लगा दी जाती है जिनका पालन यदि सरकार नहीं करती तो उसे समाप्त कर नई सरकार का निर्माण किया जा सकता है ।इस प्रकारलॉक ने एक सीमित व उत्तरदाई सरकार की कल्पना की है ।

4.3.7.5 लॉक के सामाजिक समझौते की विशेषताएं

प्राकृतिक अवस्था में विद्यमान विभिन्न असुविधाओं को दूर करने के लिए लॉक के अनुसार व्यक्तियों ने मिलकर एक समझौता किया ।यह समझौता समाज के सभी व्यक्तियों ने मिलकर सब व्यक्तियों के साथ किया जिससे समाज और राज्य की उत्पत्ति हुई। इस समझौते का उद्देश्य मानव के जीवन , स्वतंत्रता और संपत्ति की आंतरिक और वाह्य संकटों से रक्षा करना था ।इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु व्यक्ति के द्वारा जिन प्राकृतिक अधिकारों का परित्याग किया गया, वे थे- स्वयं के द्वारा प्राकृतिक कानून का अर्थ करने , उसे व्यवहार में लाने और उसके उल्लंघनकर्ता को दंड देने का अधिकार ।

लॉकद्वारा प्रतिपादित समझौते से निम्न विशेषताएं दृष्टिगोचर होती है –

- इस समझौते द्वारा व्यक्ति हॉब्स की तरह अपने सभी अधिकारों का त्याग नहीं करते । वे केवल प्राकृतिक कानून की व्याख्या करने , उसे कार्यान्वित तथा भंग करने वाले को दण्ड देने का अधिकार का ही परित्याग करते हैं । अन्य जीवन , स्वतंत्रता और संपत्ति के अधिकार अपने पास सुरक्षित रखते हैं और उनके द्वारा राजनीतिक नियंत्रण को सीमित करते हैं ।
- व्यक्ति अपने अधिकार " **लेवियाथन** " जैसे किसी महादैत्य को समर्पित नहीं करते हैं , बल्कि समष्टि रूप से सम्पूर्ण समुदाय को समर्पित करते है ।
- लॉक द्वारा प्रतिपादित समझौते के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले समाज और राज्यहॉब्स के लेवियाथन जैसा असीम अधिकारसंपन्न , सर्व-शक्तिशाली तथा संपूर्ण प्रभुतासंपन्न नहीं है, बल्कि वह दोहरे नियंत्रण से युक्त है। पहला नियंत्रण तो व्यक्ति का जीवन , स्वतंत्रता और संपत्ति के अदेय अधिकार है और दूसरा नियंत्रण प्राकृतिक नियम है, जिनसे स्वयं राज्य भी बंधा हुआ है ।इस ओर संकेत करते हुए लॉक स्वयं कहता है कि , "प्राकृतिक नियम के बन्धनों का राजनीतिक समाज में अंत नहीं होता है ।" अतः लॉक का समाज हॉब्स के समाज के समान असीमित और अमर्यादित अधिकार और सत्ता से संपन्न नही है।अगर वह अपने अधिकारों

और प्राकृतिक नियमों का अतिक्रमण करके अपने कर्तव्यो से विमुख होता है तो ऐसी स्थिति में जनता उसके विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार रखती है। अतः लॉक का समाज "दासता का पट्टा नहीं बल्कि सत्ता का घोषणा-पत्र है।

- यह एक सर्वसम्मत समझौता है जो जन-इच्छा और सहमति पर आधारित है।कोई भी बिना सहमति इस नये समाज में प्रवेश नहीं कर सकता क्योंकि लॉक की यह मान्यता है कि "सहमति ही विश्व में प्रत्येक वैध सरकार का निर्माण करती है।"
- लॉकका यह समझौता एक बार संपन्न होने पर रद्द नही हो सकता। लेकिन यह उसी तरह से बाद की पीढ़ियों पर लागू नहीं माना जा सकता , जिस तरह से यह इसे संपन्न करने वालो पर लागू होता है। बाद की पीढ़ियों की समझौते के प्रति स्वीकृति जॉनने के लिए लॉक यह सुझाव देता है कि अगर बाद की पीढ़ियाँ समझौते द्वारा स्थापित व्यवस्था को स्वीकार करती है तो इसे उनकी स्वीकृति समझी जानी चाहिए।
- लॉक का समाज सर्वसम्मति से निर्मित समाज है। सर्वसम्मति का यह सिद्धांत बहुमत के शासन के सिद्धांत को जन्म देता है क्योंकि हर प्रश्न पर सर्वसम्मति प्राप्त करना व्यवहारिक नहीं है।अतः उसके सम्बन्ध में ही निर्णय बहुमत के माध्यम से ही किया जा सकता है।इसलिए अल्पमत को बहुमत का निर्णय स्वीकार करना चाहिए क्योंकि यह सामाजिक व्यवस्था के संचालन और सामूहिक कार्यो को संभव बनाने के लिए अत्यंत आवश्यक है। बहुमत की इच्छा के अधीन होना सामाजिक समझौते की एक अनिवार्य शर्त है और इसलिए व्यक्तियों को अपना कर्तव्य समझ कर राज्य के निर्णयों को कार्यान्वित करने के लिए पूरी शक्ति के साथ सहयोग प्रदान करना चाहिए।

4.3.7.6 लॉक के सामाजिक समझौते की आलोचना

लॉक के सामाजिक समझौते सिद्धांत की निम्न आलोचना की जाती है –

लॉक ने बार बार मूल समझौता शब्द का प्रयोग किया है ,लेकिन उसने कहीं भी स्पष्ट नहीं किया है कि मूल समझौते से उसका तात्पर्य क्या है ?

लॉक का समझौता सम्बन्धी विचार सुस्पष्ट एवं तर्कसंगत नहीं है। उसके समझौता सम्बन्धी विचारो से कुछ विचारको ने यह निष्कर्ष निकाला है कि समझौते दो हुए , जबकि बार्कर जैसे विद्वानों का मत है कि लॉक के अनुसार सिर्फ एक समझौता होता है।

लॉक समझौते का आधार सहमति को मानता है लेकिन इतिहास में कई ऐसे राज्यों का भी उल्लेख मिलता है जो बल व शक्ति के आधार पर बने और नष्ट हुए।

लॉक ने एक ओर समझौते को सर्वसम्मति से सम्पन्न कराया है , लेकिन दूसरी ओर बहुमत के शासन सिद्धांत का समर्थन करता है।लॉक के स्वयं के विचारो में विरोधाभास पाया जाता है।

लॉक ने प्राकृतिक अवस्था में जीवन,स्वतंत्रता और सम्पत्ति के अधिकारों के अस्तित्व की बात कही है। राजनीतिक समाज के निर्माण से पूर्व अधिकारों का अस्तित्व मात्र काल्पनिक है।

4.3.8 लॉक के राज्य की विशेषताएं

लॉकके अनुसार राज्य की उत्पत्ति सामाजिक समझौते द्वारा हुई है।प्राकृतिक जीवन की असुविधाओं और कठिनाइयों को दूर करने के लिए सामाजिक समझौते के माध्यम से राज्य का निर्माण किया गया।

प्राकृतिक अवस्था की तीन बड़ी कमियां थी -प्राकृतिक कानून अस्पष्ट थे, निष्पक्ष न्यायाधीश तथा कानूनो के क्रियान्वयन करने वाली संस्था का अभाव था।इन अभावों की पूर्ति करके व्यक्ति के जीवन

,स्वतंत्रता और संपत्ति के अधिकारों को सुरक्षित बनाना ही राज्य का प्रधान लक्ष्य है। अतः लॉक के अनुसार समझौते द्वारा निर्मित राज्य तीन कार्य करता है-

- वह प्राकृतिक कानून की व्याख्या द्वारा व्यक्ति के अधिकारों को सुरक्षित करता है।
- कानून को लागू करते हुए वह शासन का संचालन करता है।
- राज्य का कार्य विधायिका द्वारा बनाए गए कानूनों का उल्लंघन करने वाले अपराधियों को दंड देना है।यह कार्य न्याय विभाग और न्यायाधीशों द्वारा होता है।

लॉक ने सामाजिक समझौते के आधार पर जिस राज्य की स्थापना की है उसके द्वारा अपने ग्रंथो में राज्य पर जो विचार व्यक्त किये है उनके आधार पर उसके राज्य की विशेषताओं को निम्न बिन्दुओं द्वारा किया जा सकता है –

4.3.8.1 राज्य सहमति पर आधारित

लॉक का राज्य जन सहमति पर आधारित है ।लॉक ने समझौतों में केवल उन्ही व्यक्तियों को शामिल किया है जो समुदाय या राज्य निर्माण के सम्बन्ध में सहमत है। जो व्यक्ति राज्य में रहना नहीं चाहते वे अपनी प्राकृतिक अवस्था में पूर्ववत बने रहते हैं। इस तरह यह स्पष्ट है कि जो लोग समझौते में शामिल होते हैं वे सर्वसम्मति से राज्य का निर्माण करते हैं।

4.3.8.2 राज्य जन कल्याण का एक साधन

लॉक की विचारधारा के अंतर्गत व्यक्ति को साध्य और राज्य को मात्र साधन की स्थिति प्रदान की गई है । राज्य व्यक्ति के लिए है,व्यक्ति राज्य के लिए नहीं। वह बार-बार इस बात पर बल देता है कि शासन का लक्ष्य समुदाय की भलाई करना है ।राज्य रुपी यंत्र का निर्माण उसके नागरिकों की भलाई के लिए हुआ है। आदर्शवादी विचारको की तरह लॉक राज्य को किसी प्रकार की रहस्यात्मक श्रेष्ठता प्रदान नहीं करता, वह तो व्यक्ति के जीवन ,स्वतंत्रता और संपत्ति की रक्षा का एक साधन मात्र है।

4.3.8.3 सीमित और मर्यादित राज्य

लॉक का राज्य सीमित और मर्यादित है न कि निरंकुश ।लॉक का राज्य निरंकुश नहीं हो सकता क्योंकि उस पर बहुत सी सीमायें हैं। पहली सीमा तो यह है कि राज्य अपनी सत्ता जनता से ग्रहण करता और दूसरी यह कि राज्य को यह सत्ता या अधिकार न्यास के रूप कुछ विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए दिया जाता है ।उसके अनुसार,"मनुष्यों द्वारा राज्य के निर्माण का उद्देश्य संपत्ति का संरक्षण है ।" अतः राज्य कभी भी नागरिकों की संपत्ति का अपहरण नहीं कर सकता एवं कभी भी ऐसा कोई कार्य नहीं कर सकता जो इस मूल उद्देश्य के प्रतिकूल हो। राज्य तो उद्देश्यरुपी न्यास का संरक्षक है। ट्रस्ट और ट्रस्टी में यह भाव निहित है कि सरकार की शक्तियां सीमित है और यदि सरकार ट्रस्ट की सीमाओं का उल्लन्घन करती हो तो समाज को अधिकार है कि वह सरकार को भंग कर दे।

4.3.8.4 वैधानिक राज्य

लॉक वैधानिक राज्य की अवधारणा का प्रतिपादन करता है जिसके अंतर्गत 'विधि का शासन' को अपनाया गया है,मनमाने शासन को नहीं।लॉक की मान्यता है कि जहां मनुष्य अनिश्चित, अज्ञात एवं स्वेच्छाचारी के अधीन रहते हैं, वहां उन्हें राजनीतिक सत्ता प्राप्त नहीं हो सकती है। अतः शासन का संचालन उद्घघोषित ,ज्ञात एवं स्थायी कानूनों द्वारा होना चाहिए।

4.3.8.5 सहिष्णु राज्य

सहिष्णु राज्य लॉक के राज्य की एक अन्य विशेषता सहिष्णुता है ।उसका राज्य एक धर्म सहिष्णु राज्य है जो धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करता ।वह विभिन्न मतों का आदर करता है ।उसके अनुसार धार्मिक विश्वास व्यक्ति की अंतरात्मा का विषय है और नागरिक सत्ता का संबंध सिर्फ बाहरी बातों से है ,अंतरात्मा से नहीं ।

लॉक की मान्यता है कि राज्य में विभिन्न धर्मावलंबियों के रहने से उसकी एकता नष्ट नहीं होती ।राज्य की एकता तो तब खतरे में पड़ जाती जब राज्य द्वारा बलपूर्वक जन समुदाय पर धार्मिक एकरूपता लाने का प्रयास किया जाता है ।

यद्यपि लॉक धार्मिक सहिष्णुता का प्रबल समर्थक है फिर भी उसके अनुसार दो अपवाद है,**प्रथम,** राज्य को किसी ऐसे धार्मिक संप्रदाय के विरुद्ध बल प्रयोग का अधिकार है जिसकी गतिविधियां अव्यवस्था पैदा करती है। द्वितीय, राज्य कैथोलिक, मुसलमानों तथा नास्तिको के प्रति सहिष्णु नहीं रहेगा। केथिलिको के प्रति लॉक की असहिष्णुता का कारण उसकी विदेशी राज्यों के प्रति निष्ठा है, मुसलमान उसके मत में ,ऐसे नैतिक नियम बनाते हैं जो अंग्रेजी सभ्यता के प्रतिकूल है और नास्तिको से वह इसलिए घृणा करता है कि वे ईश्वर की सत्ता कोई ही स्वीकार नहीं करते।

4.3.8.6 निषेधात्मक राज्य

लॉक के राजनीतिक दर्शन में राज्य के कार्य निषेधात्मक है ।राज्य केवल उन्ही असुविधाओं और कठिनाइयों को दूर करने की कोशिश करता है जो प्राकृतिक अवस्था में थी ।वो केवल सुरक्षा, व्यवस्था और न्याय के तीन कार्यकर सकता है इनके अतिरिक्त लोगों को शिक्षा देने, उनका स्वास्थ्य सुधारने,उन्हें सुसंस्कृत और और नैतिक बनाने का कार्य कोई राज्य नहीं कर सकता । वह नागरिकों की संपत्ति पर भी मनमाना कर नहीं लगा सकता क्योंकि संपत्ति की रक्षा के लिए ही राज्य की स्थापना हुई है ।

निषेधात्मक होने पर भी लॉकका राज्य एक परिवर्तक या परिवर्तन का वाहक है जो कि स्वार्थ को परमार्थ में बदलने का कार्य करता है। यद्यपि वह नागरिकों के चरित्र को नहीं बदलता फिर भी वह उन्हें उस प्रकार के आचरण को अपनाने की प्रेरणा देता है, जिस प्रकार के आचरण की अपेक्षा ईश्वर को मनुष्यों से रहती है ।

लॉक के राज्य संबंधी विचारों की विशेषताओं से राज्य के उदारवादी स्वरुप की झांकी मिलती है ।लॉक के राज्य उदारवादी है, वह जन कल्याण का एक साधन है,वह सीमित है क्योंकि वह जन सहमति पर आधारित है , वह जन-कल्याण का एक साधन है, वह वैधानिक, सहिष्णु और निषेधात्मक है।

4.3.9 लॉक के शासन या सरकार संबंधी विचार

लॉक के राजदर्शन में राज्य एवं सरकार के मध्य स्पष्ट अंतर किया गया है। उसे राज्य और सरकार को एक नहीं माना है ।उसके अनुसार सामाजिक समझौते से राज्य का निर्माण होता है न कि सरकार का ।

4.3.9.1 सरकार की स्थापना

लॉक के अनुसार सामाजिक समझौते के माध्यम से नागरिक समुदाय अथवा समाज की स्थापना हो जाने के बाद सरकार की स्थापना किसी समझौते द्वारा नहीं,बल्कि एक विश्वासजन्य न्यास द्वारा हुई ।

समाज तथा सरकार के पारस्परिक सम्बन्ध को सूचित करने के लिए लॉक ने संविदा के स्थान पर ट्रस्ट शब्द का प्रयोग इसलिए किया कि वह सरकार को समाज के अधीन रखना और ट्रस्ट की अवहेलना करने पर उसे हटाया जा सकता है ।लॉक के अनुसार राज्य एक समुदाय है जो लोगो के समझौते द्वारा संगठित

किया जाता है पर सरकार वह है जिसे यह समुदाय अपने कर्तव्यो को व्यवहारिक स्वरूप देने के लिए ट्रस्ट के रूप में निर्मित करता है ।ट्रस्ट की स्थापना समुदाय के द्वारा अपने हित के लिए की गयी है, अतः सरकार का यह कर्तव्य है कि वह ट्रस्ट के अनुसार कार्य करे । यदि सरकार ट्रस्ट की मर्यादाओं का उल्लंघन करती है तो समुदाय को अधिकार प्राप्त है कि वह सरकार को भंग कर दे ।

4.3.9.2 सरकार के कार्य

सरकार के कार्यों की चर्चा करते हुए लॉक ने कहा है कि, "मनुष्यों के राज्य में संगठित होने तथा अपने आपको सरकार के अधीन रखने का महान एवं मुख्य उद्देश अपनी संपत्ति की रक्षा करना है ।" यहाँ लॉक ने संपत्ति शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया है और उसकी संपत्ति की धारणा के अंतर्गत जीवन तथा स्वतंत्रता भी सम्मिलित है । प्रत्येक व्यक्ति के जीवन ,संपत्तितथा स्वतंत्रता की रक्षा करने के लिए सरकार को तीन कार्य करने होते हैं । उसका प्रथम कार्य मानव जीवन को व्यवस्थित रखने और समस्त विवादों का निर्णय करने के लिए

उचित-अनुचित, न्याय-अन्याय का मापदण्ड निर्धारित करना है अर्थात प्राकृतिक कानून की सर्वमान्य व्याख्याए प्रस्तुत करना है। यह कार्य सरकार के व्यवस्थापक अंग का है ।सरकार का दूसरा कार्य एक ऐसी निष्पक्ष शक्ति की स्थापना करना है जो कि स्थापित कानूनों के अनुसार व्यक्तियों के पारस्परिक विवादों पर निर्णय दे सके । इसे हम सरकार का न्यायिक कार्य कह सकते हैं । सरकार का तीसरा कार्य है दूसरे समाजो तथा दूसरे नागरिको से समाज तथा उसके नागरिकों के हितों की रक्षा करना । युद्ध की घोषणा , शांति स्थापित करना, दूसरे राज्यों से संधि करना व न्यायपालिका के निर्णयों को क्रियान्वित करना इसके अंतर्गत आते हैं। इन्हें के कार्यपालिका का कार्य कहा जा सकता है।

4.3.9.3 सरकार के अंग

लॉक ने प्राकृतिक अवस्था की तीन प्रमुख असुविधाओं –सुस्पष्ट नियम बनाने वाली , उन्हें पालन कराने वाली तथा नियमों का उल्लंघन करने वालों को निश्चित दण्ड देने वाली सत्ता के अभाव के आधार पर नागरिक समाज में सरकार के तीन प्रमुख अंग मांने हैं-

- विधायिका
- कार्यपालिका
- संघीय शक्ति

लॉक के अनुसार विधायिका सरकार का सर्वोच्च अंग है इसे। इसे राज्य के हित में विधि निर्माण की शक्ति होती है ।विधि के माध्यम से यह व्यक्तियों के प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा करती है जिन्हें उन लोगों ने समझौता अनुसार अपने पास रखे थे ।

लॉक के अनुसार सरकार का दूसरा अंग कार्यपालिका को माना गया है ।इसका प्रमुख कार्य विधायिका द्वारा निर्मित विधियों को लागू करना है । वह कार्यपालिका को विधि लागू करने के अतिरिक्त न्याय करने का भी अधिकार प्रदान करता है । वस्तुतः उसने न्यायपालिका को स्वतंत्र अस्तित्व न प्रदान कर कार्यपालिका का ही अंग माना है ।

4.3.9.4 शक्ति पृथक्करण

लॉकका कहना है कि इन तीनों कार्यो – विधायी, कार्यपालिका तथा न्यायिक - के संपादन के लिए पृथक पृथक गुणों और शक्तियों की आवश्यकता होती है ,इसलिए इन शक्तियों तथा कार्यों में पृथक्करण होना चाहिए ।उसने विधायकों तथा कार्यपालिका में स्पष्ट और अनिश्चित पृथकता स्वीकार की और कार्यपालिका को विधायका के अधीनस्थ बनाया ।उसने दोनों शक्तियों के एकीकरण के प्रति और

अस्वीकृति प्रकट करते हुए लिखा है कि,"जिन व्यक्तियों के हाथ में विधि निर्माण की शक्ति होती है उनमें विधियों को क्रियान्वित करने की शक्ति अपने हाथ में ले लेने की प्रबल इच्छा हो सकती है क्योंकि शक्ति हथियाने का प्रलोभन मनुष्य की एक महान दुर्बलता है।"

लॉकने यह भी कहा है कि कार्यपालिका का सत्र निरंतर चलना चाहिए ,लेकिन विधायिका के लिए ऐसी व्यवस्था का होना आवश्यक नहीं है। यद्यपि न्यायिक तथा कार्यपालकीय कार्यों में स्पष्ट भेद है फिर भी लॉक ये दोनों ही कार्य एक ही अंग को सौपने के लिए तैयार है क्योंकि ये दोनों अंग समाज की सशक्त शक्ति के आधार पर ही अपना कार्य कर सकते हैं।

4.3.9.5 सरकार के रूप

लॉक ने सरकार के रूपों का और उल्लेख संक्षेप में किया है ।वह सरकार के रूपों की अपेक्षा उन सिद्धांतों को अधिक महत्व देता है ,जिन पर सरकार आधारित हो ।उसके अनुसार सरकार का स्वरूप इस बात पर निर्भर है कि बहुमत या समुदाय अपनी शक्ति का किस प्रकार प्रयोग करना चाहता है।

वह सरकार के तीन विभिन्न रूपों का उल्लेख करता है ।यदि समाज विधायिका शक्ति अपने ही हाथों में रखता है और स्वयं द्वारा निर्मित कानूनों को क्रियान्वित करने के लिए ही कुछ अधिकारियों की नियुक्ति करता है तो वह सरकार जनतंत्रवादी है ।यदि समाज या बहुमत विधायी शक्ति को कुछ गिने-चुने लोगों एवं उनके उत्तराधिकारी को सौंप देता है तो वह सरकार वर्गतंत्री होता है और यदि व्यवस्थापन शक्ति के एक व्यक्ति को दी जाती है तो वह सरकार राजतंत्रात्मक कहलाती है।

लॉक सामान्यतया जनतंत्र का समर्थन करता है क्योंकि उसका विचार है कि जब इच्छा का सर्वाधिक श्रेष्ठ रूप में पालन जनतंत्र में ही संभव है ,परंतु वह कोई जनतंत्रवादी ही नहीं था, उसका विश्वास था कि संवैधानिक राजतंत्र से उसका आशय है राज्य के प्रधान के रूप में सीमित शक्तियों वाला सम्राट हो लेकिन विधायी और प्रशासनिक विषयों पर नियंत्रण की शक्ति जनप्रतिनिधियों को प्राप्त हो ।1688 की गौरवपूर्ण क्रांति द्वारा इंग्लैण्ड में लगभग ऐसी ही व्यवस्था स्थापित की गई थी।

4.3.10 लॉक का विद्रोह का अधिकार (क्रांति सम्बन्धी अधिकार)

लॉक ने अपने राजनीतिक दर्शन में जनता को क्रांति और विद्रोह का अधिकार प्रदान किया है। उसके अनुसार राज्य का निर्माण जनता के हित के लिए कुछ विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति के निमित्त होता है। अर्थात राज्य की स्थापना व्यक्तियों के जीवन ,स्वतंत्रता और संपत्ति की रक्षा के लिए की जाती है। जब तक व्यक्तियों के इन अधिकारों की रक्षा होती रहती है, तब तक जनता विद्रोह नहीं कर सकती ,लेकिन जब इन अधिकारों की रक्षा ना हो सके तथा जनता का कष्ट असह्य हो जाए तो जनता के लिए क्रांति करना अनिवार्य हो जाता है।

क्रांति के कारणों की विवेचना करते हुए लॉक ने कहा कि यदि शासन को जन सहमति प्राप्त ना हो, वह अपने न्यास या ट्रस्ट के विरुद्ध आचरण करें और वैधानिक शासन के स्थान पर निरंकुश आचरण करने लगे ,अपनी मर्यादाओं का पालन न करें तो जनता को शासन सत्ता के विरुद्ध विद्रोह तथा उसे बदलने का अधिकार है ।लॉक के अनुसार विद्रोह का वास्तविक उत्तरदायित्व कार्यपालिका या राजा पर है। कार्यपालिका या राजा जब अपने अधिकारों का दुरुपयोग कर निरंकुश आचरण करने लगे जनता को इस स्थिति में विद्रोह करने का अधिकार है ।इसी प्रकार "जब जनता यह अनुभव करें कि विधायिका इसमें रखे जाने वाले विश्वास के प्रतिकूल कार्य कर रही है तो जनता को यह सर्वोच्च अधिकार प्राप्त है कि वह विधायिका को हटा दें या बदल डाले।

लॉक का सिद्धांत की यह विशेषता है कि सरकार के भंग होने पर 'राजनीतिक समुदाय' ज्यों का त्यों बना रहता है क्योंकि 'राजनीति समुदाय' का स्थान सरकार के ऊपर है।वह सरकार या शासन के भंग होने के संबंध में केवल यही कहता है कि,"सरकार तब भंग हो जाती है जबकि कानून निर्माण शक्ति उस संस्था से हट जाती है जिसको कि जनता ने यह दी थी या तब जबकि कार्यपालिका या विधायिका उसका प्रयोग ट्रस्ट की शर्तों के विपरीत करते है।लॉक ने यह स्पष्ट नहीं किया कि लोग यह कार्यवाही किस प्रकार करते हैं ।वह बस यही कहता है कि जनता इस अधिकार का प्रयोग भगवान से अपील करने के तथा शक्ति और हिंसा के विरुद्ध भगवान द्वारा दिए गए अंतिम उपाय अर्थात विद्रोह के द्वारा कर सकती है ।विद्रोह का अधिकार व केवल बहुसंख्या को ही देता है।

लॉक एक गंभीर ,विचारक था जिसने जनता में निहित क्रांति और अधिकार पर निम्न सीमाएं लगाई –

जनता को तुच्छ और क्षणिक कारणों से क्रांति के अधिकार का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

क्रांति तभी की जानी चाहिए जब शासक जनता के अधिकारों की रक्षा करने में अक्षम हो तथा शासक अपनी क्रूरता की पराकाष्ठा पर पहुंच जाएं, क्रांति में बहुमत का भाग लेना अनिवार्य है।

क्रांति की आग चाहे एक व्यक्ति के द्वारा द्वारा भड़काई जाये या अल्पमत द्वारा ,जब तक बहुसंख्यक लोग क्रांति में सम्मिलित नहीं होते तब तक सम्पूर्ण समाज हित की भावना प्रकट नहीं होती।

क्रांति सम्बन्धी विचार लॉक के दर्शन का महत्वपूर्ण देन है । उसे क्रांतियों का दार्शनिक भी कहा जाता है ।

4.3.11 लॉक : व्यक्तिवाद

लॉक के दर्शन का सर्वाधिक शक्तिशाली तत्व उसकी व्यक्तिवादिता है। वह व्यक्ति का परम उपासक और भक्त था ।यह उसके राजनीतिक विचारों की आधारशिला है ।

लॉक ने प्राकृतिक अवस्था के व्यक्तियों को एकाकी और निर्धन नहीं कहा ,साथ ही लॉक के दर्शन में व्यक्तियों ने समस्त समाज को संप्रभु बनाया ,किसी एक व्यक्ति को नहीं ।लॉक का व्यक्तिवाद उदारवाद से ओतप्रोत है। उसके व्यक्तिवाद का स्वरूप निम्न है –

4.3.11.1 राज्य का अधिकार व्यक्तियों की सहमति

लॉक ने राज्य की उत्पत्ति के संबंध में समझौता सिद्धांत को अपनाया है , जिसका मूल विचार यह है कि राज्य की स्थापना व्यक्तियों की सहमत के आधार पर हुई है ।किसी व्यक्ति को राज्य की सदस्यता स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता ।प्राकृतिक अवस्था के व्यक्तियों को समझौते में शामिल होकर राज्य का निर्माण करने की छूट है ।जो व्यक्ति समझौते में शामिल नहीं होते, वे प्राकृतिक अवस्था में ही बने रहते हैं ।लॉक ने भावी पीढ़ियों को राज्य की सदस्यता स्वीकार करने या ना करने की छूट दी ।लॉक ने राज्य की सदस्यता के संबंध में प्रत्येक व्यक्ति को इच्छा का आदर किया है, वो एक व्यक्तिवादी विचारक है ।

4.3.11.2 राज्य के निर्माण का उद्देश्य व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा

लॉकजीवन, स्वतंत्रता तथा संपत्ति के तीन अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को प्रदान करता है । इन्हें वह व्यक्ति के जन्मसिद्ध ,स्वभाविक और प्राकृतिक अधिकार समझता है ।राज्य का प्रादुर्भाव इन्ही की रक्षा के लिए होता है ,उसका मुख्य लक्ष्य व्यक्ति के अधिकारों को सुरक्षित रखना है।

4.3.11.3 व्यक्ति के पक्ष में राज्य पर सीमाएं

लॉक का राज्य जनता द्वारा प्रदत्त शक्तियों का ही प्रयोग कर सकता है क्योंकि राज्य जनता का मात्र एजेंट है, राज्य प्राकृतिक विधि के नियमो का उल्लंघन नहीं कर सकता जिनसे व्यक्तियों के प्राकृतिक अधिकारों

का अतिक्रमण हो।राज्य कभी भी नागरिकों की संपत्ति का अपहरण नहीं कर सकता । अतः लॉक के राज्य की तुलना एक बड़ी लिमिटेड कंपनी से की जाती है जिसमे कम्पनी से की जाती है जिसमे कंपनी के संचालको तथा हिस्सेदारों के दायित्व मर्यादित होते है ।

4.3.11.4 व्यक्ति द्वारा राज्य का विरोध

लॉक के अनुसार राज्य का निर्माण जनकल्याण के लिए किया गया है । राज्य एक ट्रस्ट के समान है, वह जनता की सहमति पर आधारित और वैधानिक होता है ।वहहॉब्स के लेवियाथन की भातिं असीमित अधिकार संपन्न निरंकुश प्रभु नहीं है ।अतः यदि शासन निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति में असफल रहे या यदि वह अपने अधिकार क्षेत्र का उल्लंघन करने लगे तो ऐसी स्थिति में उसके विरुद्ध विद्रोह या क्रांति करने का व्यक्ति को अधिकार है।

4.3.11.5 व्यक्ति की धार्मिक स्वतंत्रता

उसके धर्म विषयक विचारों पर भी व्यक्तिवाद की स्पष्ट झलक है ।वह प्रत्येक व्यक्ति को अंतःकरण के अनुसार धार्मिक पूजा और उपासना की स्वतंत्रता प्रदान करता है ।उसके अनुसार राज्य के सभी नागरिकों को इस बात की खुली छूट होनी चाहिए कि व्यक्ति अपनी इच्छा अनुसार किसी भी धर्म या संप्रदाय का सदस्य बन सके ।इस प्रकार लॉक ने व्यक्ति को अपनी संपूर्ण व्यवस्था का केंद्र बिंदु बनाया है।

4.3.12 सारांश

जहां हॉब्सके सिद्धांतों को उसके जीवन काल में बहुत कम समर्थन मिला और भावी राजदर्शन पर भी उसका क्रम प्रभाव पड़ा ,वहीं लॉक के विचारों को उसके जीवन काल में ही ना केवल बहुत सम्मान मिला बल्कि भविष्य में भी दो शताब्दियों से अधिक समय तक यूरोप और अमेरिका के जनमानस पर उसका प्रभाव छाया रहा ।मैक्सी के शब्दों में,"भावी पीढ़ियों ने हॉब्स का नहीं लेकिन लॉकका समर्थन किया।"

फ्रांस और अमेरिका की जनक्रांति तथा आँदोलनों पर उसके विचारों का प्रभाव पड़ा ।बीसवीं शताब्दी में एशिया में होने वाली सभी राज्य क्रान्तिया उससे प्रभावित रहीं। अमेरिका के संविधान निर्माता लॉक की टू ट्रिटीज को बाइबिल की तरह पवित्र मानते रहे हैं । राजसत्ता जन सहमति पर ही आधारित रह सकती है, इस घोषणा द्वारा उसने साम्राज्यवाद और निरंकुश शासन प्रणाली का प्रबल विरोध किया ।क्रांति के अधिकार का पोषण करके उसने समस्त निरंकुश शासको को भारी चुनौती दी।लॉक के अनुभववाद का प्रभाव बर्कले और ह्यूम पर पड़ा ।लॉक के व्यवहारवाद और अनुभववाद से फ्रांस में मांटेस्क्यु प्रभावित हुआ। व्यक्ति की स्वतंत्रता को सुरक्षित रखने के साधन के रूप में 'शक्ति पृथक्करण' सिद्धांत का प्रयोग करने वाला संभवतः प्रथम आधुनिक विचारक था।

बार्कर के शब्दों में ,"लॉकके राजनीतिक सिद्धांत ने केवल इंग्लैण्ड को ही प्रभावित नहीं किया, वह फ्रांस में प्रविष्ट हुआ ,रूसो के माध्यम से फ्रेंच राज्य क्रांति में आया । यह उत्तरी अमेरिका की बस्तियों में प्रविष्ट हुआ सेमुअल तथा थामस के माध्यम से अमेरिका की स्वतंत्रता की घोषणा में भी इसका समावेश हुआ ।" गेटेल के अनुसार , "लॉक वर्तमान प्रजातन्त्र और उदारवाद की की आधारशिला है ।"

मैक्सी के शब्दों में , "निर्माण करने वाला हाथ कहीं वाल्पोल का , कहीं जैफरसन का, कहीं गैम्बेटा का और कहीं कैवूर का था , किन्तु प्रेरणा निश्चित रूप से लॉक की ही थी ।"

4.3.13 अभ्यास /बोधात्मक प्रश्न

4.3.13.1 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

- लॉक के सामाजिक समझौता सिद्धांत की व्याख्या कीजिये।
- लॉक पूर्णतया सीमित राजतन्त्र का पोषक था। इस कथन की व्याख्या कीजिये।
- लॉक पूर्णतया एक व्यक्तिवादी विचारक है। विवेचना कीजिये।
- लॉक के राजदर्शन के महत्व की विवेचना कीजिये।
- लॉक के अनुसार राज्य की क्या विशेषताए है ?

4.3.13.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

- जॉन लॉककी अध्ययन पद्धति क्या है ?
- प्राकृतिक अधिकार एवं निजी संपत्ति सम्बन्धी लॉक के विचार लिखिए।
- लॉक के चिन्तन को प्रभावित करने वाली परिस्थितियां बताइए।
- समझौते के ऐतिहासिकता पर एक संक्षिप्त नोट लिखिये।
- जॉन लॉक की रचनाएं लिखिए।

4.3.13.3 बहुविकल्पीय प्रश्न

1. जॉन लॉक का जन्म कब हुआ -

(अ) 1432

(ब) 1532

(स) 1632

(द) 1622

2. जॉन लॉक ने अपने जीवन में कुल कितनी किताबो को लिखा --

(अ) 42

(ब) 32

(स) 30

(द) 27

3.जॉन लॉक का प्रसिद्ध ग्रन्थ कौन सा है?

(अ)ए लैटर ऑफ़ टोलेरेशन

(ब) टू ट्रीटीज ऑफ़ गवेरमेंट

(स) सेकेंड लैटर आन टोलेरेशन

(द) टू फंडामेंटल लैटर आन टोलेरेशन

4.किसके अनुसार मनुष्यों के राज्यों में संगठित होने तथा अपने को सरकार के अधीन रखने का मुख्य उद्देश्य अपनी संपत्ति की रचना करना है -

(अ) मैकियावेली

(ब) लॉक

(स) हॉब्स

(द) गिब्स

5. किसके अनुसार जिस चीज को मनुष्य ने शारीरिक श्रम द्वारा प्राप्त किया, उसका उस प्रकृति पर अधिकार है -

(अ) लॉक
(ब) टेलर
(स) हॉब्स
(द) रूसो

3.13.4 बहुविकल्पीय प्रश्नो के उत्तर

1. (स) 1632
2. (स) 30
3. (ब) टू ट्रीटीज ऑफ़ गवेरमेंट
4. (ब) लॉक
5. (अ) लॉक

4.3.14 कठिन शब्द

निःसृत- उत्पति
स्टुअर्ट शासक- 1603 से 1714 तक इंगलैंड के शासको को कहा जाता है
ससीम- अपनी सीमायें

4.3.15 संदर्भ ग्रंथ सूची

- डा. अनूप चंद कपूर , प्रिंसिपल ऑफ़ पोलिटिकल साइंस,1950 ,एस. चंद एवं कम्पनी प्राइवेट लिमिटेड, राम नगर ,नई दिल्ली,आईएसबीएन-978-81-219-0276-2
- डा. बी. एल. फड़िया, पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन ,साहित्य भवन पब्लिकेशन ,आगरा ,1992 , आईएसबीएन-978-93-5173-312-6
- डा. आर.के.आनंद,डा. जीवन महता, डा. एन. डी.अरोड़ा,राजनीति विज्ञान के सिद्धांत , साहित्य भवन पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.)लि.,2007
- जीवन महता, राजनीतिक चिंतन का इतिहास, साहित्य भवन पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.)लि.,2008 ,आईएसबीएन-978-93-5073-409-9
- डा. भूपेश मणि त्रिपाठी, राजनीतिक सिद्धांत,स्व प्रकाशित ,2013, आईएसबीएन-978-93-5087-469-1
- डा. पुखराज जैन,राजनीतिक चिंतन का इतिहास,2006, साहित्य भवन पब्लिकेशन,आगरा, आईएसबीएन-81-7288-031-6
- डा. सुरेश चन्द्र सिंहल, प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल पब्लिकेशन, आगरा
- डा. जे.सी. जौहरी,राजनीति विज्ञान,एस बी पी डी पब्लिकेशन,आगरा आईएसबीएन-978-93-5167-451-1
- जीवन महता, पाश्चात्य राजनीतिक चिंतक ,2012 ,एस बी पी डी पब्लिशिंग, आगरा
- एडी आशीर्वादम,कृष्णकांत मिश्र,राजनीति विज्ञान 2016, एस. चन्द एंड कंपनी (प्रा.) लिमिटेड, रामनगर ,नई दिल्ली ,आईएसबीएन-978 -81-219-0896-2

इकाई-4 रूसो का राजनीतिक चिंतन

इकाई की रूपरेखा

4.4.1. उद्देश्य कथन
4.4.2 प्रस्तावना
4.4.3 जीन जैक रूसो : जीवन परिचय
4.4.4 रूसो की रचनाएं
4.4.5 रूसो की विचारधारा पर प्रभाव
4.4.6 रूसो का सामाजिक समझौता सिद्धांत
4.4.6.1 मानव स्वभाव
4.4.6.2 प्राकृतिक अवस्था
4.4.6.3 समझौते का कारण
4.4.6.4 सामाजिक समझौता
4.4.6.5 राज्य का स्वरूप
4.4.6.6 सामाजिक समझौते की विशेषताएं
4.4.7 रूसो का सामान्य इच्छा का सिद्धांत
4.4.7.1 यथार्थ इच्छा
4.4.7.2 आदर्श इच्छा
4.4.7.3 सामान्य इच्छा
4.4.7.4 सामान्य इच्छा का निर्माण
4.4.7.5 सामान्य इच्छा की विशेषताए
4.4.7.6 सामान्य इच्छा सिद्धांत की आलोचना
4.4.7.7 सामान्य इच्छा सिद्धांत का महत्व
4.4.8 रूसो की प्रभुसत्ता सम्बन्धी धारणा
4.4.9 रूसो के शासन सम्बन्धी विचार
4.4.9.1 शासन का वर्गीकरण
4.4.10 रूसो और हॉब्स के राजदर्शन में निरंकुशतावाद के तत्व
4.4.10.1 हॉब्स के राजदर्शन में निरंकुशतावाद का तत्व
4.4.10.2 रूसो की राजदर्शन में निरंकुशतावाद के तत्व
4.4.10.3 रूसो का प्रभुसत्ताधारी हॉब्स का शीश विहीन लेवियाथन
4.4.11 सारांश
4.4.12 अभ्यास / बोधात्मक प्रश्न
4.4.12 .1 दीर्घ उतरीय प्रश्न
4.4.12 .2 लघु उत्तरीय प्रश्न
4.4.12 .3 बहु विकल्पीय प्रश्न
4.4.12.4 बहु विकल्पीय प्रश्नों के उत्तर

4.4.13 कठिन शब्द

4.4.14. संदर्भ ग्रन्थ सूची

5.4.1. उद्देश्य कथन

इस अध्याय को पढ़ने के बाद आप-

- रूसो के जीवन परिचय को जॉन जायेंगे।
- रूसो की रचनाओ और के बारे मे जॉन जायेंगे।
- रूसो के सामाजिक समझौते सिद्धांत और उसका महत्त्व समझ सकेंगे।
- रूसो के सामान्य इच्छा के सिद्धांत को जॉन जायेंगे।
- रूसो के अन्य राजनीतिक सिद्धांतो को जॉन सकेंगे।

4.4.2 प्रस्तावना

हॉब्सऔर **लॉक** के अतिरिक्त राज्य के उत्पत्ति के सामाजिक समझौता सिद्धांत का एक प्रमुख प्रतिपादक **जीन जैक्स रूसो** का व्यक्तित्व एक विवादास्पद व्यक्तित्व रहा है । जहाँ उसे एक ओर आधुनिक राजनीतिक चिंतन को अपने अप्रीतम योगदान के लिए अतुलनीय प्रशंसा का पात्र समझा गया है दूसरी तरफ ,उसे नगण्य महत्व का घोषित करते हुए उसे अकल्पनीय घृणा का शिकार भी होना पड़ा है ।फिर भी रूसो को वस्तुपरक दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि समूचे राजनीतिक चिंतन के इतिहास में प्लेटो के बाद उस जैसा श्रेष्ठतम लेखक दूसरा कोई नहीं हुआ।उसने इतने अधिक विषयों पर चिंतन-मनन किया है कि असंख्य व्यक्तियों को अपने ज्ञानार्जन के लिए उसके चिंतन की शरण लेनी पड़ती है । अतः इस आधार पर हम निसंकोच कह सकते है कि अपनी सारी आलोचनाओं और विवादग्रस्तता के बावजूद रूसो महान दार्शनिक ही नहीं , दार्शनिको का सिरमौर है । इस इकाई में हम रूसो के जीवन परिचय के साथ हम उसके रचनाओं और राजनीतिक क्षेत्र में दिए गए योगदानो का विस्तार से अध्ययन करेंगे।

4.4.3 जीन जैक रूसो : जीवन परिचय

अक्सर महान चिंतक अपनी रचनाओं के माध्यम से जाने जाते हैं ,अपने जीवन वृत्त के माध्यम से नहीं लेकिन रूसो के बारे में यह बात सही नहीं है ।जितनी उसकी रचनाएं विलक्षण है, उतना ही उसका जीवन भी विचित्रताओं से परिपूर्ण और नाटकीय है। रूसो का जन्म 28 जून 1712 में जेनेवा में हुआ ।प्रसवकाल के दौरान ही उसकी माता का देहांत हो गया ।उसके पिता **आइजक** एक दक्ष घड़ीसाज थे लेकिन अपनी फिजूलखर्ची और अन्य दुर्गुणों के कारण रूसो का पालन पोषण और शिक्षा-दीक्षा की उचित व्यवस्था नहीं कर पाए ।रूसो का बचपन उपेक्षित और स्नेह से वंचित रहा ।10 वर्ष की आयु में रूसो के पिता ने रूसो को त्याग दिया। फलतः उसके पालन-पोषण का भार उसके सगे-संबंधियों पर आ पड़ा लेकिन उन्होंने भी इस दृष्टि से अपने दायित्व का ठीक तरह से निर्वाह नहीं किया। अपने जीवन के अगले 6 वर्ष तक वह उनके संरक्षण में रहा तथा संगतराशी का कार्य सीखता रहा ।उनका प्रशिक्षक बहुत कठोर और क्रूर स्वभाव का था ।16 वर्ष की आयु में उसके दंड से आतंकित होकर उसने जिनेवा छोड़ दिया और जीवन के अगले 14 वर्ष तक वह एक घुमक्कड़ की तरह इधर-उधर भटकता रहा। उसके जीवन का यह काल उसके लिए बहुत महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ क्योंकि इस काल में उसे फ्रांस के निर्धन और शोषित वर्ग

की वास्तविक स्थिति का ज्ञान प्राप्त करने का अवसर प्राप्त हुआ ।यह प्रभाव जीवनपर्यंत उस पर बना रहा और उसके चिंतन को प्रभावित करता रहा।

अपने घुमक्कड़ जीवन के प्रारंभिक काल में उसका परिचय एक संभ्रांत महिला डी- वारेंस से हुआ। इस महिला ने रूसो का शिक्षा हेतु उसका प्रवेश एक मठ में करा दिया लेकिन अपनी स्थिर और घुमक्कड़ प्रकृति के कारण रूसो वहां अधिक दिनों तक टिक कर नहीं रह सका तथा घूम फिर कर पुनः मैडम डी-वारेंस के पास लौट आया ।इस महिला ने रूसो के प्रति अपनी श्रद्धा को देख कर ना केवल उसे संरक्षण दिया वरना उसे अपने प्रेमी के रूप में स्वीकार भी किया। सन 1737 में रूसो कुछ समय के लिए जेनेवा चला गया ।उसकी अनुपस्थिति में मैडम डी-वारेंस को एक नया प्रेमी मिल गया।स्वाभिमानी रूसो के लिए एक बहुत बड़ा धक्का था। वह नारी द्वारा ठुकराए जाने के कारण उसके जीवन के अगले 2 वर्ष तक अति कष्टकारक रहे।सन 1741 में कुछ मित्रों की सहायता से उसे वेनिस में फ्रांस के राजदूत के सचिव का पद प्राप्त हो गया।लेकिन यहां पर भी अपने अस्थिर और अहंकारी प्रवृत्ति के कारण वह अधिक समय तक टिका नहीं रह सका । उसे नौकरी से निकाल दिया गया।निराश होकर रूसो फ्रांस लौट आया ।अभिनय ,काव्य और संगीत में रुचि होने के कारण उसने स्वयं को उस क्षेत्र में स्थापित करने का प्रयास किया लेकिन इसमें भी वह असफल रहा।इस तरह निरंतर असफलताओं का शिकार होकर व निम्न वर्गीय समाज के प्रति आकर्षित हुआ और उसने एक धोबिन महिला **थेरेसी** को अपना जीवनसंगिनी बना लिया ।उसके उससे 5 बच्चे हुए लेकिन निर्धनता के कारण व उनका भरण पोषण करने में असमर्थ रहा ।फलतः उसने उनको अनाथालय में सौंप दिया। उसके साथ रहते हुए सन 1778 में लकवा ग्रस्त होकर 66 वर्ष की आयु में उसकी मृत्यु हो गयी। इस तरह बहुत ही कारुणिक स्थिति में रूसो के जीवन का अंत हो गया ।

रूसो को यद्यपि किसी तरह की नियमित शिक्षा प्राप्त करने का अवसर उपलब्ध नहीं हुआ लेकिन उसमें जन्मजात प्रतिभा अवश्य थी ।उसे 1749 में अपनी इस प्रतिभा के दर्शन का अवसर मिला ।उस वर्ष डी-जॉन की अकादमी ने एक निबंध प्रतियोगिता का आयोजन किया निबंध का विषय था "**विज्ञान तथा कला की प्रगति ने नैतिकता को शुद्ध किया है या भ्रष्ट**।"रूसो ने इस प्रतियोगिता में भाग लिया तथा उसका निबंध सर्वश्रेष्ठ घोषित किया गया।फल स्वरुप वह ,एक बुद्धिजीवी के रूप में विख्यात ही नहीं हुआ ,अन्य बुद्धिजीवियों का श्रद्धा का पात्र भी बन गया ।इस निबंध में उसके द्वारा यह प्रतिपादित किया गया कि मनुष्य स्वभावतः अच्छा है लेकिन विज्ञान एवं कला के विकास के कारण उत्पन्न सभ्यता ने उसे बुरा बनाकर उसका नैतिक पतन कर दिया है । सन 1754 में इसी अकादमी द्वारा एक-दूसरे निबंध प्रतियोगिता का आयोजन किया गया जिसमें भी रूसो ने भाग लिया ।इस प्रतियोगिता के निबंध का विषय था,**"असमानता की उत्पत्ति और उसके मूल कारण।"** उसने अपने निबंध के माध्यम से व्यैक्तिक संपत्ति को असमानता की उत्पत्ति का मूल कारण घोषित करते हुए उस पर प्रहार किया ।

यद्यपि रूसो का निबंध उसके पूर्व के निबंध से श्रेष्ठ था लेकिन राजतंत्र और धनी समाज पर प्रहार करने वाला होने के कारण पुरस्कार प्राप्त ना कर सका ।इस घटना के कारण रूसो के हृदय में समाज के प्रति कटुता और बढ़ गयी । सन 1762 में संसद अपनी गिरफ्तारी के आदेश के कारण उससे बचने के लिए उसने पेरिस छोड़ दिया ।फलतः अपने जीवन के अगले 16 वर्ष घुमक्कड़ जीवन जीने के लिए बाध्य हुआ । वह आश्रय के लिए जर्मनी, ब्रिटेन आदि देशों में भटकता रहा । सन 1766 में ब्रिटेन के प्रसिद्ध दार्शनिक **ह्यूम** ने उसे ब्रिटेन में आश्रय प्रदान किया लेकिन अपने शंकालू स्वभाव के कारण शीघ्र ही उसकी **ह्यूम** से अनबन हो गई और ब्रिटेन छोड़कर फ्रांस लौट आया । यहाँ ह्यूम ने अपने प्रभाव का

उपयोग करते हुए उसके लिए ऐसी व्यवस्था कर दी जिससे वह वक्त एक भयमुक्त और निश्चिंत जीवन व्यतीत कर सके। अतः उसने अपने जीवन के शेष वर्ष लेखन कार्य को करते हुए यहीं व्यतीत किए।

4.4.4 रूसो की रचनाएं

रूसो ने अपने जीवन में अनेक रचनाओं का सृजन किया लेकिन राजनीतिक दृष्टि से महत्व रखने वाली उसकी रचनाएं निम्नलिखित है –

- कलाओं और विज्ञानों के नैतिक प्रभावों पर एक निबंध,1750 (अ डिस्कोर्स ऑन द मोरल इफेक्ट्स ऑफ द आर्टस एंड साइंस)
- व्यक्तियों में असमानता के उद्भव पर एक निबंध ,1755 (अ डिस्कोर्स ऑन द ओरिजिन ऑफ इनक्वालिटी अमंग मेन)
- राजनीति अर्थशास्त्र एक निबंध,1758 (ए डिसकोर्स आन पॉलीटिकल इकोनामी)
- सामाजिक समझौता या सोशल कॉन्ट्रैक्ट 1762 (द सोशल कॉन्ट्रैक्ट)
- शैक्षिक ग्रंथ ,1762 (द एमाइल)
- पोलैंड के शासन पर विचार (कंसीडरेशन ऑन द गवर्नमेंट ऑफ पोलैंड) मृत्यु बाद प्रकाशित
- कन्फेशन अर्थात आत्म स्वीकृति या आत्मकथा (रूसो की मृत्यु के बाद प्रकाशन)

रूसो के राजनीतिक चिंतन की दृष्टि से यह सभी रचनाएं महत्वपूर्ण होते हुए भी इस दृष्टि से उसकी सबसे महत्वपूर्ण रचना "सामाजिक समझौता"(द सोशल कॉन्ट्रैक्ट) है ।इसी में उसके राजनीतिक चिंतन का सार तत्व निहित है।

4.4.5 रूसो की विचारधारा पर प्रभाव

रूसो की विचारधारा पर उसके युग की परिस्थितियों तथा अनेक राजनीतिक दार्शनिकों का प्रभाव दिखाई देता है ।मोटे तौर पर हम रूसो पर दिखाई देने वाले प्रभाव को निम्न भागों में बांट सकते हैं –

- रूसो के विचारों पर **जॉनलॉक** और **प्लेटो** का स्पष्ट प्रभाव है ।**बार्कर**ने लिखा है कि रूसो ने आरंभ तो अवश्य ही **लॉक** से किया पर लौट कर वापस **प्लेटो** के रिपब्लिक तक पहुंचा और फिर आगे बढ़कर **हीगल** की पृष्ठभूमि तैयार कर दी। प्लेटो और अरस्तू की भांति रूसो ने कहा कि **'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है**,मनुष्य का पूर्ण जीवन केवल समाज में ही संभव है।राज्य की अधीनता मनुष्य इसलिए स्वीकार करता है कि राज्य उसका नैतिक नियंत्रण करें और व्यक्ति को अंतिम लक्ष्य की ओर ले जाने में सफल हो।
- अपने प्रसिद्ध ग्रंथ **'सोशल कॉन्ट्रैक्ट'** की रचना करते समय रूसो पर **हॉब्स**और **लॉक** के विचारों का गहरा प्रभाव पड़ा ।**हॉब्स**के प्रभाव के कारण रूसो के विचार तीव्र व्यक्तिवादी प्रतीत होता हैं और अंत में वह निरंकुशतावाद का भी समर्थन कर बैठता है तथा **लॉक**के प्रभाव के कारण लोकतंत्र का समर्थक है तथा राज्य की स्थापना का आधार सहमति मानता है।
- जिनेवा के वातावरण से भी रूसो प्रभावित हुआ है,इसलिए उसके राजनीतिक विचार स्थानिक रहे। वह छोटे नगर-राज्यों के पक्ष में था।

- फ्रांस की तात्कालिक परिस्थितियों से भी रूसो प्रभावित हुआ ।उस समय मुख्य प्रश्न यह था कि निरंकुश,राजसत्ता , सामान्तशाही और चर्च की अतियों से सामान्य जनता को कैसे राहत मिले ? रूसो के सामने राजत्व की संप्रभुता के समर्थन के स्थान पर सामान्य जनता के लिए शासन की क्रूरता और चतुर्दिक शोषण से मुक्ति का प्रश्न था ।
- राज्य पर प्रभाव डालने वाले तत्व जैसे वाह्य परिस्थितियां, ऐतिहासिक परंपराए आदि के संबंध में जब **रूसो**लिखता है तो उस पर**मांटेस्क्यू** का प्रभाव का स्पष्ट परिलक्षित होता है।

4.4.6 रूसो का सामाजिक समझौता सिद्धांत

यद्यपि हॉब्सऔर लॉक की तरह रूसो भी समाज और राज्य की उत्पत्ति के संबंध में सामाजिक समझौता सिद्धांत का समर्थक है फिर भी उसका उद्देश उसकी तरह व्यक्तिवाद और प्राकृतिक अधिकारों का समर्थन करना मात्र नहीं है ।रूसो समाज के नैतिक पतन के प्रति अत्यधिक चिंतित था और चाहता था कि इस अभिशाप से मुक्त होकर मनुष्य का जीवन पुनः नैतिक दृष्टि से उच्च हो जाए ।अतः वह समाज और राज्य की आदर्शवादी दृष्टिकोण की विवेचना करता है और इसी आधार पर मानव स्वभाव और प्राकृतिक अवस्था का वर्णन करता है ।उसने अपनी पुस्तक **द सोशल कॉन्ट्रैक्ट** में अपने समझौता सिद्धांत का विस्तार से प्रतिपादन किया है।

4.4.6.1 मानव स्वभाव

रूसो की रचना में मनुष्य का चित्रण एक ऐसे तनावग्रस्त व्यक्ति के रूप में है जिसका तनावमय अतीत एक तनाव मुक्त भविष्य का निर्माण करने की प्रेरणा देता है ।इस तनावग्रस्त व्यक्ति की दो वृत्तियाँ हैं - स्वार्थ और परमार्थ जो आपसी कशमकश में रहती है ।इस तनाव में से चेतना का जन्म होता है ।रूसो के अनुसार चेतना एक नेत्रहीन इच्छा है जो शुभकर्म करना तो चाहती है लेकिन यह नहीं जॉनती कि शुभकर्म क्या है ? इसलिए मनुष्य की आत्मसिद्धि के लिए रूसो और विवेक का सहारा लेता है। विवेक अच्छाई और बुराई में अंतर स्पष्ट करता है ।इन तत्वों के आधार पर रूसो दो प्रकार के व्यक्ति का चित्र प्रस्तुत करता है –

- अप्राकृतिक व्यक्ति जिसमें स्वार्थ और परमार्थ युद्ध-रत है ,जिसकी चेतना अन्धी है और विवेक पथ भ्रष्ट है, ऐसा व्यक्ति लगातार भटकता रहता है।
- दूसरा इसके विपरीत, प्राकृतिक मनुष्य वह है जिसमें या तो तनाव पैदा ही ना हुआ हो या जिसने शक्तिशाली विवेक और अडिग चेतना के द्वारा आत्महित और परमार्थ में सामंजस्य से बैठा लिया हो।

रूसो के अनुसार आदिम मनुष्य एक ऐसा व्यक्ति था जिसमें यह तनाव पैदा ही नहीं हुआ था। वह प्रसन्न और संतुष्ट था। पेड़-पौधे और पशु-पक्षियों की तरह वह पैदा होकर प्राकृतिक रूप से ही समाप्त हो जाता था । रूसो प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य को स्वाभाविक रूप से अच्छा,सुखी ,सीधा,चिंतारहित, स्वस्थ,शांतिप्रेमी और एकांतप्रिय समझता था।इस विषय में रूसो का विचार हॉब्सतथा लॉक दोनों से ही भिन्न था ।हॉब्सका कहना था कि प्राकृतिक दशा में रहने वाला मनुष्य ना केवल हिंसक और क्रूर था बल्कि कपटी भी था ।दूसरी और लॉक ने मनुष्य को प्राकृतिक नियम और ईश्वरीय नियम से अनुशासित होने वाला माना था । रूसो प्राकृतिक दशा में नैतिकता के ऐसे उच्च विकास को भी असंभव मानता है ।अतः दोनों के विचारों को गलत मानते हुए रूसो ने आदिम मनुष्य को पशुतुल्य, निष्पाप,निर्दोष तथा स्वाभाविक रूप से अच्छा माना है।

रूसो के अनुसार सभ्यता के उदय और विकास के साथ-साथ मनुष्य की तनावग्रस्तता बढ़ती गई ।रूसो के विचार में समकालीन सभ्यता एक तनावग्रस्त सभ्यता है ।यह मनुष्य को प्रफुल्लित रखने वाला बाग नहीं बल्कि कैद है।इसलिए मनुष्य की इच्छा है कि वह एक ऐसी सभ्यता का निर्माण करें जो प्राकृतिक मनुष्य की सभ्यता हो और जहां उसकी स्वार्थ और परमार्थ में चेतना और विवेक के अनुसार समन्वय हो सके।

4.4.6.2 प्राकृतिक अवस्था

रूसो के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य प्रकृति की गोद में रहता था ।उसका जीवन पशुओ जैसा व एकाकी था। वह अपना जीवन वनों में विचरण करके बिताता था।किसी व्यक्ति का कोई घर नहीं था और न उसकी कोई संपत्ति नहीं थी ।मनुष्य अपनी प्रकृति की सादगी और परमार्थ की भावना के साथ उसमें सादगी से रहता था। इस अवस्था में सब समान थे तथा आपने-अपने जीवन के स्वामी थे ।कोई कलह,द्वेष , मारपीट नहीं था ।कोई सभ्यता नहीं थी तथा सभ्यता की आवश्यकता भी नहीं थी। मनुष्य एकांत में सुखी , बेपरवाह जिंदगी जी रहा था ।नही वस्त्र धारण करता था, न ही किसी भाषा का माध्यम था ।

इस प्रकार रूसो के अनुसार प्राकृतिक मनुष्य एकाकी,स्वतंत्र, नैतिक-अनैतिक भावनाओं से मुक्त, निस्वार्थ, संपत्ति और परिवार से रहित आदिम स्वर्णयुग की स्वर्गीय दशा में रहता था। प्राकृतिक अवस्था के व्यक्ति के लिए रूसो **आदर्श बर्बर** शब्द का प्रयोग करता था ।प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति एक भोले और अज्ञानी बालक की तरह सादगी और परम सुख का जीवन व्यतीत करता था ।

रूसो के अनुसार प्राकृतिक अवस्था अनैतिक नहीं हो सकती है,इसे ना सदगुण की अवस्था कहा जा सकता है ।यह धोखाधड़ी और युद्ध की अवस्था बिल्कुल ही नहीं थी क्योंकि अनैतिकता का बोध तब होता है जब मनुष्य में किसी उच्च गुण को समझने की क्षमता होती है और उच्च गुणों का वह कब अधिक दिग्दर्शन करता है। धोखाधड़ी करने की प्रवृत्ति भी तब जागती है जब उसमें हिसाबी बुद्धि का उदय होता है ।यह प्राकृतिक अवस्था में थी ही नहीं।

4.4.6.3 समझौते का कारण

प्राकृतिक अवस्था **आदर्श अवस्था** थी जहां मनुष्य एक मासूम, निर्दोष और निर्मल पंक्षी की तरह प्राकृतिक सौंदर्य का आनंद लेता हुआ, स्वच्छन्दता पूर्वक बिहार करता हुआ मस्त जीवन व्यतीत करता था ।उसे किसी प्रकार की चिंता ना थी , उसका जीवन शांतिपूर्ण और सुखी था, लेकिन यह स्वर्णिम अवस्था अधिक दिनों तक कायम नरह सकी। मानव के ज्ञान में वृद्धि हुई ।मनुष्य को अग्नि का ज्ञान हुआ ।कुछ मोटे ढंग के हथियार और औजार अस्तित्व में आए। लोगों का घुमक्कड़ वनचर जीवन छूट गया और वे निश्चित स्थान पर बसने लगे। स्त्री पुरुषों का आकस्मिक मिलन कुछ स्थायी होने लगा और परिवार भी अस्तित्व में आए ।मनुष्य में परिवार के साथ-साथ संपत्ति बनाने की इच्छा हुई ।व्यक्तिगत संपत्ति की मान्यता के कारण लोगों में परस्पर कलह ,द्वेष , हिंसा और युद्ध आदि का प्रादुर्भाव हुआ । "संपत्ति संबंधी सर्प मानव समाज में पैदा हो गया और उसकी सुख-शांति दूर हो गई ।" संपत्ति के कारण ही धनी और निर्धन का भेद उत्पन्न हुआ ।व्यक्तिगत संपत्ति ने प्राकृतिक अवस्था की शांति भंग करके एक ऐसे सभ्य कहे जाने वाले समाज का जन्म दिया जिसने मनुष्य से मनुष्य की सादगी ,ईमानदारी, समानता, परमार्थ की भावना छीन कर उसे इंसानियत का दुश्मन, संपत्ति का भूखा, स्वार्थी, घमंडी बना दिया ,अतः सभ्यता, सभ्य समाज, विज्ञान, संपत्ति आदि मनुष्य का दुश्मन है ।

रूसो के अनुसार संपत्ति के प्रादुर्भाव से मनुष्य की स्वतंत्रता परतंत्रता में बदल गई जिसको लक्ष्य करके वह कहता है कि "मनुष्य स्वतंत्र उत्पन्न होता है ,लेकिन सर्वत्र वह बेड़ियों से जकड़ा हुआ है ।" इसका अर्थ यह है कि मनुष्य को स्वतंत्र एवं स्वाधीन होना चाहिए, यही उसके लिए सर्वोत्तम दशा है , किंतु समाज के

नियम , रूढ़ियां तथा प्रतिबंध से दास बना रहे हैं ,उसकी विशुद्ध प्राकृतिक दशा के जन्मसिद्ध स्वभाविक अधिकार से उसे वंचित कर रहे हैं ।वह अपनी स्वतंत्र का उपभोग करने के लिए इन बंधनों से किस प्रकार मुक्त हो, यह रूसो के राजनीतिक चिंतन की मूल समस्या है ।

रूसो का स्पष्ट मत है कि मनुष्य ने स्वयं ही अपनी खुशियों का, समानता का , स्वतंत्रता का गला घोटा है , परंतु इन्हें दुबारा प्राप्त करना अपरिहार्य है क्योंकि स्वतंत्रता, समानता और प्रसन्नता के बिना जीवन व्यर्थ था । रूसो कहता था –**"प्रकृति की ओर चलो"**।वह कहता था कि हमें "हमारा अज्ञान, हमारा भोलापन, हमारी गरीबी लौटा दो, हम स्वतंत्र हो जाएंगे।"लेकिन रूसो को इस बात का निश्चय हो चुका था कि नागरिक समाज से प्राकृतिक अवस्था की ओर लौटना असंभव है । अतः अब वह प्रकृति और चलने का आह्वान नहीं देता।

4.4.6.4 सामाजिक समझौता

युद्ध और संघर्ष के वातावरण का अंत करने के लिए रूसो एक सामाजिक समझौते की कल्पना करता है ।सभी व्यक्ति एक स्थान पर एकत्रित हुए और उनके द्वारा संपूर्ण अधिकारों का समर्पण किया गया ,लेकिन अधिकारों का यह समर्पण किसी व्यक्ति विशेष के लिए नहीं बल्कि संपूर्ण समाज के लिए किया गया।

रूसो के अनुसार मनुष्यों ने आपस में एक समझौता किया ।इस समझौते में सभी व्यक्तियों ने भाग लिया। प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकारों को किसी व्यक्ति विशेष को अर्पित न कर संपूर्ण समाज को अर्पित करता है ।इस प्रकार समझौता लोगों के निजी स्वरूप और सामूहिक स्वरूप के मध्य हुआ। इसमें किसी की हानि नहीं , बल्कि सभी का भला ही होता है क्योंकि जब उनमें से किसी एक के व्यक्तिगत अधिकारों पर आक्रमण होता है तो उसकी रक्षा के लिए सारा समाज उपस्थित हो जाता है । रूसो की कल्पना के अनुसार,"हम में से प्रत्येक अपने व्यक्तित्व और सभी शक्तियों को सामान्य रूप से सार्वजनिक इच्छा के सर्वोच्च निर्देशन के अंतर्गत रखता है और हम संयुक्त रूप से सार्वजनिक इच्छा के सर्वोच्च निर्देशन के अंतर्गत रखता हैं और हम संयुक्त रूप से प्रत्येक सदस्य को संपूर्ण संगठन के अखंड हिस्से के रूप में पाते हैं ।"

समझौता करने वाले प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तिगत व्यक्तित्व के स्थान पर, समूह बनाने की प्रक्रिया में, एकदम एक नैतिक तथा सामूहिक निकाय का जन्म होता है जो कि उतने ही सदस्यों से मिलकर बना है जितने कि उसमें मत होते हैं । समुदाय बनाने की इस कार्य से ही निकाय की अपनी एकता, अपनी सामान्य सत्ता, अपना जीवन तथा अपनी इच्छा प्राप्त होती है ।समस्त व्यक्तियों के बने संगठन से बने हुए इस सार्वजनिक व्यक्ति को पहले नगर कहते थे, अब इसे गणराज्य कहते हैं और जब सक्रिय होता है तो संप्रभू तथा ऐसे ही अन्य निकायों से इसकी तुलना करने पर इसे शक्ति कहते हैं।"

4.4.6.5 राज्य का स्वरूप

सामाजिक समझौते द्वारा निर्मित राज्य को **सामान्य इच्छा** कहा जाता है ।संप्रभुता की अभिव्यक्ति 'सामान्य इच्छा' में ही होती है ।सभी व्यक्ति सामान्य इच्छा के अधीन रहते हुए कार्य करते हैं ।प्रत्येक नागरिक का संप्रभुता में एक भाग होता है और साथ ही व जनता भी है क्योंकि उसे उस कानून को मानना पड़ता है जिसे उसने स्वयं संप्रभु के रूप में बनाया है ।इस प्रकार रूसो के दर्शन में हमें **जनप्रिय संप्रभुता** और लोकतंत्रीय सरकार की आधारशिला मिलती है।

4.4.6.6 सामाजिक समझौते की विशेषताएं

- सामाजिक समझौते के अंतर्गत व्यक्ति अपनी संपूर्ण शक्ति व अपने अधिकारों को सबको समर्पित कर देता है ।इस समर्पण का आधार और शर्त है समता क्योंकि सभी व्यक्तियों ने समान रूप से अपने अधिकारों का समर्पण कर दिया।
- समझौते की क्रिया के द्वारा अलग-अलग व्यक्तियों के निजी व्यक्तित्व के स्थान पर एक सामूहिक व्यक्तित्व स्थापित हो जाता है , जिसकी एक पृथक एकता, पहचान, जीवन तथा इच्छा होती है ।
- सामाजिक समझौते के परिणाम स्वरुप मनुष्य की परतंत्रता का अंत हो जाता है, वह वास्तविक रूप से स्वतंत्र हो जाता है और जीवन की एक निश्चित विधि में ढल जाता है।
- समझौते के परिणाम स्वरुप व्यष्टि का स्थान समष्टि तथा व्यक्तिगत इच्छा का स्थान सामान्य इच्छा ले लेता है।
- रूसो के अनुसार समझौते से किसी सरकार की स्थापना नहीं होती बल्कि उसे संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न एक ऐसे समाज की स्थापना होती है जिसके संचालन का आधार समाज की सामान्य इच्छा होती है ।समझौते द्वारा स्थापित संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न समाज अपनी सामान्य इच्छा के अनुसार समाज का संचालन करने के लिए सरकार की नियुक्ति करता है जो उस समाज का एक यंत्र मात्र होती है तथा ऐसी सरकार यदि सामान्य इच्छा के अनुसार कार्य नहीं करती, तो उसे बदलाव हटाया जा सकता है।
- इस समझौते के द्वारा व्यक्ति भी कुछ नहीं खोता क्योंकि वह अधिकार वह दूसरों को अपने ऊपर देता है वही अधिकार व समाज के प्रत्येक व्यक्ति पर प्राप्त कर लेता है।
- रूसो के अनुसार समझौता कोई ऐसी घटना नहीं जो कभी एक बार घटी हो ।यह तो एक निरंतर चलने वाला क्रम है, जिससे प्रत्येक व्यक्ति सामान्य इच्छा में निरंतर भाग लेता रहता है।
- इस प्रकार उत्पन्न राज्य एक सावयव राज्य है ।प्रत्येक व्यक्ति राज्य का अविभाज्य अंग होने के कारण राज्य से किसी भी प्रकार अलग नहीं हो सकता और न ही व्यक्ति राज्य के विरुद्ध आचरण कर सकता है।

रूसो का सामाजिक समझौताहॉब्सऔर लॉकके समझौते से भिन्न होते हुए भी प्रभावित अवश्य है ।हॉब्स की भांति रूसो ने माना है कि समझौते के लिए उत्सुक व्यक्तियों ने अपने संपूर्ण अधिकार बिना किसी शर्त के समर्पित कर दिए , लेकिन यह अवश्य है कि हॉब्स के मंतव्य के विपरीत ये अधिकार किसी एक व्यक्ति या व्यक्ति समूह को नहीं सौंपे गए।लॉक की भातिं रूसो ने यह स्वीकार किया है कि समझौते के बाद संपूर्ण सत्ता समाज में ही निहित रही ।रूसो कीइस स्थिति के बारे में **गैटेल** ने लिखा है कि " रूसो की रचना का यह भाग हॉब्स और लॉक दोनों से प्रभावित था , हॉब्सकी पद्धति और लॉक के निष्कर्ष को जिज्ञासापूर्वक संयुक्त कर दिया गया - इस प्रकार हॉब्स की तरह जहां सत्ता निरंकुश स्थापित हुई, वहां लॉक की तरह व्यक्ति अभी समान अधिकार रखते थे।"

4.4.7 रूसो का सामान्य इच्छा का सिद्धांत

सामान्य इच्छा का सिद्धांत रूसो का सबसे महत्वपूर्ण राजनीतिक सिद्धांत है ।कुछ विचारक सिद्धांत को सबसे खतरनाक सिद्धांत मानते हैं जबकि अन्य विचारको की राय में सामान्य इच्छा का सिद्धांत लोकतंत्र तथा राजनीति दर्शन की आधारशिला है। रूसो की मुख्य समस्या यह है कि किस प्रकार सामाजिक सत्ता

और व्यक्तिगत स्वतंत्रता में समन्वय स्थापित किया जाए और किस प्रकार स्वतंत्रता रुपी अंडे को तोड़े बिना भी राज्य रुपी आमलेट को तैयार किया जाए।उन्होंने सामान्य इच्छा के सिद्धांत द्वारा इस समस्या के समाधान का प्रयास किया है।

रूसो द्वारा प्रतिपादित सामाजिक समझौता सिद्धांत के अनुसार आदिम मनुष्य पशुतुल्य, निष्पाप निर्दोष तथा स्वाभाविक रूप से अच्छा था।उसका जीवन पशुओ जैसा व एकाकी था।रूसो के अनुसार प्राकृतिक मनुष्य एकाकी, स्वतंत्र,नैतिक तथा अनैतिक भावनाओ से मुक्त, संपत्ति तथा परिवार से रहित आदिम स्वर्णयुग की स्वर्गीय दशा में रहता था।प्राकृतिक अवस्था आदर्श अवस्था थी ,लेकिन कृषि के अविष्कार के कारण संपत्ति और तेरे-मेरे की भावना का विकास हुआजिससे प्राकृतिक शांतिमय जीवन नष्ट हो गया तथा युद्ध, संघर्ष और विनाश का वातावरण उत्पन्न हुआ। इस असहनीय स्थिति से छुटकारा पाने के लिए सभी व्यक्ति एक ही स्थान पर एकत्रित हुए और उनके द्वारा अपने संपूर्ण अधिकारों का समर्पण किया गया।समझौते के परिणामस्वरुप संपूर्ण समाज की एक सामान्य इच्छा उत्पन्न होती है और सभी व्यक्ति इस सामान्य इच्छा के अंतर्गत रहते हुए कार्यरत रहते हैं। दूसरे शब्दों में, रूसो सामाजिक समझौते द्वारा निर्मित सामान्य इच्छा कहता है।

रूसो के संपूर्ण दर्शन में सामान्य इच्छा का सिद्धांत उसका मौलिक योगदान है। रूसो के इस क्रांतिकारी सिद्धांत ने राजदर्शन में हलचल उत्पन्न कर दी।शायद ही कोई सिद्धांत इतना विवादास्पद रहा हो जितना की सामान्य इच्छा का सिद्धांत। एक ओर लोकतंत्र के समर्थको ने मुक्त हृदय से इसका स्वागत किया व इसे प्रजातंत्र आधार स्तम्भ बनाया और दूसरी और निरंकुश शासको ने इसका दामन पकड़ कर जनता पर मनमाने अत्याचार किये।

मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है ,किसी न किसी प्रकार विचार या इच्छाएं उसके हृदय में सदा उठती रहती है। मनुष्य की ये इच्छाए दो प्रकार की होती है - यथार्थ तथा आदर्श इच्छाए।**4.7.1यथार्थ इच्छा**

सामान्यतया यथार्थ इच्छा और आदर्श इच्छा का एक ही अर्थ लिया जाता है, लेकिन रूसो के द्वारा इनका प्रयोग विशेष अर्थो में किया गया है। रूसो के अनुसार मनुष्य की यथार्थ इच्छा स्वार्थ प्रधान होती है।वह मनुष्य की अविवेकपूर्ण संकीर्ण प्रविति का परिणाम होती है ,स्वार्थ व्यैक्तिक हित को दृष्टि में रखती है तथा सामाजिक हित का विचार नहीं करती। जैसे खाद्य पदार्थों में मिलावट करने वाले व्यापारी का लक्ष्य केवल लाभ कमाने का विचार होता है, वह इससे समाज को पूछने वाली हानि को नहीं देखता।संक्षेप में, यथार्थ इच्छा संकुचित, अविवेकपूर्ण ,अस्थायी और क्षणिक एवं तुच्छ इच्छा है।

4.4.7.2 आदर्श इच्छा

मनुष्य की आदर्श इच्छा व्यापक दृष्टिकोण का परिणाम होती है।यह सामाजिक हित से सम्बद्ध होने के कारण अस्थायी और क्षणिक नहीं होती।यह मनुष्य की बुद्धि के चिंतन का परिणाम और विकसित स्वार्थ से रहित होने के कारण व्यक्ति की वास्तविक इच्छा होती है। संक्षेप में, दृष्टिकोण की व्यापकता,दूरदर्शिता,स्थायित्व,व्यक्ति व समाजके हित का सामंजस्य, पूर्णता व विवेकशीलता व्यक्ति की आदर्श इच्छा की विशेषतया होती है।यह विवेकपूर्ण इच्छा है।यह व्यक्ति तथा समाज के सामन्जस्य और शब्दों में प्रदर्शित होती है।

4.4.7.3 सामान्य इच्छा

समाज के विभिन्न व्यक्तियों की आदर्श इच्छा का सर्वयोग ही सामान्य इच्छा है। रूसो की मान्यता है सब नागरिकों की वह इच्छा जिसका उद्देश्य सामान हित हो, सामान्य इच्छा कहलाती है। " यह सब व्यक्तियों में से आनी चाहिए तथा सब व्यक्तियों पर लागू होनी चाहिए।" सामान्य इच्छा की व्याख्या करते हुए

बोसान्के ने कहा है कि "सामान्य इच्छा संपूर्ण समाज के सामने किया सभी व्यक्तियों की इच्छाओं का समूह होता है जिनका लक्ष्य समान हित हो।"**ग्रीन** के अनुसार यह " सामान्य हित की सामान्य चेतना है।" अतः सामान्य इच्छा की कोई सर्वमान्य परिभाषा नहीं है । यह एक भाव है जो समझाजा सकता है, लेकिन व्यवहार में नहीं लाया जा सकता।किसी इच्छा को सामान्य इच्छा होने के लिए आवश्यक है कि वह सामान्य व्यक्तियों की इच्छा हो और उसका आधार सामान्य हित हो ।अर्थात सामान्य इच्छा के दो अंग है-

प्रथम ,समान्य व्यक्तियों की इच्छा और**द्वितीय** ,सम्मानित पर आधारित विवेकशील इच्छा।

4.4.7.4 सामान्य इच्छा का निर्माण

प्रत्येक व्यक्ति में दोनों प्रकार की - यथार्थ और आदर्श इच्छाएं होती है। समाज का प्रत्येक व्यक्ति हर सार्वजनिक प्रश्न पर अपने ढंग से विचार करता है, लेकिन यदि समाज सभ्य है और उसमें नागरिकता की भावना मौजूद है तो व्यक्तियों की इच्छाओं की स्वार्थपूर्ण तत्व एक-दूसरे को नष्ट कर देते हैं और ऐसा हो जाने पर समान इच्छा बन जाती है ।दूसरे शब्दों में, व्यक्ति में स्वार्थी और सामाजिक इच्छाओं का प्रयास विरोध होता है। जब स्वार्थी इच्छाएं नष्ट नहीं होत जाती है तो सामाजिक इच्छाएं शेष रहती हैं ।सभी व्यक्तियों की इन समाजिक इच्छाओं के मिश्रण से सामान्य इच्छा का निर्माण होता है ।

सामान्य इच्छा तीन दृष्टियों से सामान्य होने चाहिए ।

1. उद्गम की दृष्टि से -इसमें सब नागरिकों की सहमति होनी चाहिए ।
2. क्षेत्र की दृष्टि से – यह राज्य की समस्त जनता से संबंधित होनी चाहिए।
3. ध्येय की दृष्टि से- यह समाज के हित के अनुकूल होनी चाहिए ।

4.4.7.5 सामान्य इच्छा की विशेषताएं

रूसो की सामान्य इच्छा संबंधी धारणा की निम्नलिखित विशेषताएं हैं

- **अखंडता**

  सामान्य एक संगठित इकाई होती है और उसके कोई खंड नहीं हो सकता ।यह अखंड है क्योंकि सामान्य होने के कारण यह कई अंशों में विभाजित नहीं की जा सकती है ।यह एकत्व वाली होती है तथा राज्य को एकता के सूत्र में पिरोती है । रूसो ने कहा है "सामान्य इच्छा राष्ट्रीय चरित्र में एकता उत्पन्न करती है और उसे स्थिर रखती है।"

- **संप्रभुता**

  सामान्य इच्छा सर्वोच्च और संप्रभु होती है। इस पर किसी प्रकार की देवी और प्राकृतिक नियमों का प्रतिबंध नहीं होता ।यही कानून का निर्माण करती है, धर्म का निरूपण करती है और नैतिक और सामाजिक जीवन को संचालित करती है ।रूसो के शब्दों में,"जो कोई सामान्य इच्छा का पालन नहीं करता , वह आज्ञा पालन के लिए समस्त समाज द्वारा बाध्य किया जा सकता है ।इसका अर्थ इससे अधिक कुछ नहीं है कि उसे स्वतंत्र होने के लिए बाध्य किया जाए।"

- **अदेयता**

  सामान्य इच्छा अदेय है अर्थात यह इच्छा किन्ही व्यक्तियों को हस्तांतरित नहीं की जा सकती है । जिस प्रकार किसी व्यक्ति के शरीर से उसके प्राण को पृथक नहीं किया जा सकता है ,उसे किसी दूसरे व्यक्ति को नहीं दिया जा सकता ,वैसे ही प्रभुसत्ता को सामान्य इच्छा से अलग करना संभव नहीं है।

- **अप्रतिनिधित्व**

  सामान्य इच्छा प्रतिनिधियो द्वारा अभिव्यक्त किए जाने योग्य नहीं है। रूसो ने कहा कि जब कोई राष्ट्र प्रतिनिधियों को नियुक्त करता है तब स्वतंत्र नहीं रह जाता, अपना अस्तित्व कायम नहीं कर सकता। उसके अनुसार तो संसद के सदस्यों के केवल निर्वाचन के समय ही इंग्लैंड की जनता स्वतंत्र होती है, निर्वाचनों के बाद जनता दास और नगण्य बन जाती है। वस्तुतः रूसो प्रत्यक्ष लोकतंत्र का उपासक है, इसमें सब व्यक्ति अपनी इच्छा को स्वमेव अभिव्यक्त करते हैं।

- **अचूक**

  सामान्य इच्छा अचूक है, क्योंकि यह सभी व्यक्तियों की आदर्श इच्छाओं का सामूहिक रुप है इसलिए वसदा न्यायसंगत है और उचित है।

- **स्थायी**

  सामान्य इच्छा किसी प्रकार से भावात्मक आवेगो, आवेगों या सनक का परिणाम नहीं होती बल्कि मानव के जनकल्याण की स्थायी प्रवृत्ति और विवेक का परिणाम होती है। व्यक्तियों के विवेक पर आधारित होने के कारण उसमें परिवर्तन नहीं होता।

- **लोक कल्याणकारी**

  सामान्य इच्छा की एक अत्यंत महत्वपूर्ण विशेषता उसका लोक कल्याणकारी होना है।सामान्य इच्छा का लक्ष्य समाज के किसी अंग का कल्याण ना होकर संपूर्ण समाज का कल्याण होता है।

- **विवेक पर आधारित**

  सामान्य इच्छा किसी प्रकार की भावनाओं पर नहीं बल्कि तर्क और विवेक पर आधारित होती है।यह हमेशा उचित और सही होती है क्योंकि हमेशा पूरे समाज के कल्याण से प्रेरित होती है।

- **कानून द्वारा अभिव्यक्त**

  रूसो की सामान्य इच्छा समान्य कानून द्वारा अपने को व्यक्त करती है , किसी अन्य माध्यम द्वारा नहीं।

- **निरंकुश**

  सामान्य इच्छा सर्वोच्च व निरंकुश होती है इसके ऊपर समाज की कोई अन्य शक्ति नहीं हो सकती।इसकी आज्ञा का पालन सबके के लिए अनिवार्य है।

4.4.7.6 रूसो के सामान्य इच्छा सिद्धांत की आलोचना

रूसो की सामान्य इच्छा का सिद्धांत राजनीतिक दर्शन के सर्वाधिक विवादास्पद विषयों में से एक है।इस सिद्धांत में कतिपय गंभीर दोष है ,जो इस प्रकार है-

- **सिद्धांत की अस्पष्टता**

  सामान्य इच्छा का सिद्धांत और अस्पष्ट है।कभी रूसो कहता है कि सामान्य इच्छा और सभी की इच्छा में महान अंतर है, कहीं-कहीं पर उसने बहुमत की इच्छा को ही सामान्य मान लिया है।बहुत कुछ तो रूसो ने भावेश में आकर लिख दिया जो तर्क की दृष्टि से युक्ति-संगत नहीं।उसकी सामान्य इच्छा का सिद्धांत में पग-पग पर अस्पष्टता,विरोधाभास तथा अंतर्विरोध भरा पड़ा है

।वेपर के अनुसार,"जब रूसो ही हमको सामान्य इच्छा का पता नहीं दे सका तो इस सिद्धांत के प्रतिपादन का लाभ ही क्या है?रूसो ने हमें ऐसे अंधकार में छोड़ दिया है जहां हम समान्य इच्छा के बारे में अच्छी तरह सोच भी नहीं सकते।

- **सामान्य इच्छा अनैतिहासिक तथा काल्पनिक है**

  रूसो की **'सामान्य इच्छा'** उसकी काल्पनिक उड़ानइतिहास में इस प्रकार के समझौते का वर्णन नहीं मिलता जैसा रूसो ने चित्रित किया है।

- **यथार्थ और आदर्श इच्छा का काल्पनिक भेद**

  रूसो ने व्यक्ति की इच्छाओं को दो भागों में बांटा है – यथार्थ इच्छा तथा आदर्श इच्छा।वास्तव में इच्छाओ का इस प्रकार का विभाजन संभव नहीं। व्यक्ति की इच्छा ऐसी जटिल, पूर्ण ,अविभाज्य समष्टि है उसका यह विभाजन संभव नहीं है।

- **सामान्य इच्छा निरंकुशता को प्रोत्साहन देती है**

  सामान्य इच्छा अधिनायकवाद तथा सर्वाधिकारवाद को प्रोत्साहन देती है। रूसो कहता है कि कानून इस सामान्य इच्छा के द्वारा ही बनाए जाते हैं ।सामान्य इच्छा के नाम परशासक द्वारा व्यक्ति पर मनमाने अत्याचार किए जा सकते हैं। जोन ने लिखा है कि "रूसो सामान्य इच्छा विषयक सिद्धांत में कुछ ऐसे अस्थिर तत्व है जो उसे जनतंत्र के समर्थन से हटाकर निरंकुश शासन के समर्थन की ओर ले जाते हैं।"

  वाहन के अनुसार , "रूसो की सामान्य इच्छा का सिद्धांत **हॉब्स का सिरविहीन लेवायथन** है।"

- **सार्वजनिक हित की परिभाषा करना कठिन**

  सामान्य इच्छा का विचार सार्वजनिक हित के विचार पर आधारित है ,लेकिन सार्वजनिक हित के विचार पर आधारित है , लेकिन सार्वजनिक हित की परिभाषा करना अत्यंत कठिन है। एक निरंकुश तानाशाह भी अपने कार्यो को सार्वजानिक हित के नाम पर उचित ठहरा सकता है।

- **सामान्य इच्छा व्यक्ति की महत्ता को नष्ट कर देती है**

  सामान्य इच्छा से व्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन होता है। सामान्य इच्छा के सामने व्यक्ति की इच्छा को कोई महत्व नहीं दिया गया है। रूसो सामान्य इच्छा की अवज्ञा करने वाले को इसके के पालन लिए बाध्य करता है ।इसी प्रकार का तर्क सेबाईन ने दिया है "रूसो के दर्शन में और उसके बाद ही हीगल के दर्शन में संदिग्ध शब्दजाल के साथ एक खतरनाक परीक्षण है।

- **छोटे राज्यों में ही सफल**

  सामान्य इच्छा का सिद्धांत केवल छोटे राज्यों के लिए उपयुक्त हो सकता है क्योंकि यहां पर जनसंख्या के कम होने पर सामान्य इच्छा का पता आसानी से लगाया जा सकता है ।आधुनिक युग के बड़े राज्यों में जिनकी बड़ी संख्या में विभिन्न प्रकार के जनसमूह निवास करते हैं, सामान्यतः हित पर आधारित इच्छा का पता लगाना कठिन ही नहीं असंभव है ।अतः बड़े राज्यों के लिए उपयुक्त नहीं है।

- **प्रतिनिध्यात्मक प्रजातंत्र में संभव नहीं**

  रुसों का विचार है कि सामान्य इच्छा की सिद्धि के लिए सभी व्यक्तियों द्वारा प्रत्यक्ष रुप से प्रभुसत्ता के प्रयोग में सक्रिय भाग लिया जाना चाहिए। इस शर्त का पालन प्राचीन यूनानी नगर

राज्य में भले ही संभव हो , आधुनिक समय के प्रतिनिध्यात्मक लोकतंत्रो में कतई संभव नहीं हो सकता। रूसो द्वारा प्रतिनिधित्व के सिद्धांत का यह तिरस्कार अंतिम रूप में लोकतंत्र का ही तिरस्कार हो जाता है क्योंकि वर्तमान समय में प्रतिनिध्यात्मक शासन ही लोकतंत्र का एकमात्र व्यवहारिक रुप है।

4.4.7.7 सामान्य इच्छा सिद्धांत का महत्व

विभिन्न दोषों के उपरांत भी रूसो का सामान्य इच्छा का सिद्धांत राजनीतिक विचारों के क्षेत्र में असाधारण महत्व रखता है।

- सामान्य इच्छा का विचार लोकतंत्र का पोषक है क्योंकि यह प्रभुसत्ता का आधार जनस्वीकृति मानता है।
- इसने यह प्रतिपादित किया कि राज्य का उद्देश्य किसी वर्ग विशेष का नहीं ,बल्कि समूचे समाज का कल्याण और जनता का हित संपादन करना होना चाहिए, सामाजिक और समान्य हित वैकल्पिक हितों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ और उत्कृष्ट है।
- रूसो के सिद्धांत ने आदर्शवादी विचारधारा को प्रेरणा प्रदान की है क्योंकि इसमें यह प्रतिपादित किया कि 'शक्ति नहीं बल्कि इच्छा राज्य का आधार है।'
- यह सिद्धांत व्यक्ति तथा समाज में शरीर तथा उसके अंगों के समान संबंध स्थापित करके सामाजिक स्वरूप को सुदृढ़ करता है।
- यह सिद्धांत यह भी घोषित करता है कि राज्य कृत्रिम ना होकर एक स्वाभाविक संस्था है।

संक्षेप में **रूसो** का सामान्य इच्छा सिद्धांत राज्य के आंगिक स्वरूप का बोध कराता है और सार्वजनिक हितों को वैयक्तिक हितो की अपेक्षा उत्कृष्ट मनाता है। रूसो ने स्पष्ट कर दिया कि लोकतांत्रिक संरचना ही लोकतंत्र की आत्मा नहीं होती ।नैतिकता, न्याय और सद्गुण के अभाव में लोकतांत्रिक संस्थाएं महत्वहीन है। राजनीतिक चिंतन के सैद्धांतिक इतिहास में ही नहीं बल्कि व्यावहारिक राजनीति पर भी रूसो की सामान्य इच्छा के सिद्धांत का गंभीर प्रभाव पड़ा है ।यदि किसी व्यक्ति को फ्रेंच क्रांति के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सकता है तो वह रूसो ही है ।उसके ग्रन्थ न केवल फ्रेंच क्रांतिकारियों के लिए, बल्कि उसके बाद यूरोप के अन्य देशों में होने वाली क्रांतियों के लिए प्रबल प्रेरणा का स्रोत रहे हैं।

4.4.8 रूसो की प्रभुसत्ता सम्बन्धी धारणा

रूसो ने संप्रभुता को सामान्य इच्छा में निहित माना है। बोंदा तथा हॉब्सने प्रभुसत्ता के विचार से राजा की निरंकुशता सत्ता को पुष्ट किया था , रूसो की यह विशेषता है कि उसने इससे जनता की सत्ता का समर्थन किया। रूसो के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति सम्प्रभुता का भागीदार है, अतः संप्रभुता सम्पूर्ण समाज में निहित है , वह सर्वोच्च शक्ति है। उसके विरुद्ध किसी को भी विद्रोह करने का अधिकार नहीं है। वस्तुतःरूसो ने जनता की सत्ता का प्रतिपादन करके **'लोकप्रिय संप्रभुता के सिद्धांत'** का प्रतिपादन किया।

रूसो के प्रभुसत्ता की निम्न विशेषताएं है –

- पहली विशेषता अविच्छेद्यता है। चूँकि सामान्य इच्छा के रूप में यह जनता में रहती है, अतः यह कभी उससे पृथक नहीं हो सकती है।

- दूसरी विशेषता इसका प्रतिनिधित्व न हो सकना है। चूँकि यह जनता में सामूहिक रूप से निवास करती है, अतः कोई भी व्यक्ति इसका समूचे रूप में कभी प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता है।
- तीसरी विशेषता इसका असीम और अमर्यादित होना है अर्थात इस पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं लगाये जा सकते है।
- चौथी विशेषता इसका सब कानूनों का मूल स्रोत होना है अर्थात राज्य के सब कानून इससे ही उत्पन्न होते है।
- पांचवी विशेषता अविभाज्यता है अर्थात समूची जनता में इसका निवास होने के कारण इसका विभाजन संभव नहीं है।

4.4.8 रूसो के शासन सम्बन्धी विचार

रूसो ने राज्य और शासन (सरकार) में स्पष्ट अंतर किया है। सामाजिक समझौते से जो निकाय बनता है उसे वह राज्य कहकर पुकारता है। इस सम्प्रभु निकाय की इच्छा को क्रियात्मक रूप नहीं अपितु संप्रभुता संपन्न इच्छा के अनुसार सीमित, नियंत्रित और परिवर्तित कर सकता है।

रूसो के शब्दो में, " राज्य प्रभुत्व शक्ति संपन्न और सर्वोच्च है जबकि सरकार सम्प्रभु राज्य तथा प्रजाजनों के मध्य निर्मित वह संगठन है जो उनके पारस्परिक संबंधो का नियमन करता है, संप्रभु द्वारा निर्मित कानून को लागू करता है जो उनके पारस्परिक संबंधो का नियमन करता है, संप्रभु द्वारा निर्मित कानून करता है तथा राजनीतिक और नागरिक और नागरिक स्वतंत्रता को बनाये रखता है।"

रूसो के अनुसार सरकार का काम केवल शासन करना है, कानून बनाने का कार्य सम्पूर्ण प्रभुत्व संपन्न विधायिका का है। सरकार सम्प्रभु जनता की सेवक मात्र है और वह सम्प्रभु द्वारा दी गयी शक्तियों का प्रयोग कर सकती है। जनता अपनी इच्छानुसार उसकी शक्ति को मर्यादित या संशोधित कर सकती है या चाहने पर उसे वापस भी ले सकती है।

4.4.9.1 शासन का वर्गीकरण

रूसो ने चार प्रकार की शासन प्रणालियाँ मानी है – राजतन्त्र,कुलीनतंत्र, प्रजातंत्र और मिश्रित शासन। उसने व्यवहारिक कारणों से लोकतंत्र की आलोचना की है।वह प्रतिनिध्यात्मक लोकतंत्र घोर विरोधी था। उसका झुकाव प्रत्यक्ष लोकतंत्र की ओर है और इसलिए वह प्रतिनिध्यात्मक लोकतंत्र को सच्चा लोकतंत्र नहीं मानता। इंग्लैण्ड के सम्बन्ध में उसकी राय थी कि उसकी जनता निर्वाचन के समय ही स्वतंत्र होती है , शेष अवधि में वह दासता की स्थिति में रहती है। रूसो जनतंत्र की भी आलोचना करता है क्योंकि उसमे उत्तराधिकार की समस्या बनी रहती है। वह कुलीनतंत्र को श्रेष्ठ शासन प्रणाली मानता है। उसने कुलीनतंत्र के तीन प्रकार माने है। प्राकृतिक , वंशानुगत तथा निर्वचनात्मक। निर्वाचित कुलीनतंत्र को वह सर्वोत्तम शासन व्यवस्था कहता है।

रूसो शासन की सफलता की कसौटी जनसंख्या में वृद्धि मानता है। उसके अनुसार जनसँख्या की वृद्धि राष्ट्र की प्रगति की परिचायक है। वह शासन की शक्तियों के खिलाफ था। उसकी इस धारणा से कि निश्चित अवधि के बाद सविंधान पर पुनर्विचार करने के लिए लोकसभायें बुलायी जाएँ , सविंधान सभाएं बुलाने की प्रथा प्रारंभ हुई।

4.4.10 रूसो और हॉब्सके राजदर्शन में निरंकुशतावाद के तत्व

समझौतावादी विचारको में हाब्स,लॉक तथा रूसो का नाम उल्लेखनीय है। इन्हें राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में सामाजिक समझौता सिद्धांत की नवीन परंपरा को विधिवत जन्म देने और विकसित करने का श्रेय जाता है। यद्यपि समाजिक समझौते के विचार का वर्णन प्राचीन तथा मध्ययुगीन विचारको के द्वारा भी किया गया था ,लेकिन इसे एक सिद्धांत की तरह तार्किक रूप से प्रतिपादिन का श्रेय हाब्स,लॉक तथा रूसो को ही प्राप्त है।

4.4.10.1 हॉब्सके राजदर्शन में निरंकुशतावाद का तत्व

हॉब्सने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ **लेवियाथन** में अपने सामाजिक समझौता सिद्धांत संबंधी चिंतन का प्रतिपादन किया ।इस पुस्तक का प्रकाशन 1651 में हुआ ।बाइबल के अनुसार यह लेवियाथन एक समुद्री राक्षस है ,लेकिन हॉब्सइस का प्रयोग प्राकृतिक दशा की अराजकता और मत्स्य न्याय का अंत करने की दृष्टि से मनुष्य द्वारा किए गए समझौतों से उत्पन्न होने वाली संपूर्ण प्रभुसत्ता संपन्न राजशक्ति के लिए करता है ।उसने अपने ग्रंथ के मुख्यपृष्ठ पर इसे सब मनुष्यों से मिलकर बनने वाले एक विराट पुरुष या महामानव के रूप में चित्रित किया है ।महामानव या लेवियाथन की सारी देह छोटे छोटे मनुष्यों से भरी है जो यह सूचित करती है कि सबने इसे अपने अधिकार देकर सामाजिक समझौते से संपूर्ण प्रभुसत्ता संपन्न लेवियाथन का निर्माण किया है ।मुखपृष्ठ के ऊपरी आधे हिस्से में यह दिखाया गया है कि एक सुव्यवस्थित रीति से बसाए गए नगर और पहाड़ के पीछे लेवियाथन के रूप में मुकुट मंडित दाएं हाथ में तलवार तथा बाएं हाथ में धर्मदण्ड धारण किए हुए हैं महामानव खड़ा हुआ है ।इसका यह अर्थ है कि शासन और धर्म दोनों क्षेत्र में उसेसर्वोच्च अधिकार प्राप्त है।

4.4.10.2 रूसो की राजदर्शन में निरंकुशतावाद के तत्व

राजदर्शन में रूसो को स्वतंत्रा,व्यक्तिवाद, जन संप्रभुता और लोकतंत्र का प्रतिनिधि विचारक माना जाता है, लेकिन यह आश्चर्य की बात है कि अपनी 'सामान्य इच्छा' के सिद्धांत द्वारा जन संप्रभुता का समर्थन करते करते उसका चिंतन निरंकुशतावाद में परिवर्तित हो जाता है। रूसो ने अपने प्रसिद्ध पुस्तक 'सोशल कॉन्ट्रैक्ट' में मानव स्वभाव का चित्रण करते हुए आदिम मनुष्य को पशुतुल्य, निष्पाप और आदर्श बर्बर बताया है ।उसे नैतिकता के विचारों से सहित सहज भावना से काम करने वाला बुद्धिहीन प्राणी कहा है। रूसो के अनुसार प्राकृतिक अवस्था वर्तमान मनुष्य की सभ्य सामाजिक अवस्था से कहीं अधिक अच्छी थी ।इस अवस्था में मनुष्य एकाकी, स्वतंत्र, संपत्ति और परिवार से रहित स्वर्गीय अवस्था में रहता था।उसका जीवन वनचर जैसा था, लेकिन यह स्थिति अधिक दिनों तक नहीं रही। संपत्ति रूपी सर्प ने इसमें प्रवेश किया और प्राकृतिक अवस्था की सुख-शांति को नष्ट कर दिया ।धनी और निर्धन का भेद उत्पन्न पैदा हुआ अमीरों ने निर्धनों पर अत्याचार और निर्धनों ने अमीरों के विरुद्ध षड्यंत्र करने का प्रारंभ कर दिया ।अंत में इस दुर्व्यवस्था से छुटकारा पाने के लिए व्यक्तियों ने अनुबंध के आधार पर राज्य की स्थापना की ।सभी व्यक्ति एक स्थान पर एकत्रित हुए और उनके द्वारा अपने समस्त अधिकारों का समर्पण किया गया, लेकिन अधिकारों का यह समर्पण किसी व्यक्ति विशेष के लिए नहीं बल्कि मानव समाज के लिए किया गया है ।समझौते के परिणाम स्वरुप वे संपूर्ण समाज की एक सामान्य इच्छा के अंतर्गत रहते हुए कार्य करते हैं। रूसो के अनुसार , "प्रत्येक अपने व्यक्तित्व और अपनी पूर्ण शक्ति को सामान्य प्रयोग के लिए, सामान्य इच्छा के सर्वोच्च निर्देशन के अधीन समर्पित कर देता है तथा एक समूह के रूप में हम में से प्रत्येक व्यक्ति समूह के अविभाज्य अंग के रूप में अपने व्यक्तित्व तथा अपने पूर्ण शक्ति को प्राप्त कर लेता है।"

रूसो के सामाजिक समझौते की समान्य इच्छा पर आधारित प्रभुत्व संपन्न समाज की स्थापना होती है। रूसो की सामान्य इच्छा की विशेषताएं है –**अखंडता, अदेयता, सर्वोच्चता, स्थायित्व**,**निरंकुशता**अदि ।रूसो के सिद्धांत में जनता द्वारा अपने समस्त अधिकारों के समर्पण सामान्यइच्छा को और जनता को किसी भी परिस्थिति में सामान्य इच्छा (राज्य) के विरोध का अधिकार नहीं है। इसलिए **जोन्स** ने कहा है कि,"रूसो के सामान्य इच्छा विषयक सिद्धांत में कुछ ऐसे अस्थिर तत्व है जो उसे जनतंत्र के समर्थन की ओर से हटाकर निरंकुश शासन के समर्थन की ओर ले जाते हैं।" **डाइड** के अनुसार, "रूसो सामान्य इच्छा की आड़ में बहुमत की निरंकुशता का प्रतिपादन तथा समर्थन करता है।"

4.4.10.3 रूसो का प्रभुसत्ताधारी हॉब्स का शीश विहीनलेवियाथन

वाहन के अनुसार,"रुसों का प्रभुसत्ताधारी हॉब्सका लेवियाथन है, जिसका सिर काट दिया गया है ।" स्वयं रूसो ने अपनी पुस्तक **सोशल कांट्रैक्ट** के प्रथम संस्करण के मुख्य पृष्ठ पर कटे सिर वाले लेवियाथन का चित्र दिया था। इसका तात्पर्य है कि हॉब्सने जो निरंकुश सत्ता **राजा** को प्रदान की, रूसो ने वही समस्त जनता या सामान्य इच्छा को प्रदान की है ।

हॉब्सतथा रूसो की प्रभुसत्ता सम्बन्धी धारणा में समानताएं

हॉब्सऔर रूसो के प्रभुसत्ता संबंधी विचार बहुत कुछ सीमा तक एक से है ।सामान्य इच्छा के जो लक्षण रूसो ने बताए है, वे लगभग वैसे ही है जिनका वर्णन हॉब्स ने अपने संप्रभु में किया है ।अंतर केवल यह है कि हॉब्सका संप्रभु एक मानव देव है और रूसो संप्रभु का निवास 'सामान्य इच्छा' में मानता है ।इसलिए **वाहन** का यह कथन ठीक है कि "हॉब्स के मानव देव (**लेवियाथन)** का शीश काट दिया जाए तो वह रूसो की सामान्य इच्छा ही होगी।"

हॉब्सतथा रूसो के प्रभुसत्ताधारी की समानताएं इस प्रकार है–

- हॉब्स की भांति रूसो भी राज्य (सामान्य इच्छा) को निरंकुश मानता है ।
- हॉब्स के लेवियाथन की भांति रूसो की सामान्य इच्छा सर्वोच्च सर्वोच्च और संप्रभु है ।
- हॉब्स के लेवियाथन की भांति सामान्य इच्छा अखंड है, संगठित इकाई है ।
- लेवियाथन की भांति सामान्य इच्छा सदैव न्यायसंगत है और उचित है ।
- लेवियाथन की भांति सामान्य इच्छा के ऊपर समाज की कोई अन्य शक्ति नहीं हो सकती। इसकी आज्ञा का पालन सबके लिए अनिवार्य है ।
- लेवियाथन की भांति सामान्य इच्छा कानूनो और विधियों का मूल स्रोत है ।
- हॉब्सकी भांति रूसो भी इस बात का प्रतिपादन करता है कि राज्य का व्यक्तियों के संपूर्ण जीवन पर अधिकार होता है और व्यक्ति का मूल कर्तव्य राज्य की आज्ञाओं का पालन करना है ।

रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा द्वारा निर्मित कानून के अनुसार आचरण करके ही मनुष्य स्वतंत्र हो सकता है ।इसलिए कहा गया है कि "वह अतिनिरंकुशतावादी है, 19वीं शताब्दी के जर्मन आदर्शवाद का अग्रदूत है।" **कांस्टेंट** ने लिखा है कि,'वह सभी प्रकार के निरंकुश तंत्रों का सबसे भयंकर मित्र है ।

एक दृष्टि से तो रूसो का संप्रभुहॉब्स से भी अधिक निरंकुश है ।हॉब्स राज्य को असीमित शक्ति प्रदान करते हुए व्यक्ति को आत्मरक्षा के अधिकार की हित में राज्य का विरोध करने के लिए स्वतंत्र छोड़ देता है , लेकिन रूसो किसी भी स्थिति में व्यक्ति को राज्य का विरोध करने का अधिकार प्रदान नहीं करता।उसकी दृष्टि में सामान्य इच्छा व्यक्तियों की आदर्श इच्छाओं का प्रतिनिधित्व करती है और

इसलिए वह किसी भी स्थिति में गलत नहीं हो सकती है। स्वयंरूसो के अनुसार,'जिस प्रकार प्रकृति ने मनुष्य के शरीर के विभिन्न अंगों पर पूर्ण नियंत्रण का अधिकार प्रदान किया है उसी प्रकार सामाजिक समझौते ने राजनीतिक सावयव (सामान्य इच्छा) को उसके शरीर के विभिन्न अवयवो (व्यक्तियों) के ऊपर पूर्ण निरंकुश अधिकार प्रदान किये है।"

4.4.11 सारांश

राजनीतिक विचारो के इतिहास में रूसो का नाम अमरहै। वह आम आदमी का भावुक दार्शनिक था,उसे क्रांति का अग्रदूत तथा प्रत्यक्ष प्रजातंत्र का आवारा मसीहा कहा जाता है। सामान्य इच्छा का सिद्धांत,लोकप्रिय संप्रभुता की धारणा ने उसे क्रांति का दूत बना दिया। रूसो स्वतंत्रा का पुजारी था, मगर व्यक्ति को राज्य के खिलाफ अधिकार न दे सका।वह सामान्य हित तथा सामान्य इच्छा का असाधारण दार्शनिक था। उसने लौकिक प्रभुत्व का सिद्धांत दिया, सामान्य हित को व्यक्तिगत हित से महत्वपूर्ण बताया,प्रत्यक्ष प्रजातंत्र का समर्थन किया ,जनता द्वारा कानून बनाने और राजनीति में हिस्सा लेने को उचित ठहराया, राज्य का हित सामान्य हित, राज्य का आधार सामान्य इच्छा बताया और यही उसके प्रगतिशील विचार थे। संपत्ति के बुरे प्रभाव को रूसो ने अच्छी तरह देखा,समाज को गरीब-अमीर में बंटते देखा,मनुष्य के शोषण को बुरा ठहराया ,मगर वह वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अभाव में 18वीं शताब्दी के उभरते हुए पूंजीवादी युग में वर्गसंघर्ष न देख सका और समाज में एकता का खोखला आधार दे कर चला गया।

रूसो का उद्देश्य सत्ता और स्वतंत्रता का तालमेल स्थापित करना था। व्यवहारिकता में वह सत्ता की गोद में स्वतंत्रता को बिलखता छोड़ गया। रूसो के बाद आने वाले तानाशाहों ने रूसो का दुरूपयोग किया, जिन्होंने जनता के हित की दुहाई देते हुए, अनुशासन ,शंतिव्यवस्था आदि के नाम पर अपनी इच्छा को सामान्य इच्छा बताते हुए नागरिको के अधिकारों को समेट कर अपनी शक्ति की भूख मिटाई।

4.4.12 अभ्यास /बोधात्मक प्रश्न

4.12.1 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

- रूसो को आधुनिक प्रजातंत्र का अग्रदूत क्यों माना गया?
- "रूसो की राजनीतिक विचारधारा में व्यक्तिवाद,समाजवाद, निरंकुशतावाद तथा लोकतंत्र के बीज विद्यमान है।"स्पष्ट कीजिये।
- रूसो के सामान्य इच्छा को स्पष्ट कीजिये।
- राज्य की उत्पति के सम्बन्ध में रूसो के विचारो की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।
- "रूसो का प्रभुस्ताधारी हॉब्सका लेवायथन है जिसका शीष काट दिया गया।"स्पष्ट कीजिये।

4.4.12.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

- रूसो ने सामान्य इच्छा की पृष्ठभूमि में कौन सी दो इच्छाएं बतायी है ?
- रूसो अपने सामाजिक समझौते के आधार पर किस प्रकार की संप्रभुता को जन्म देता है ?

- सामान्य इच्छा की परिभाषा दीजिये।
- सामान्य इच्छा के सर्वप्रमुख लक्षण क्या है ?
- रूसो की रचनाओं पर प्रकाश डालिए।

4.4.12.3 बहुविकल्पीय प्रश्न

1. जीन जैक्स रूसो का जन्म कहाँ हुआ था -

(अ) जेनेवा

(ब) पर्थ

(स) मिस्र

(द) हालैंड

2. रूसो ने गीतिकाव्य कब लिखा-

(अ) 1741

(ब) 1746

(स) 1749

(द) 1754

3.रूसो की महानतम पुस्तक कौन सी है -

(अ)दी एमाइल

(ब) डायलाग्स

(स) कान्फेसंस

(द) लॉक नोबेल हेलाइज

4.रूसो ने कितने प्रकार के सरकारों का वर्णन किया है -

(अ) 4

(ब) 7

(स) 9

(द) 5

5. किसके अनुसार पुरोहित धर्म वह धर्म है जो पुरोहितो और पादरियों द्वारा सम्पन्न किया जाता है -

(अ) हॉब्स

(ब)रूसो

(स) मेकियावेली

(द) लॉक

4.12.4 बहुविकल्पीय प्रश्नो के उत्तर

1. (अ) जेनेवा

2.(ब) 1746

3. (अ) दी एमाइल

4. (अ) 4

5. (ब)रूसो

4.4.13 कठिन शब्द

सिरमौर–सबसे ऊपर
संगतराश– पत्थर गढ़ने वाले
चतुर्दिक– चारो ओर

4.4.14 संदर्भ ग्रंथ सूचि

- डा. अनूप चंद कपूर , प्रिंसिपल ऑफ़ पोलिटिकल साइंस,1950 ,एस. चंद एवं कम्पनी प्राइवेट लिमिटेड, राम नगर ,नई दिल्ली,आईएसबीएन-978-81-219-0276-2
- डा. बी. एल. फड़िया, पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन ,साहित्य भवन पब्लिकेशन ,आगरा ,1992 , आईएसबीएन-978-93-5173-312-6
- डा. आर.के.आनंद,डा. जीवन महता, डा. एन. डी.अरोड़ा,राजनीति विज्ञान के सिद्धांत ,साहित्य भवन पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.)लि.,2007
- जीवन महता, राजनीतिक चिंतन का इतिहास, साहित्य भवन पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.)लि.,2008 ,आईएसबीएन-978-93-5073-409-9
- डा. भूपेश मणि त्रिपाठी, राजनीतिक सिद्धांत,स्व प्रकाशित ,2013, आईएसबीएन-978-93-5087-469-1
- डा. पुखराज जैन,राजनीतिक चिंतन का इतिहास,2006, साहित्य भवन पब्लिकेशन,आगरा, आईएसबीएन-81-7288-031-6
- डा. सुरेश चन्द्र सिंहल, प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल पब्लिकेशन, आगरा
- डा. जे.सी. जौहरी,राजनीति विज्ञान,एस बी पी डी पब्लिकेशन,आगरा आईएसबीएन-978-93-5167-451-1
- जीवन महता, पाश्चात्य राजनीतिक चिंतक ,2012 ,एस बी पी डी पब्लिशिंग, आगरा
- एडी आशीर्वादम,कृष्णकांत मिश्र,राजनीति विज्ञान 2016, एस. चन्द एंड कंपनी (प्रा.) लिमिटेड, रामनगर ,नई दिल्ली ,आईएसबीएन-978 -81-219-0896-2